
संचयिता
केदारनाथ अग्रवाल

संपादक
डॉ. अशोक त्रिपाठी

संचयिता
केदारनाथ अग्रवाल

महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा
के लिए प्रकाशित

अनुक्रम

संपादकीय		11-72
कविता		73-268
उसके अंगों के छूने की	75	चन्द्रगहना से लौटरी बेर 95
दोपहरी में नौका-विहार	75	जिस दिन जिस क्षण 98
प्रागराज में	76	मैंने प्रेम अचानक पाया 98
मेरी कविताएँ	77	बसन्ती हवा 98
प्रभात	77	कानपुर 100
आदि शक्ति मैं	78	मछुआहे 102
बाप बेटा बेचता है	79	वीरांगना 102
आजाद खून के दौरों से	79	टूटें न तार तने जीवन सितार के 103
जनता	80	खेत का दृश्य 103
एका का बल	81	मिल मालिक 104
हम उजाला जगमगाना चाहते हैं	82	खेतिहर 104
न मारौ नजरिया	83	कमकर 105
क्या लाये!	83	शपथ 106
घन-जन	84	भोर होवे 108
धरती	84	चिड़ीमार 108
कटुई का गीत	86	गेहूँ 109
रनिया	87	गुम्मा ईंट 110
राष्ट्रीय प्रतिध्वनि	88	गर्ग नाला 110
डाँगर	89	स्टैचू 111
वरदान	90	यदि आयेगा डालर 112
देवमूर्ति	90	नेता 113
चित्रकूट के बौद्ध यात्री	91	जो शिलाएँ तोड़ते हैं 114
दीन कुनबा	92	जन-क्रांति 115
बुन्देलखण्ड के आदमी	92	मोरचे पर 115
पैतृक सम्पत्ति	93	फगुआ का व्यंग्य 117
मैं धूमूँगा केन किनारे	94	जिन्दगी 117
बैठा हूँ इस केन किनारे	94	आग लगे इस राम-राज में 121

हम तौ उनका वोट न देबै	122	जब तब	145
चुनाव मोरचे की अन्त्याक्षरी	124	हथौड़े का गीत	145
रोटी	125	पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा	146
किसानी गाना	125	झंडा नहीं ऊपर उठा है	147
नव जागरण	126	दोषी हाथ	148
मुक्त युवती	127	वह जन मारे नहीं मारेगा	148
साथी	127	छोटे हाथ	149
आह! नहीं तुम आ पाती हो	128	पूँजीपति और श्रमजीवी	151
दरोगा की दुलहिन	128	किसान से	153
आँखों से हँसती है जैसे किरातनी	129	110 का अभियुक्त	154
अभिशाप जग का	130	गाँव का महाजन	157
सूर्योदय	130	प्रात-चित्र	157
आँख दुखों से आँज रही है	131	तेज धार का कर्मठ पानी	158
घर का अनुभव	132	लेखकों से	158
कर्जे की मार	133	लौह का घन गल रहा है	159
बार बार प्यार दो	133	हारा हूँ सौ बार गुनाहों से	
वास्तव में	133	लड़-लड़ कर	160
मजदूर का जन्म	134	शक्ति मेरी बाहु में हैं	160
धनाभाव में	134	नागार्जुन के बाँदा आने पर	161
कंचन किरणों	137	हम	166
जैसी तुम मेरी हो, वैसे रात मेरी है	138	धीरे उठाओ मेरी पालकी	167
मानव के अग्रज	138	नाव मेरी पुरइन के पात की	168
ब्याही-अनब्याही	138	माँझी न बजाओ वंशी	168
हवा पहनकर तुम चलती हो	139	धूप का गीत	169
किरन गोद में लिए खड़ी है,		तू जल गहरी भरी नदी है	169
वत्स शिशिर को	139	हम न रहेंगे	170
मोची	140	केरल	170
मैं नहीं लचा	141	आज नदी बिलकुल उदास थी	171
वे किशोर नयन	141	संगमरमर का सबेरा और हम	171
आँखों देखा	142	लिपट गयी जो धूल पाँव से	172
तिय हैं	143	बच्चे की आँखों का काजल	172
वे उरोज दो	143	कंकरीला मैदान	172
बालक ने	143	धूप नहीं यह	173
दौड़ने दो धूप में	144	यह जो नाग	174
फूल-सी कोमल उँगलियाँ	144	सुआपंखी घाम पहने पेड़ वन के	174
एक खिले फूल ने	144	जब तुम अपने केश खोलकर	174

दीप की लौ—से दिन	175	दिन है कि हंस हलाहल पर	193
और शीशा मुस्कराया	175	दिन अच्छा है	193
सितार-वादन सुनते हुए	176	रची उषा ने ऋचा दिवा की	194
बच्चे और मैं	177	निर्बल और बलीन	194
वह चिड़िया जो	178	न टूटो तुम	195
रेत मैं हूँ जमुन जल तुम	178	अब आयी चंचला शरण में	195
धूप चुराए गेंदा	179	तड़पती केन	196
ढेर लगा दिये हैं हमने	179	अब भी है कोई चिड़िया	196
सारंगी सुनकर	180	हल चलते हैं फिर खेतों में	196
धूप	180	जवान दिन	197
मेरे देश, तुम्हारी छाती की मिट्टी		हम जियें न जियें दोस्त	197
मैं हो जाऊँगा	181	चोली फटी	197
किसान स्तवन	181	वह कवि था	198
मार देखो	182	वरदवीणा हुई दीना	198
गाया हुआ गीत	183	सुभटकाय मेघों का संघट	199
नीम के फूल	184	ओ पिकासो की पुत्रियो	199
वसन्त आया	184	धूप पिये पानी लेटा है	200
हो न हो तुम्हें	185	चली गयी है कोई श्यामा	200
तुम मुझे कुछ न दो	185	जल रहा है	200
समुद्र वह है	186	हरी घास का बल्लम	201
सबसे आगे	186	मजदूरिन	201
शब्दों की कतार के पीछे	187	मैं पहाड़ हूँ	202
तुम्हारे उरोजों का सोना	187	अपने मन की बात	202
केन किनारे पत्थी मारे	188	चम्मचों से नहीं	203
नदी एक नौजवान ढीठ लड़की है	188	‘फूल नहीं रंग बोलते हैं’ के	
तुम	189	प्रकाशनोत्सव पर	203
इकला चाँद	189	सदेह सौंदर्य का समारोह	204
अकथ्य को हमने कहा नहीं	190	मैं उसे खोजता हूँ	205
दल बँधा मधुकोष गंधी	190	पेड़ का हाथ	205
दिन अब भी गरम और गुदगुदा		एक बच्चा हँसा	205
होता है	190	डॉ० रामविलास शर्मा के बाँदा	
अमृता शेरगिल के चित्र को देखकर	191	आने पर	206
नदी	192	न बुझी आग की गाँठ है सूरज	207
खिला है अग्निम प्रकाश	192	झूठ मरे तो कैसे	208
रथ दौड़ते हैं रंगीन फूलों के	192	खफ्त है मुझे आदमी होने का	209
आस्था का शिलालेख	193	बजी रूप-रस की शहनाई	209

मिट मिट कर मैं सीख रहा हूँ	ड10	भीतर की लौ साधे	238
सच	211	माली कैची लिए	238
कनबहरे	211	दहका खड़ा है सेमल का	
जी के काम किये जीने में	212	पुरनिया पेड़	239
मीनाकुमारी की मृत्यु पर	212	पछाड़ते-पछाड़ते	239
अहिंसा	213	मुझे न मारो मान-पान से	240
चिड़िया मारी ने चिड़िया मारी	213	वाक्य पूरा कर रहा हूँ	241
काल कलूटा बड़ा क्रूर है	214	गठरी-चोरों की दुनिया में	241
अपनी बात	215	मैं समय की धार में धँस कर	
चढ़ी जवानी	215	खड़ा हूँ	242
सब चलता है लोकतंत्र में	216	फूलों की बौछार	242
देश की राजनीति	216	जीने का दुख	243
मँहगाई	217	गुलाब	243
महोबे की बोली	218	इनको घमंड है	243
हम और लोग	218	खड़ा पहाड़ चढ़ा मैं	244
धूप की तलवार	219	मैंने आँख लड़ाई गगन विराजे	
दिन, नदी और आदमी	219	राजे रवि से	245
संत कवीश्वर तिरुवल्लुवार के प्रति	220	फटा अँधेरा फूहड़ फैला	245
अहंखोजी	222	भूखोद्धार का मंत्रोच्चार	246
कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह	223	अल्हड़ गिलहरी	246
और का, और मेरा दिन	224	ढूँढ़ते लोग कचहरी में ढूँढ़ते	
पिता मेरु और बेटी सरिता	224	हैं मुझे	247
लोगों का जीवन	225	गुलमोहर	248
फिर से मुक्त हुआ जन-मानस	225	मेरे मन की नदी	249
वसंत में	227	मैं ही गुरू—मैं ही चेला हूँ	249
प्यार का प्रवाल द्वीप	227	देश के भीतर	249
देश में लगी आग को	228	बूढ़ा पेड़ बयार बसंती	250
सूरज जनमा	228	जग सोया जागी गंधाली	250
आयोग	229	सूर्य नहीं डूबता साहब!	251
अंडे पर अंडा	229	आये हो तो	251
मारुत मन के बहके	230	टिके टेक पर स्वाँग सँवारे	252
लड़ गये	230	शब्दों का अतिक्रमण करो	253
पानी	236	तन टूटा मन टूटा लेकिन	253
न घास है	236	मेरी कविताएँ गायेगी जनता सस्वर	253
हम मिलते हैं बिना मिले ही	237	छोड़ो परम अलौकिक छोड़ो	254
आयें दिन	237	दुख ने मुझको जब जब तोड़ा	255

मौन पड़ी हैं प्रिया प्रियम्बद	255	आदमी की चाँदमारी	262
खम्भ फाड़कर जीना है	256	फूलों की होली	262
मैं समय को साधता हूँ	256	कैद होकर भी नहीं मैं कैद हूँ	263
आई माँ की याद	257	बागी घोड़ा	264
जाओ लेकिन आत्मगंध दे जाओ	258	आँख खुली, कर उठा	264
चिंता जली तो मैंने देखा	259	मैं गया हूँ डूब	265
चेतना मेरी जिलाये है तुम्हें	259	कल कमीज में बटन नहीं थे	266
ऊटी	261	गाने के लिए गया	266
लिली	261	उदास दिन	267
उनको महल मकानी	262	रात	268

गद्य-खण्ड

पत्र	271-347
चिंतन	349-404
कविता संवेदनशील वस्तुवत्ता है	351
कविता क्या है?	384
संज्ञान की कलात्मक अभिव्यक्ति : कविता	393
पुस्तक समीक्षा	405-432
कला का स्वभाव और उद्देश्य	407
डॉ० रामविलास शर्मा का काव्य संग्रह : रूप तरंग	416
प्रतिक्रिया	433-444
चाबुक	435
उपन्यास-अंश	445-454
पतिया	447
यात्रा-वृत्तांत अंश	455-471
बस्ती खिले गुलाबों की	457
साक्षात्कार	473-500
मेरी रचना प्रकृति के समकक्ष एक दूसरी सृष्टि है (केदारनाथ अग्रवाल से अशोक त्रिपाठी की बातचीत)	475
आत्मपरकता और वस्तुपरकता का द्वन्द्व ही रचना-धर्म है (केदारनाथ अग्रवाल से कमलाप्रसाद की बातचीत)	484

संपादकीय

केदारनाथ अग्रवाल : जीवन जीता हारी मौत

“कुछ नामसझ लोग नकारने पर तुले हैं। कोई कुछ कहे-करे मुझे ढकेलकर गिरा नहीं सकता। कविता मुझे सिर पर चढ़ाये चढ़ाये-उठाये उठाये लोकचेतना में ले गई है। मैं खूब खिलखिला रहा हूँ। नकारने वालों को टेंगा दिखा रहा हूँ।”

—केदारनाथ अग्रवाल

केदारनाथ अग्रवाल को बाँदा के लोग प्रेम और आदर के साथ ‘बाबूजी’ कहते थे। ‘बाबूजी’ कहते हुए यदि कहीं भी बाँदा में कोई चर्चा हो रही हो तो समझिये की केदारनाथ अग्रवाल की ही चर्चा हो रही है। सामने भी और पीठ पीछे भी कोई उन्हें उनके नाम से नहीं याद करता था—नाम लेता भी था तो या तो ‘केदार बाबू’ कहता था या फिर ‘बाबू’ केदारनाथ अग्रवाल। बाँदा के लोगों का दिया हुआ प्यार का नाम ‘बाबू’ उनके नाम के आगे या नाम के पीछे इस तरह उनके नाम का हिस्सा बन गया है जैसे कि कर्ण के साथ सूर्य का दिया हुआ कवच उसके शरीर का हिस्सा बन गया था।

केदार बाबू से मेरा पहला सम्पर्क किस तिथि और महीने में हुआ यह तो याद नहीं पर इतना ज़रूर याद है कि सन् 1977 था, महीना शायद—सितम्बर या अक्टूबर रहा होगा। मैं बाँदा के जवाहर लाल नेहरू पोस्ट ग्रेजुएट कालेज में एक अध्यापक के अवकाश कर जाने के कारण रिक्त हुए पद के लिए अभ्यर्थी था। साक्षात्कार के लिए बाँदा जाते समय श्री दूधनाथ सिंह ने कहा था कि ‘तुम बाँदा जा रहे हो तो केदार बाबू से ज़रूर मिलना।’ बाँदा पहुँचा तो पता चला कि वे शाम को नियमित बाँदा रेलवे स्टेशन के सामने नीलम मेडिकल स्टोर पर बैठते हैं। मैं वहाँ गया। वह मेडिकल स्टोर के अन्दर एक स्टूल पर बैठे हुए थे—सफेद कुर्ता पायजामा पहने हुए। गर्दन तनी हुई, निगाह सौ गज दूर वाले अंदाज़ में थी। मेडिकल स्टोर जमीन से दो-ढाई फुट की कुर्सी पर था। स्टोर के सामने बाँदा कालेज के कुछ प्राध्यापक, एक दो वकील, पत्रकार आदि खड़े थे। कुछ लोग सामने खड़ी स्कूटर की सीट पर आसन जमाए हुए थे। देश और दुनिया की राजनीति आदि पर चर्चा चल रही थी। मौका देखकर दूधनाथजी के हवाले से

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 11

अपना परिचय दिया और आने का सबब बताया। मुझे याद नहीं है कि इस पर उन्होंने क्या कहा या क्या प्रतिक्रिया दी। यही मेरी पहली और अति संक्षिप्त मुलाकात थी।

दूसरे दिन साक्षात्कार हुआ। विशेषज्ञ के रूप में सागर विश्वविद्यालय से डॉ० कांतिकुमार जैन आये थे। (यह बात साक्षात्कार होने के बाद पता चली)। सभी अभ्यर्थियों का साक्षात्कार खत्म होने के बाद मुझे फिर से अंदर बुलाया गया और कहा गया कि एक निश्चित तिथि तक डी. फिल. की डिग्री जमा करनी होगी। तब तक मेरी डी. फिल. उपाधि के लिए मौखिक परीक्षा हो चुकी थी पर प्रमाणपत्र निर्गत नहीं हुआ था। मैंने आश्वस्त किया और खुद भी आश्वस्त हुआ कि संभवतः सशर्त ही सही मेरा चयन हो गया है।

9 दिसम्बर, 1977 को मैंने कार्यभार ग्रहण किया। इसके बाद केदारजी से मिलने का सिलसिला चल निकला। शाम को कभी उनके आवास पर कभी नीलम मेडिकल स्टोर पर लगभग रोज़ ही उनका सान्निध्य पाता रहा। उस समय बाँदा में कई नये कवि उभर रहे थे। अक्सर शाम को कहीं न कहीं कोई कवि गोष्ठी होती। बाबू जी भी कभी कभी विशेष आग्रह पर शिरकत करते। यह सिलसिला 19 जून 80 तक चला। केदारजी की कविताओं को सुनने और पढ़ने का अवसर इसी दौरान मिला। इसके पूर्व उनकी कविताओं से मेरा परिचय न के बराबर था।

केदारजी की कविताओं पर मेरा पहला लेख प्रतिक्रियात्मक था। 1979 में प्रकाशित केदारजी के संग्रह ‘पंख और पतवार’ पर राजेश जोशीजी की एक समीक्षा ‘पूर्वग्रह’ में प्रकाशित हुई। समीक्षा पढ़ी और कुछेक बिन्दुओं पर मैं उनसे सहमत नहीं हो सका। उन्हीं बिन्दुओं पर अपनी असहमति जाहिर करते हुए एक तरह से मैंने एक प्रति—समीक्षा लिखी और ‘पूर्वग्रह’ को भेज दी। उम्मीद के विपरीत वह पूर्वग्रह के अंक-37 में “जहाँ दूसरे झरे हैं” शीर्षक से प्रकाशित हुई। इसके बाद गाहे-बगाहे मैंने और भी लेख लिखे समीक्षाएँ लिखीं और प्रकाशित हुईं।

लगभग ढाई वर्षों तक मैं बाँदा में रहा और केदारजी से मिलता रहा। एक दो साक्षात्कार भी लिए और प्रकाशित हुए। पर मुझे कतई यह अहसास नहीं हुआ कि मैं हिन्दी के बीसवीं सदी के निरालाजी के बाद सबसे बड़े कवि से मिल रहा हूँ। कभी भी अपने व्यवहार से, बातचीत से, हमें अपने अन्दर कमतरी का भान तक उन्हाँने नहीं होने दिया, बल्कि उसके बरक्स ‘हम भी कुछ है’ का आत्मविश्वास ही जगाया। जब मैं यह बात अपने लिए कह रहा हूँ तो इसका मतलब केवल मुझसे ही नहीं है। यह अहसास उस हर व्यक्ति की थाती है जो भी उनसे मिला है। पढ़ा-लिखा हो या 12 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

बे-पढ़ा-लिखा हो सबको वह समान स्नेह और आदर देते थे। किसी को भी वह अपने 'छोटेपन' का अहसास नहीं होने देते थे। उम्र का, बुजुर्गियत का, विद्वत्ता का, कविताई का और आभिजात्य का कोई अहं उनमें लेश मात्र भी नहीं था। क्योंकि उन्होंने अपना बड़प्पन उतार कर धर दिया था—'वहाँ,। उस मुरदा अजायब घर में, / जहाँ / मरणोपरांत धर दी जाती है। बड़े-बड़ों के बड़प्पन की उतारनें।' (के.ना.अग्रवाल 'प्रतिनिधि कविताएँ' पृ० 110 संपा. अशोक त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन संस्करण 2010)

केदारजी का सरल सहज और तरल व्यक्तित्व शीशे की भाँति पारदर्शी था। अंदर-बाहर सब एक जैसा। कोई बनावटीपन नहीं-दिखावा नहीं। पटरे की जाँधिया और बुशर्त में हैं तो उसी वेश-भूषा में बिना कसी कुंठा के घंटों बतियाते थे। बतियाने वाला कोई भी हो-नामी गिरामी वकील, डिग्री कालेज का प्रोफेसर, बाँदा के नौजवान, बाहर से आया हुआ कोई छोटा बड़ा साहित्यकार, औरतें-बच्चे, रिक्शेवाला, घर के नौकर, मुंशीजी, मजदूर, किसान, मुक्किल आदि-आदि। उनका व्यक्तित्व एक दर्पण की तरह भी था जिसमें सामने वाला अपनी प्रतिबिम्बित छवि भी देख सकता था।

कोई भी हो किसी भी तबके का हो, किसी भी उम्र का हो, जो भी उनसे एक बार मिला उनका होकर रह गया। वह हर मिलने-जुलने वाले से उसके स्तर पर उतर कर बात करते थे। उसको अपनापन देते थे और उससे अपनापन पाते भी थे। किसी तरह की ग्रंथि उनके मन में नहीं थी। एक बेबाक खुलापन था। व्यवहार की सहजता, चेहरे की उत्फुल्लता, आंखों से झरता पानीदार तरल स्नेह, बातचीत का दोस्ताना अंदाज मन और प्राण को बाँध लेता था।

खान-पान, रहन-सहन, पहनावा ओढ़ावा बोली-बानी आदि के बारे में उनकी कोई रूढ़ शैली नहीं थी। घर में अमूमन चेकदार लुंगी बनियाइन या हाफ बुशर्त या पटरेदार जाँधिया के साथ ही उन्हें देखता था। उनके चेहरे की मासूमियत इतनी खूबसूरत लगती थी कि जैसे वह ताजा धुला-धुला गुलाब का फूल हो या निहायत खूबसूरत बच्चा। केदारजी को बला की खूबसूरती कुदरत ने दी भी थी इसका उन्हें गुमान भी था। अपने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दिनों को याद करते समय कुछ प्रसंग विशेष में वह अक्सर कहते भी थे - 'खूबसूरत तो मैं था ही'। बनिया तो वह किसी भी कोने से नहीं लगते थे - सिवाय किफायत सारी के और एक आदत के कि प्रतिदिन अपने मुंशी श्री फैयाजुद्दीन द्वारा लाए हुए सौदा-सुलुफों के दामों को पूरे ब्योरे के साथ तुरंत अपनी डायरी में नोट करते थे - टेढ़ बही शैली में। किफायतसारी शायद उनकी आर्थिक मजबूरी थी। अपनी आर्थिक तंगी की चर्चा अपने मित्र रामविलासजी से उन्होंने कई बार

की भी है। 'मित्र संवाद- (सं. रामविलास शर्मा, अशोक त्रिपाठी साहित्य भंडार, इलाहाबाद संस्क. 2010) के पत्र इसके साक्षी हैं।

आर्थिक तंगी के बावजूद, मित्रों ने जब भी उनसे अपेक्षा की है उन्होंने कभी निराश नहीं किया। निरालाजी के लिए रामविलासजी के पत्र, और अपने लिए नागार्जुन और शमशेरजी आदि के पत्र इसके गवाह हैं।

लापरवाही केदारजी में बिल्कुल नहीं थी। जीवन में संयम तथा समय की पाबंदी और पकड़ के प्रति वे हमेशा संजीदा रहे हैं। वह जो किताब या पत्रिका जहाँ से निकालते थे, उसे पढ़ने के बाद फिर वहीं रखते थे। उन्हें पता रहता था - कौन सी पुस्तक या पत्रिका कहाँ किस आलमारी के किस खाने में मिलेगी।

प्रातःकाल जल्दी उठना उनकी प्रिय आदत थी। नौकर द्वारा साफ किये गये घर की सफाई पर उन्हें यकीन नहीं था। प्रातःकाल उठकर पूरे घर की धूल झाड़ना एक तरह से उनका व्यसन बन गया था। इसे ही वे अपना प्रातःकालीन व्यायाम भी मानते थे। घर की एक-एक वस्तु पर उनके अभी-अभी छुए हाथ का स्पर्श महसूस होता था। हो भी क्यों न - केदारजी रोज उन्हें सबेरे उठकर प्यार से उसी तरह सहलाते दुलारते भी तो थे, जैसे कोई माँ रोज सबेरे अपने बच्चों को नहला-धुलाकर, तेल-फुलेल लगाकर, पाटी सँवारकर उन्हें दिन भर के लिए तैयार कर देती है और फिर अपने दैनिक कामों में निश्चित होकर लग जाती है।

उनके बैठक खाने नुमा अध्ययन कक्ष की किताबें सचमुच जीवन्त बच्चे का अहसास जगाती थीं, शो केंस में रखी शो-पीस-सी किसी गुड़िया का नहीं। प्रत्येक किताब या पत्रिका उनके द्वारा पूरी पढ़ी गयी होती थी। उनकी किताबें दूसरों पर अपने अध्ययनशील होने का रोब जमाने का साधन नहीं थीं। वह पुस्तकें-पत्रिकाएँ केवल पढ़ते भर नहीं थे - बाकायदे पेंसिल से हाशिए पर अपनी टिप्पणी भी लिखते थे। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था कि लेखक नया है या पुराना, नामी गिरामी है या गुमनाम।

केदारजी का आँगन काफी बड़ा था। आँगन के उत्तरी हिस्से में जहाँ नल था उन्होंने गुलाब, करोटन आदि अनेक पौधे लगा रखे थे। इन्हें वह रोज पानी खुद देते थे - इन पौधों की एक-एक पत्तियाँ पानी के हजारों से खुद धोते थे। केदारजी को गुलाब के फूल बेहद प्रिय थे। गुलाब उनकी कविताओं में कई बार आया भी है -

'जल रहा है / जवान होकर गुलाब, / खोलकर होंठ / जैसे आग / गा रही है फाग।' (के. ना. अग्र.: प्रतिनिधि कविताएँ-वही, पृ० 109)

केदारजी का घर खपरैलों वाला है और दीवालें मिट्टी की लेकिन जब तक केदारजी ज़िन्दा रहे उनका पूरा घर तुरंत की हुई सफाई का अहसास देता था – पूर्णतः धूल –रहित रहता था। धूल-धक्कड़ और गंदगी केदारजी को बिल्कुल पसंद नहीं थी – गंदगी चाहे घर की हो, चाहे शरीर की, चाहे विचारों की, चाहे चरित्र की। न तो उनके चेहरे पर कभी दाढ़ी देखी, न कपड़ों में धूमिलपन, न कभी विचारों में उलझाव या गँदलापन और न कभी चरित्र का दोगलापन। हर चीज़ का सीन काफ़ दुरुस्त। राँची से प्रकाशित 'प्रभात खबर' के दीपावली 2010 के विशेषांक में वीरेन डंगवाल ने केदारजी से एक मुलाकात का जिक्र करते हुए लिखा है – 'दीवार से लगी धुंधले शीशों वाली कुछ आलमारियाँ थी जिनमें कानून की मोटी जिल्दें सजी थीं। धूल शायद वहाँ पर भी थी। फर्श पर फर्नीचर पर, कम रोशनी देती ट्यूब लाइट पर।' (पृ 109) वीरेन जी का यह पर्यवेक्षण कतई सच नहीं है।

केदारजी का आडम्बर-रहित व्यवहार ऐसा था कि किसी भी समय जाइए, वह अपनी सहज मुस्कान से स्वागत करते थे।

सन् 1982 के आस पास केदारजी ने वकालत लगभग छोड़ दी थी। कचहरी नहीं जाते थे, पर शाम को नीलम मेडिकल स्टोर पर जाकर बैठना बदस्तूर जारी रहा। जाकर बैठते थे चाय पीते थे, खुद देखकर या पूछ- सुनकर पूरे बाँदा का हाल-चाल जानना कुछ उसी तरह उनका धर्म बन चुका था जैसे घर का कोई बड़ा बुजुर्ग शाम को घर के सभी छोटे-बड़ों की खोज खबर लेता है। इन्हीं जानकारीयों में से वह कविता का कच्चा माल भी सहेजकर अँधेरा होने पर घर आते थे और फिर कविता प्रिया के साथ रात-रात भर आँखें चार करते थे – कवि-प्रिया की इस पर क्या प्रतिक्रिया होती थी वह वही जानें। जवानी के दिनों में 'वह कहती तो कुछ नहीं थीं पर पलंग पर आ विराजती थी' ('मित्र संवाद' में संकलित रामविलासजी को लिखे एक पत्र के हवाले से)

केदारजी ने अधिसंख्य कविताएँ रात के अँधेरे में लिखी हैं, पर वे अँधेरे की कविताएँ नहीं हैं – वे दिन के अग्निम प्रकाश की कविताएँ हैं। प्रारंभ में बाँदा के वरिष्ठ वकील चाचा मुकुंद लाल अग्रवाल के डर के कारण छिपकर कविता लिखने के लिए रात का इंतज़ार जरूरी था, बाद में दिन में वकालत की व्यस्तता के कारण।

पुराणों में कर्णवती के नाम से जाने जानी वाली केन नदी केदारजी के घर से दूर है। लेकिन जब तक कूवत रही केदारजी शाम का या छुट्टियों का समय केन को देते रहे। केन उनके लिए महज एक जल-भरी नदी नहीं है। वह उनके अस्तित्व में रच-बस कर उनके लिए चेतना की नदी बन गयी। केन को उन्होंने इतनी बार, इतने

विभिन्न कोणों से देखा, उसके क्षण-क्षण नित नूतन परिवर्तित सौंदर्य का अनुभव किया कि वह उनके जीवन-दर्शन का एक अभिन्न हिस्सा बन गयी। इसीलिए उन्हें 'केन का कवि' भी कहा जाता है। एक नदी को – वह भी छोटी लगभग स्थानीय नदी को, जिसका अस्तित्व यमुना में विलीन हो जाता है, – को विषय बनाकर हर बार एक नयी भंगिमा देते हुए, केदारजी ने जितनी कविताएँ लिखी हैं शायद ही किसी स्थानीय नदी पर इतनी कविताएँ किसी दूसरे कवि ने लिखी हों। यमुना भी उनके घर से बहुत दूर नहीं है, पर सिवाय एक दो संदर्भों के (रित मैं हूँ जमुन जल तुम आदि) यमुना उनकी कविता में लगभग नहीं है। यही हाल गंगा और दूसरी बड़ी नदियों का भी है। क्योंकि केन एक उपेक्षित सी नदी है और केदारजी मेहनतकशों, वंचितों, दलितों और उपेक्षितों को वाणी देने वाले कवि हैं।

उन्होंने अपने यहाँ काम करने वालों को भी कभी डाँटा-डपटा नहीं। कोई काम उनके मनमुताबिक नहीं हुआ – तो भी नहीं। स्नेह से प्यार से ही कहा। रनिया नाम की अपने यहाँ काम करने वाली एक औरत पर तो उन्होंने कविता ही लिख मारी – उसे अपनी देस – बहन कहा – 'रनिया मेरी देस बहन है, / अति ग़रीब है – अति ग़रीब है ! / मैं रनिया का देश-बन्धु हूँ / अति अमीर हूँ अति अमीर हूँ ! ('गुलमँहदी' पृ 48, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, संस्क. 2009) इसी तरह के अन्य कई दलित चरित्रों पर उन्होंने कविता लिखी है।

केदारजी की एक और विशेषता है उनका अगाध पत्नी प्रेम। आज के युग में 'प्रेम शब्द' में परकीया प्रेम की ही बू आती है। एक जमाने में तो 'धर्मयुग' ने एक बहस ही चलाई थी कि रचना के लिए प्रेयसी अनिवार्य है। प्रगतिशीलता – जनवादिता का भी एक गुण धर्म, सा बन गया है – पत्नी के अलावा प्रेयसी या प्रेयसियाँ पालना। ऐसे में पत्नी के प्रति निःस्वार्थ, उद्दाम कर्तव्य बोध की ऊष्मा से आवेशित प्रेम, आध्यात्मिक की शब्दावली का प्रयोग करें तो अलौकिक ही लगता है। पत्नी ही उनकी प्रेयसी भी थीं, सहकर्मिणी भी और सहधर्मिणी भी। कविता में दुनिया-जहान पर बातें करने वाली माध्यम भी थीं – 'हे मेरी तुम' शृंखला की कविताएँ इसी को साबित करती हैं। इस शृंखला की कविताएँ प्रेम की ही कविताएँ नहीं हैं – प्रेम तो बहुत कम है – दुनियादारी की बातें ज्यादा हैं।

एक लम्बे अर्स से कवि-प्रिया पार्वती देवी जी अस्वस्थ रहती थीं – उनके दोनों हाथों और सिर में लगातार कम्पन होता रहता था। वह अपने हाथों से अपना काम तक करने में असमर्थ थीं। जब तक केदारजी स्वस्थ रहे शरीर में ताकत रही पत्नी के

काम में हाथ बँटाते रहे – बर्तन साफ करने तक में। वह रोटी नहीं बेल पाती थीं तो कई-कई दिनों तक केदारजी दाल-चावल पर ही गुज़ारा करते थे – बेटा-बहू तबके मद्रास और अबके चेन्नई में रहते हैं। केदारजी ही उन्हें नित्य कर्म से निवृत्त कराने से लेकर, भोजन स्नान तक कराते थे और इस कदर सँवार कर रखते थे कि जब भी देखिये सद्यःस्नाता सी लगती थीं। दिप-दिप करता, सहज मुस्कान बिखेरता उनका ममतालु चेहरा केदारजी की ही प्रेम की कर्मठ पवित्रता का यशोगान करता प्रतीत होता था। हो भी क्यों न – पत्नी का 'काँपता हाथ' देखकर केदारजी का 'दिल काँपता' था। वह युवती नहीं प्रेम ब्याह कर लाए थे – 'गया ब्याह में युवती लाने/प्रेम ब्याहकर संग में लाया ।'

उनकी पत्नी और उनके हृदय एक थे। एक दूसरे की धड़कन दोनों बिना बताये महसूस कर लेते थे। वे हमेशा समस्वरित रहते थे। इस बात से मुझे हमेशा आश्चर्य होता था कि जो बात उनके सामने बैठे दो-चार लोग नहीं सुन पाते थे, वह कैसे उसे सुन लेते थे।

उनके बैठक खाने में हम लोग बैठे हैं और बातें चल रही हैं। केदारजी अपने अँगूठे के नाखून से शेष उँगलियों के नाखून के अगले भाग को कुरेद रहे हैं। यह उनकी आदत थी कि जब वह कुछ सोचने की मुद्रा में होते थे तो अनजाने ही ऐसा करने लगते थे। अचानक वह उठते और 'अभी आया' – कहकर बैठक खाने के बरामदे के बाद आँगन के पश्चिम के अपने शयन कक्ष में चले जाते। अपनी पत्नी को पकड़कर बाथरूम की तरफ ले जाते और फिर उन्हें शयन कक्ष में बिठाकर वापस आ जाते या फिर कभी उनकी कोई और ज़रूरत पूरा करके वापस आते ।

हम सबको आश्चर्य होता कि बाबूजी को कैसे पता चल जाता था कि उनकी पत्नी को उनकी ज़रूरत है। उनकी पत्नी भी उन्हें 'बाबूजी' ही कहती थीं। ऐसा था कवि और कवि प्रिया के हृदय का समस्वरण ।

केदारजी का पूरा जीवन लगभग सीधी पगडंडी-सा था। इस पगडंडी में कहीं-कहीं दूब की कोमल हरियाली थी कहीं-कहीं कुछ छोटे-मोटे गड्ढे और कहीं निचाट मैदान। वह न तो राजमार्ग था, न ही पेंचदार धुमाववाली गली और न ऊबड़ खाबड़ नदी नालों वाला बीहड़ रास्ता। दो-चार घटनाओं को छोड़कर उनके जीवन में बहुत अप्रत्याशित उतार-चढ़ाव नहीं था। पूरे जीवन में महाकाल से दो-चार बार उनकी मुठभेड़ जरूर हुई पर जीत केदारजी की ही हुई। छोटी बेटा किरण का दो बार विधवा होना जरूर उनके जीवन की एक बड़ी त्रासदी थी।

केदारजी को प्रकृति बहुत भाती थी। वह वह प्रकृति के ओज उल्लास, आह्लाद, मस्ती और बेफिक्री के कवि हैं। उनकी प्रकृति संघर्षशील जिंदगी की सहकर्मिणी, सह धर्मिणी, श्रमरत श्रमिक का पसीना पोंछने वाली, ऊष्मा देने वाली, धरती को जावक लगाने वाली, प्रिया को प्यार के लिए उकसाने वाली, कपोलों को आरक्त करने वाली, सुख-दुख में साथ-साथ चलने, हँसने, बोलने-बतियाने वाली, छेड़छाड़ करने वाली अलहड़ मुखरा प्रकृति है।

वह दूसरों के लिए जितने उन्मुक्त और उदार थे, सहृदय और सहज थे अपने लिए उतने ही संकोची। अपने बारे में ज्यादा बात करना, प्रशंसा सुनना उन्हें नहीं भाता था। जब भी ऐसा प्रसंग आता वह बात को तुरंत दूसरा मोड़ दे देते थे। अपने सम्मान वाले समारोहों में भी वह बड़ी मान मनौवल के बाद ही शरीक होते थे क्योंकि वह मान-सम्मान की राजनीति और खतरों को समझते थे। – 'मुझे न मारो/मान पान से / माल्यार्पण से / यशोगान से / मिट्टी के घर से निकाल कर। धरती से ऊपर उछालकर ।' (प्रतिनिधि कविताएँ-वही, पृ0 135)

उनका यह संकोच, एक ऐसे समर्पित कर्मयोगी का संकोच था, जो निष्काम कर्मयोग को जीवन में उतार चुका था – तभी तो वह कहते हैं – 'सबसे आगे / हम हैं / पाँव दुखाने में ;/ सबसे पीछे / हम हैं / पाँव पुजाने में। / सबसे ऊपर / हम हैं / ब्योम झुकाने में ;/ सबसे नीचे / हम हैं। नींव उठाने में।' (वही, पृ0 100) उनकी यही साधारणता उनकी सबसे बड़ी असाधारणता थी। यहाँ तक कि अपनी कविता सुनाने में भी वह संकोच करते थे और 'माँझी न बजाओ वंशी मेरा मन डोलता है' जैसी कविता की फरमाइश करने पर उनका शरमाना देखते ही बनता था – गाल लाल हो जाते थे जैसा कि किसी नयी नवेली दुल्हन का अवगुंठन उठाने पर होता है।

अपने प्रचार के प्रति बाद में, केदारजी कितने अनासक्त हो गये थे उसका एक छोटा-सा उदाहरण परिमल प्रकाशन के स्वत्वाधिकारी स्वर्गीय शिवकुमार सहाय द्वारा बताया गया यह संदर्भ है :- 3 अक्टूबर 1954 को लिखी गयी उनकी प्रसिद्ध कविता 'मजदूर का जन्म' (एक हथौड़े वाला घर में और हुआ) (वही, पृ0 65) श्री कृष्ण दास जी के संपादन में प्रकाशित पत्रिका 'नयापथ' में छपी थी। 'नयापथ' जिस प्रेस में छपता था सहायजी उसमें काम करते थे। यह कविता उन्होंने पढ़ी और पहली ही बार में वह उन्हें कण्ठस्थ हो गयी। कालांतर में जब सहायजी ने 1959 में परिमल प्रकाशन शुरू 18 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

किया तभी संकल्प लिया कि इस कविता के कवि का संकलन छापना ही है। सन् 1963 में उन्होंने एक पत्र द्वारा अपनी यह इच्छा व्यक्त की। केदारजी ने एक पोस्टकार्ड द्वारा उत्तर दिया कि 'मेरी कविता-पुस्तक छाप कर क्या करोगे। 'कविता पुस्तकें' बिकती हैं नहीं - नये - नये प्रकाशक बने हो, ऐसी पुस्तकें छापो जिससे कुछ पूँजी बने, फिर सोचना।' यह सलाह केदारजी ने अपने अनुभव से दी थी। इस समय तक उनकी तीन पुस्तकें 'युग की गंगा', 'नींद के बादल' तथा 'लोक और आलोक' छप चुकी थीं और उन्हें कविता-पुस्तकों की बिक्री की दुर्दशा का ज्ञान हो चुका था। केदारजी का पत्र पढ़कर सहायजी को बड़ा विचित्र लगा कि कहाँ तो लोग छपास की भूख से पीड़ित हैं और केदारजी हैं कि खुद मना कर रहे हैं। उन्हें लगा कि यह कवि किसी दूसरी माटी का बना है। यह सोचकर सहायजी ने तय कर लिया कि जैसे भी हो इस कवि को छापना ही है।

संयोग से सन् 1964 में उन्हें व्यावसायिक काम से बाँदा जाना पड़ा। केदारजी से मिले। यह उनकी पहली मुलाकात थी। सहायजी ने उनसे कविता सुनाने का आग्रह किया, बड़ी मुश्किल से केदारजी ने आग्रह स्वीकार किया और कविताएँ सुनाईं। कविताएँ सुनने के दौरान सहायजी को लगा कि इन कविताओं को समझने के लिए किसी खास विद्वत्ता की जरूरत नहीं है। ये कविताएँ तो सामान्य लोगों के लिए उन्हीं की बोली-बानी में लिखी कविताएँ हैं - सहज और सुन्दर। रात के नौ बजे काव्य-पाठ बन्द करते हुए केदारजी ने - 'अब खाना खा लिया जाय' कहकर अन्दर भोजन की व्यवस्था करने चले गये। तीन डायरियाँ जिनसे कविताएँ सुनाई गयी थीं - बगल की मेज पर रख दी गयी थीं। सहायजी उठे और चुपके से डायरियाँ अपने ब्रीफकेस में रखलीं।

खाना खाकर चलने लगे तो बताया कि "बाबूजी मैं आपकी तीनों डायरियाँ ले जा रहा हूँ। अब ये आपको छपने के बाद ही मिलेंगी।" केदारजी ने चौंकर मेज की ओर देखा डायरियाँ गायब थीं। केदारजी ने फिर अपने पत्र वाली बात दुहराई पर सहायजी कहाँ मानने वाले थे। इन्हीं डायरियों और पूर्व प्रकाशित तीनों संकलनों से चुनी हुई कविताओं का संकलन 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' सन् 1965 में केवल प्रकाशित ही नहीं किया, वरन् बड़े धूम-धाम से 10 अक्टूबर 1965, को उसका प्रकाशानोत्सव भी मनाया। केदारजी इससे बहुत आह्लादित हुए। उन्होंने तुरंत रामविलासजी को कविता में एक पत्र लिखा -

बाँदा

13.10.65

रात 11 बजे

प्रिय डाक्टर

पाई चिट्ठी। हुआ प्रसन्न / तुमने तोड़ा मौन / मैंने खाई खीर / स्वाद बन गया / वक्ष तन गया / गया इलाहाबाद / पुस्तक देखी / आँखें चमकीं / बहुत समय पर मेरी कविता बाहर आयी / छपने पर वह और हो गयी / सब को भायी / समारोह भी रहा सुहाना / सबने मुझको, मैंने सबको जाना / मन गाता था गाना / मैं पहने था माला / चलता था चौताला / लेख पढ़े लोगों ने डटकर / सबने काव्य सराहा / पंत महादेवी के भाषण भाव भरे थे / दास हुलास भरे थे / अमरित ने अमरित बरसाया - / अब फिर बाँदा- / वही कचहरी- वही वकालत - / वही कटाकट ।

शेष कुशल है / मैं केदार तुम्हारा

(मित्र संवाद -भाग-2 पृ0 57, सं. रामविलास शर्मा, अशोक त्रिपाठी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, संस्क. 2010)

इसके बाद तो केदारजी का समस्त साहित्य परिमल प्रकाशन से ही प्रकाशित हुआ। इस संकलन की व्यापक चर्चा हुई। शमशेरजी ने इस संकलन की एक लम्बी समीक्षा लिखी जो नामवरजी ने आलोचना में छापी। इस समीक्षा के जरिये शमशेर जी ने केदारजी पर 'रूपवादी' होने जैसे आरोपों का तर्कसम्मत ढंग से जोरदार खंडन किया और उनकी कविताओं को पढ़ने और समझने की एक नयी दृष्टि दी। वह समीक्षा आज भी मील का पत्थर मानी जाती है।

केदारजी की जब प्रसिद्धि बढ़ी तो दिल्ली के नामी गिरामी प्रकाशकों ने उनसे उनके कविता संकलन छापने के प्रस्ताव भेजे। केदारजी ने सबको मना कर दिया, हालाँकि इससे घाटा केदारजी को हुआ। दिल्ली से प्रकाशित होने पर पैसा और प्रसिद्धि दोनों मिलती, पर केदारजी अवसरवादी नहीं थे। उनका कहना था जब कोई दूसरा उन्हें छापने को तैयार नहीं था तब शिवकुमार सहाय ने जोखिम उठाकर उन्हें छपा, इसलिए नैतिकता यही कहती है कि जब शिवकुमार सहाय मुझे छापने से मना कर दें तभी मैं दूसरों को अपनी पुस्तकें दूँ ।

केदारजी ने साहित्य और जीविका को कभी गड़ड़मड़ड़ नहीं होने दिया। साहित्य उनके लिए मिशन था – वकालत उनकी जीविका थी। उन जैसे साधारण जीवन जीने वाले के लिए वकालत पर्याप्त थी।

अब शिवकुमार जी इस दुनिया में नहीं हैं। लेकिन उनकी विरासत – केदार साहित्य – अभी भी इलाहाबाद में ही है। उनके छोटे भाई जैसे मित्र श्री सतीशचन्द्र अग्रवाल ने अपने प्रकाशन संस्थान – ‘साहित्य भंडार’ से केदारजी का समस्त साहित्य नये कलेवर के साथ पुनः प्रकाशित किया।

केदारजी को अपनी धरती और अपने लोगों से बेहद लगाव था। बाँदा की काली मिट्टी से लेकर टुनटुनिया पहाड़ तक, केन नदी से गर्नाला तक, चन्द्रगहना बाग से गुम्मा ईंट तक चित्रकूट के बौद्ध यात्रियों से मुल्लो अहिरिन तक, अभियुक्त नं. 110 से लेकर कानपुर के मजदूरों तक, गुलाब से लेकर नीम के फूल तक, फसलों, पेड़ों हवाओं और मौसमों से लेकर किसानों, मल्लाहों, मुदरिसों, क्लर्कों तक – अपने परिवेश की प्रत्येक वस्तु से लेकर जनजीवन तक केदारजी का ऐसा गहरा जुड़ाव था कि बाँदा और केदार एक दूसरे की पहचान और एक दूसरे के पर्याय बन गये। केदारजी ने बाँदा को अपनी रग-रग में पैबस्त कर लिया था। पर उनका बाँदा प्रेम किसी संकीर्णता की उपज नहीं है। कभी-कभी वह अपने बेटे अशोककुमार अग्रवाल के पास मद्रास भी जाते थे। उन्होंने मद्रास पर बहुत सी कविताएँ लिखी हैं। राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय घटना चक्रों पर कविताएँ लिखी हैं। 1965 में जब वेलिन्तीना तेरेश्कोवा चाँद पर गयी तो केदारजी ने मनुष्य की इस विजय यात्रा को इन शब्दों में बाँधा – ‘इकला चाँद असंख्यों तारे / नील गगन के / खुले किंवारे / कोई हमको कहीं पुकारे / हम आएँगे बाँह पसारे।’

केदारजी पेशे से वकील थे, पर उन्होंने कभी अपने पेशे को अपने मिशन में बाधक नहीं माना जैसा कि अमूमन लोग कहते हैं। इसके बरक्स वे वकालत के शुक्रगुज्जार हैं कि वकालत ने ही उन्हें विश्लेषण करने और आदमी को और उसके अंतर्विरोधों को समझने का गुर सिखाया, वरना औरों की तरह वह भी नकली आदमी को चित्रित करते रहते और अपने अहं में कैद होते। वकालत और मार्क्सवाद इन्हीं दोनों ने उनके चिंतन और उनकी जीवन धारा को पैना बनाया और वह खुद भी सच्चे अर्थों में मनुष्य बन सके और मनुष्यता की खोज करते रहे। वकालत में आने का श्रेय उनके चाचा मुकुंदलाल अग्रवाल को है और मार्क्सवाद से परिचय कराने का श्रेय वे अपने अभिन्न सखा डॉ. रामविलास शर्मा को देते हैं। 1938 में जब वह वकालत के लिए बाँदा

आये और मार्क्स का ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पढ़ा तो ईश्वर के प्रति उनका विश्वास खत्म हो गया और उन्होंने अपनी जनेऊ तोड़कर फेंक दी। हालाँकि वे कभी भी किसी राजनीतिक पार्टी के रजिस्टर्ड मेम्बर नहीं रहे – कम्युनिस्ट पार्टी के भी नहीं। लेकिन मार्क्सवाद के प्रति जो समर्पित, प्राणवंत कर्ममुखी, ऊर्ध्वचेता आस्था उनमें प्रारम्भ से थी वह अंत तक कायम रही – उसमें कोई दरार नहीं आई – सोवियत संघ के टूटने के बावजूद।

सन 30-31 से लेकर 1995 का समय उनकी कविताओं में कैद है। पर कविताएँ समय-सीमा में कैद नहीं हैं। वे कालजयी हैं।

केदारजी अपने पास आए हर एक ‘पत्र का जवाब देते थे और जवाब देने वाले पत्र पर जवाब देने की तारीख ज़रूर लिखते थे अपने हस्ताक्षर के साथ।

अपने मित्रों पर, कवियों पर – बाल्मीकि से लेकर गोरख पाण्डेय तक – जितनी कविताएँ केदारजी ने लिखी हैं शायद ही किसी ने लिखी होंगी। सबसे अधिक कविताएँ निराला पर हैं। रामविलासजी लिखते हैं – ‘बहुतों ने’ निराला पर लिखा है। दूसरे कवियों ने निराला को दूर से देखा है, केदार ने उनसे तादात्म्य स्थापित किया है। निराला मरकर भी केदार की कविता में अमर हैं। (प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल, पृ. 52 साहित्य भंडार इलाहाबाद, संस्करण 2011) ‘वह तोड़ती पत्थर’ की परम्परा केदार और नागार्जुन की रचनाओं में विकसित हुई है। (वही पृ. 47) इसके बावजूद ‘वर्तमान साहित्य’ का जब वृहद् कविता विशेषांक निकलता है और निराला पर दूसरे कवियों की रचनाएँ छपती हैं तो केदारजी की निराला पर लिखी कविताएँ अनदेखी रह जाती हैं। कारण साहित्यिक गुटबाजी भी हो सकती है और अनभिज्ञता भी। मुझे दूसरे कारण पर ज्यादा यकीन है।

अपने मित्र कवियों – शमशेर, नागार्जुन और त्रिलोचन – में सबसे कम चर्चा केदारजी की हुई है। इसके कुछ गैर साहित्यिक कारण हैं – साहित्यिक नहीं। उनका साहित्य इन तीनों में से किसी से भी कमतर हो, ऐसा नहीं है।

केदारजी का साहित्य इलाहाबाद के एक छोटे प्रकाशक (व्यावसायिकता की दृष्टि से) से छपा था। केदार-साहित्य या तो सरकारी खरीद के बूते पर प्रचारित-प्रसारित हुआ या फिर सहायजी द्वारा भेंट स्वरूप दी गयी कृतियों के माध्यम से। परिमल प्रकाशन के पास कोई प्रचार-प्रसार-तंत्र नहीं था। उनकी पुस्तकें उनके अतिरिक्त और कहीं

उपलब्ध नहीं थीं। थोड़ी बहुत बिक्री कुछ पुस्तक मेलों में हो जाती थी। व्यापक पाठक समुदाय तक पुस्तकें पहुँचे ऐसा कोई तंत्र परिमल प्रकाशन के पास नहीं था। इसका खामियाजा हिन्दी-संसार और कवि दोनों को भुगतना पड़ा – प्रकारान्तर से प्रकाशक को भी।

केदारजी आजीवन बाँदा में रहे। कभी-कभार नाते रिश्तेदारों के यहाँ किसी व्यक्तिगत यात्रा पर या किसी दबाव में कुछ साहित्यिक गोष्ठियों या समारोहों में गये तो गये, अन्यथा मुक्किलों के प्रति ईमानदार भूमिका निभाते हुए वकालत में लगे रहे – बाँदा से बाहर बहुत कम गये। इसके बरक्स नागार्जुनजी लगातार यात्रा पर रहते थे – 'यात्री' उनका तखल्लुस ही हो गया था। हाट-बाजारों में अपनी पुस्तकों की बिक्री से लेकर सरकारी खरीद तक की दौड़ धूप उनकी ज़रूरत थी। उनके ये प्रयास ख़बर बनते थे, चर्चा होती थी। रोज़ी रोटी और ज्ञान की तलाश में देश-विदेश की खाक छानी। देश के विभिन्न हिस्सों में अपने मित्रों-साहित्य-प्रेमियों के यहाँ जाते रहते थे और लम्बे समय तक प्रवास भी करते थे – सभा-गोष्ठियाँ होती थीं-समाचार प्रचारित-प्रसारित होते थे। नागार्जुनजी कवि सम्मेलनों में भी शिरकत करते थे – राजनीतिक मजमों में भी हिस्सा लेते थे – आन्दोलनों की अगुआई करते थे। उनकी जीवन-शैली भी उनके चर्चा में बने रहने में मदद करती थी। नागार्जुन कब कहाँ होंगे – इसका पता शायद उन्हें भी नहीं रहता रहा होगा। नागार्जुन के पत्रों में अलग-अलग स्थानों के जितने पते होंगे – शायद ही किसी कवि के उतने पते होंगे – तभी तो केदारजी ने 'मित्र संवाद' में संकलित अपने एक पत्र में लिखा था – 'नागार्जुन हिन्दुस्तान का नक्शा हो गये हैं। हर प्रदेश के अंक में हिल रहे हैं। 'कुछ पत्र-पत्रिकाओं का संपादन-प्रकाशन भी किया। ये सब मिलकर नागार्जुन को लगातार सुर्खियों में बनाये रखते थे। उनके सुर्खियों में बने रहने से उनके साहित्य को भी चर्चा में बने रहने में मदद मिली है। नागार्जुन अपने साहित्य के कारण कम अपनी साहित्येतर गतिविधियों के कारण चर्चा में अधिक रहे।

शमशेरजी भी नागार्जुनजी इतना तो नहीं पर हाँ केदारजी की तुलना में परिस्थितिवश 'घुमक्कड़' कहे जा सकते हैं। पार्टी में सक्रियता, 'नया पथ' और 'जनयुग' के सम्पादन में सहयोग आदि उन्हें लगातार चर्चा में बने रहने में मददगार रहे हैं। शमशेरजी के जीवन का संघर्ष और कुछ दूसरी गतिविधियों को भी इसमें शामिल किया जा सकता है।

त्रिलोचनजी भी इसी परिपाटी के पथिक थे। इन तीनों की तुलना में केदारजी बाँदा में ही सिमटे रहे। केदारजी की जो भी चर्चा हुई और हो रही है, वह सिर्फ और सिर्फ साहित्यिक कारणों से है। जबकि शेष तीनों मित्रों की चर्चा गैर साहित्यिक कारणों से ज्यादा है। यह सच्चाई मैं केदारजी के तीनों कवि-मित्रों के प्रति, उनकी रचनात्मकता के प्रति पूरे सम्मान के भाव से, कह रहा हूँ।

केदारजी इतने अचर्चित रहे हैं कि साहित्यिक अकादमियों और संस्थानों को उनकी कभी याद ही नहीं आती थी, कि वह भी कुछ मान्यता लायक लिख रहे हैं। भला हो 1986 में बाँदा में सम्पन्न दो दिवसीय 'सम्मान : केदारनाथ अग्रवाल' समारोह का, जिसकी चर्चा से, दबाव में आकर साहित्य अकादमी को लगा कि उन्हें बिसारने का जो अपराध उसने अभी तक किया है उसे सुधारना अनिवार्य है और फिर आनन फानन में उसी साल 'अपूर्वा' पर उन्हें 'साहित्य अकादमी' पुरस्कार मिला। म.प्र. साहित्य परिषद का 'तुलसी' और 'मैथिलीशरण गुप्त' सम्मान भी इसी के बाद मिला। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की मानद उपाधि – 'साहित्य वाचस्पति' तथा बुंदेलखण्ड विश्वविद्यालय की मानद उपाधि 'डी.लिट.' भी इसी के बाद मिली। केदारजी सचमुच में साहित्य की एकान्त साधना में लीन रहे।

2010-2011 केदारजी सहित हिन्दी के कई कवियों-लेखकों का जन्मशती वर्ष है। हिन्दी का एक साहित्यिक गिरोह अपने को स्मृति-भंश का शिकार सिद्ध करने पर अमादा है। गीता में कहा गया है 'स्मृति भंशात् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशो विनश्यति'। कुछ लोग उन्हें याद दिलाने की कोशिश भी कर रहे हैं, पर उन्हें कुछ याद नहीं आ रहा है। (अखिलेश : संपादकीय 'तद्भव' अंक 22 पृ. III, IV)। कभी जिसकी कविता पर वे फिदा थे आज उसे कवि मानने से ही गुरेज है। राजेश जोशी का लेख 'प्रभात खबर (राँची) का दीपावली विशेषांक – 2010 तथा लीलाधर मंडलोई का लेख 'अक्सर' (चौदह-पन्द्रह : अक्टूबर 2010 – मार्च 2011, पृ. 80) कृष्णदत्त पालीवाल भी 'जनसत्ता' में प्रकाशित अपने लेख में इसकी चर्चा करते हैं। लेकिन किसी एक या उस एक के गिरोह के गुर्गों के विस्मरण से केदारजी विस्मृत होने वाले कवि नहीं हैं। क्योंकि केदार जनकवि है। वह घोषणा करते हैं कि- 'हम लेखक हैं, / कथाकार हैं, / हम जीवन के भाष्यकार हैं ।, / हम कवि हैं जनवादी ।' (के. ना. अग्रवाल, प्रतिनिधि कविताएँ – पृ. 88) जनवादी कवि यानी जनता का कवि अमर रहता है क्योंकि – 'सब देशों में सब राष्ट्रों में / शासक ही शासक मरते हैं। / शोषक ही शोषक मरते हैं। / किसी देश या किसी राष्ट्र की कभी नहीं जनता मरती है ।'

केदारजी जैसे तो यात्रा से बचने की भरपूर कोशिश करते थे और समारोहों में जाने से कतराते थे, पर यदि किसी दबाववश हमी भर देते थे तो हर कीमत पर उसे निभाते थे। एक प्रसंग काफी होगा। प्रगतिशील लेखक संघ की पन्ना इकाई के डॉ. मकबूल अहमद को बाबूजी ने वायदा कर दिया कि वह उनके 10-11 जनवरी 1987 के आयोजन में आएँगे। बाँदा से पन्ना के लिए कोई सीधी बस या रेल सेवा नहीं है। डॉ. मकबूल अहमद ने इन्हें ले जाने के लिए समारोह के एक दिन पूर्व 9 जनवरी को एक मेटाडोर की व्यवस्था की क्योंकि इलाहाबाद से मुझे और सहायजी को तथा बाँदा से चन्द्रपाल कश्यप सहित एक दो और लोगों को जाना था। मैं और सहायजी 8 जनवरी की रात को ही बाँदा आ गये थे क्योंकि 9 को 11.00 बजे सबेरे ही बाँदा से रवाना होना था। डा. मकबूल जब पन्ना से निकले तभी मेटाडोर खराब हो गयी। ठीक होने के बाद बाँदा पहुँचते-पहुँचते वह फिर मचल गयी। सभी लोग तैयार होकर बाबूजी के घर पर इंतजार कर रहे थे। अपराह्न लगभग 3 बजे डॉ. मकबूल अहमद हाँफते हुए बाबूजी के घर पर आए और पूरी दास्तान बयान की। फिर मेटाडोर ठीक कराने मैकेनिक के पास चले गये। रात लगभग 11.00 बजे वह मेटाडोर ठीक कराकर आए। सब लोग मेटाडोर से चले। कुछ दूर जाकर वह फिर नखरे करने लगी। किसी तरह मंथर गति से चलती हुई वह रात के ढाई बजे नरैनी जाकर फिर अड़ गयी। हम लोग पूरी रात नरैनी में उसी मेटाडोर में बैठे रहे। रात का समय, जनवरी का महीना, तेज हवा चल रही थी, ठंड भी लग रही थी, पर बाबूजी हम सबके हँसी मजाक के बीच पूरी जिन्दादिली से अड़े रहे और अपने संकल्प पर कायम रहे। नरैनी बाँदा की वही तहसील है जिसके थोड़ा आगे करतल नामक कस्बा है। यहीं बाबूजी एक बार एक मुकदमों के सिलसिले में गये थे तो विरोधी पार्टी ने लाटियों से उन पर हमला कर दिया था। उन्हें गंभीर चोट आयी थी। लगभग 5.30 बजे सबेरे हम सब नरैनी से रवाना हो सके।

पन्ना में भी एक दूसरा वाक्या हुआ जो उनकी सहज उदारता का अपना ही उदाहरण है। आयोजन के दौरान एक महिला कवयित्री ने बाबूजी को अपना एक संग्रह भेंट किया। आवास स्थल पर मैं उसे उलट-पलट कर देख रहा था कि अचानक मैं चौंक उठा – उसमें केदारजी की एक अति प्रसिद्ध कविता – ‘आज नदी बिल्कुल उदास थी’ – कवयित्री ने अपने नाम से छाप रखी थी। मैंने सबको बताया। सहायजी बिफर गये – कहने लगे मैं इसे कानूनी नोटिस भेजूँगा – बाबूजी की कविता उसने अपने नाम से कैसे छापी। बाबूजी ने बीच में ही टोंका – ‘शिवकुमार तुम बेकार की बातें करते हो। कोई नोटिस-फोटिस नहीं भेजनी है। अरे भाई ! उसे मेरी कविता इतनी अच्छी लगी

कि उसने उसे अपने नाम से छाप ली। बस जो हो गया सो हो गया—कुछ करना धरना नहीं। ‘ऐसे को उदार जग माँही’ ।

बाँदा की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि वह किसी ऐसे बड़े शहर के रास्ते में नहीं पड़ता जहाँ यातायात के साधन—रेल या बस—सहज उपलब्ध हों और लोगों का आना जाना लगा रहता हो। बाँदा जाने का मतलब है सिर्फ बाँदा जाना। इसी कारण इनके मित्रगण, शुभचिंतक चाहते हुए भी अक्सर बाँदा नहीं पहुँच पाते थे। केदारजी इसकी शिकायत भी करते थे।

कवि प्रिया पार्वती देवी के निधन (28 जनवरी, 1986) के बाद चेतना के स्तर पर तो वह हमेशा उनके साथ रहती थीं पर भौतिक रूप से अकेलापन महसूस करते थे। समय काटना भी मुश्किल था।

मैंने 19 अप्रैल 1991 को दिल्ली में दूरदर्शन की नौकरी ज्वाइन की थी। उनके जन्मदिन के अवसर पर पहली अप्रैल या उसके आस पास तो हर वर्ष बाँदा जाता ही था। बाद में मेरी पत्नी सावित्री त्रिपाठी और मैंने तय किया कि अक्टूबर के महीने में 2-3 दिन के लिए बाँदा जा कर बाबूजी के पास रहना चाहिए, ताकि कुछ दिनों के लिए तो उनका अकेलापन दूर हो सके। पहुँचने की सूचना पत्र द्वारा पहले से ही भेज देता था। बाबूजी के भतीजों के मुनीम पंडित रामसजीवन पांडे पहुँचने पर बताते थे कि मेरी चिट्ठी आने के बाद एक-एक दिन बाबूजी गिनते थे कि मैं कब बाँदा पहुँचूँगा। नौकरों को सहेजते थे कि ‘महाकौशल’ के समय गेट खुला रखें – सो न जायँ। क्योंकि ‘महाकौशल’ सबेरे के ढाई-तीन बजे बाँदा पहुँचती थी। उस समय यही इकलौती रेलसेवा दिल्ली से सीधे बाँदा के लिए थी। मैं जब सबेरे पहुँचता तो बाबूजी भोरही में जगे हुए मिलते थे – पता नहीं रात में सोते भी थे या नहीं। हमारे रहने की व्यवस्था उस कमरे में करते थे जिसमें उनकी पत्नी रहती थी। 1986 में इसी कमरे में रामविलासजी भी रूके थे। सारी व्यवस्था पहले से ही चाक चौबन्द रहती थी। उस समय रामस्वरूप उनके यहाँ काम करते थे। उनसे भी वही रिपोर्ट मिलती जो पंडितजी से मिलती थी। पूरा समय बाबूजी के साथ ही बिताने की कोशिश करता था। सिर्फ दोपहर या रात को भोजन के लिए बाहर जाता था। बाबूजी का खाना उनके एक भतीजे के यहाँ से आता था। हमारे घर परिवार के बारे में उसी तरह पूछ-ताछ करते थे जैसे कोई सरपरस्त करता है। मेरे बेटे के बारे में भी पूछते थे, जो उस समय मर्चेन्ट नेवी में शायद सेक्रेण्ड आफिसर थे – इस समय तो कैप्टन हैं। बाबूजी ने यूँ ही पूछा कितनी तनखाह मिलती है। मैंने

बताया एक लाख से ऊपर। बाबूजी को चिंता हुई कि इतना अधिक पैसा कहीं उसे बिगाड़ न दे, जैसा कि अमूमन होता है। मैंने उन्हें आश्चर्य किया कि अभी तक तो ऐसा नहीं है और आगे भी ऐसा नहीं होगा, तब जाकर कहीं उनकी चिंता दूर हुई।

बाबूजी के पास फ्रिज नहीं था। गरमी में घड़े का पानी पीते थे। खाना भतीजे के घर से आता था। चाय-नाश्ते की व्यवस्था घर पर ही कर रखी थी – रामस्वरूप सुबह शाम की चाय और नाश्ता बनाते थे। नाश्ते में पोहा, दो ब्रेड, भरवा मिर्च का अचार और चाय लेते थे। मेरी पत्नी ने कहा कि बाबूजी के लिए एक छोटा सा फ्रिज खरीद देते हैं ताकि उन्हें दूध, फल आदि रखने में सुविधा हो जाये। हमने बड़े संकोच के साथ बाबूजी के सामने यह प्रस्ताव रखा। उन्होंने तुरंत मना कर दिया। हमने बहुत कोशिश की पर वे राजी नहीं हुए। उन्होंने अपनी ज़रूरतें इतनी कम कर रखी थीं कि उन्हें इस तरह की सुविधाओं की आवश्यकता ही महसूस नहीं होती थी। मुझे रहीम का दोहा याद आया –

चाह गई, चिन्ता मिटी, मनवा बेपरवाह ।

जाको कछू न चाहिए, वे शाहन के शाह ।।

वह खुद भी अपने को 'भुक्खड़ शाहशाह' कहते थे – 'हे मेरी तुम !/ 'गठरी चोरों' की दुनिया में / मैंने गठरी नहीं चुराई:/ इसीलिए कंगाल हूँ:/ भुक्खड़ शाहशाह हूँ :। (प्रतिनिधि कविताएँ : पृ० 137)

बाँदा से दिल्ली वापसी की भी वही गाड़ी थी – महाकौशल। वापसी में उसका समय था रात के ग्यारह-साढ़े ग्यारह बजे। हम चाहते थे कि घर से जल्दी निकल लूँ, ताकि बाबूजी की नींद खराब न हो, पर वह थे कि जल्दी निकलने नहीं देते थे। उनके घर से उनके अहाते का फाटक कोई सौ-सवा सौ गज दूर होगा। जब तक हम दोनों फाटक पार नहीं कर जाते थे, बरामदे में खड़े पनीली आँखों से हमें निहारते रहते थे। ऐसा केवल हमारे ही साथ नहीं था – यह उन सभी के साथ था जो उनसे मिलने आते थे। मतलब कि यह उनके सहज स्वभाव का अनिवार्य हिस्सा था। ऐसा अकुंठ स्नेहिल व्यक्तित्व था केदारजी का। सादगी, सिद्धांतप्रियता, ईमानदारी, सहजता, निस्पृहता और अपनों के प्रति सच्चे दिली सरोकार की साक्षात् मिसाल थे केदारजी।

-2-

बाँदा में मैं लगभग ढाई साल रहा – केदारजी से लगभग रोज सम्पर्क होता रहा – लेकिन इस दौरान उनके अप्रकाशित साहित्य के उत्खनन, संकलन और प्रकाशन

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 27

का कोई विचार मेरे मन में नहीं आया। 1980 में केदारजी एक समारोह में भाग लेने इलाहाबाद आए – तब तक मैं बाँदा छोड़ चुका था और इलाहाबाद में रह रहा था। हिन्दुस्तानी एकेडमी में कार्यक्रम था – कार्यक्रम सम्पन्न होने के बाद मैं केदारजी के साथ उनके प्रकाशक शिवकुमार सहाय के कर्नलगंज वाले आवास पर गया। केदारजी के जरिये सहायजी से परिचय हुआ। धीरे-धीरे यह परिचय निकटता में बदलता गया। 11, 12, 13 सितम्बर 1981 को म. प्र. प्रगति. ले. संघ ने 'महत्व केदारनाथ अग्रवाल' शीर्षक से एक आयोजन किया था। मैं भी आमंत्रित था। उसी यात्रा के दौरान उनके अब तक के अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित करने की योजना बनी। (तफसील के लिए 'कहें केदार खरी-खरी' – सं. अशोक त्रिपाठी, साहित्य भंडार, इलाहाबाद संस्क. 2009 की 'कैफियत' शीर्षक भूमिका देखें।)

इलाहाबाद में आयोजित सन् 1965 में 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' के प्रकाशानोत्सव के 26 वर्ष बाद केदारजी पर केन्द्रित तब तक का यह सबसे महत्वपूर्ण आयोजन था। इसमें नागार्जुन, शमशेर, त्रिलोचन, डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, केदारनाथ सिंह, अशोक वाजपेयी, शील समेत म. प्र. के सभी रचनाकार-आलोचक तथा म.प्र. के बाहर के अन्य लेखक गणों ने केदारजी की कविता पर तीन दिन तक लम्बी बहस की। इसका पूरा ब्यौरा 'जिऊंगा जिंदगी अभी और अभी और' के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित भी हुआ है।

इसी आयोजन के दौरान संभवतः राजेश जोशी के घर पर धनंजय वर्मा, भगवत रावत, कमला प्रसाद, राजेश जोशी और अशोक वाजपेयी आदि ने केदारजी से एक लम्बी बातचीत रिकॉर्ड की थी। इसी कार्यक्रम में संभवतः पहली बार, केदारजी आत्मविश्वास से लवरेज, खुलकर अपनी रचना –प्रक्रिया, अपने परिवेश और अपनी कविताओं की चर्चा की। खूब कविताएँ भी सुनाई। इसी कार्यक्रम में 'कहें केदार खरी-खरी' (सं. अशोक त्रिपाठी, पहला संस्करण –1983) का बीजारोपण हुआ था। यहीं पर डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने कहा था कि केदार की कविताओं में व्यंग्य नहीं मिलता। जबकि अपने 'प्रगतिवाद' नामक लेख में नामवरजी ने लिखा था कि 'व्यंग्य दो ही कवियों ने लिखे हैं, नागार्जुन और केदार ने।' 'त्रिपाठीजी की टिप्पणी ही 'कहें केदार खरी-खरी' की बायस बनी।

मैं दिसम्बर 1981 में बाँदा आया। अपने मित्र अश्विनीकुमार उपाध्याय के यहाँ डेरा डाला। क्योंकि यह प्रकाशक द्वारा या कवि द्वारा प्रायोजित यात्रा नहीं थी। सौ प्रतिशत निजी खर्च पर निजी यात्रा थी। प्रातःकाल 8.00 बजे से लेकर रात के 8.00

28 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

बजे तक अनवरत इधर-उधर बिखरी सामग्री संकलित करता – केवल दोपहर को भोजन के लिए अपने मित्र के यहाँ जाता, उस समय वे बाँदा कालेज में भौतिकी के प्रवक्ता थे। बाद में भारतीय वन सेवा में उनका चयन हो गया। यह काम पूरे एक महीने चलता रहा। जो भी सामग्री मिली उसे इलाहाबाद ले गया और फिर योजनानुसार उसका संपादन-प्रकाशन होता रहा।

1965 में 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' के प्रकाशन से उनके मूल्यांकन में जो एक नयी ऊर्जा पैदा हुई थी कालांतर में लगभग सुप्तावस्था में चली गयी थी, हालांकि उनके संकलन कुछ कुछ अंतराल से लगातार प्रकाशित हो रहे थे। 'कहें केदार खरी खरी' के प्रकाशन से उनके पुनर्मूल्यांकन का एक नया दौर शुरू हुआ। इसमें म.प्र. प्रगतिशील लेखक संघ की अग्रणी भूमिका थी। 1986 में जब बाँदा में केदारजी का 75वां जन्म दिन व्यापक रूप से मनाया गया – 'सम्मान : केदारनाथ अग्रवाल' शीर्षक से, तो उसमें बोलते हुए रामविलासजी ने जब यह स्थापना दी कि 'केदार की कविताओं में राजनीति की निर्णायक भूमिका है' – तो कहीं-न-कहीं उनके जेहन में 'कहें केदार खरी-खरी' जरूर रही होगी। उन्होंने इसे रेखांकित भी किया है – 'कहें केदार खरी खरी' में राजनीतिक बातें बहुत साफ-साफ कही गयी हैं, इसलिए यहाँ आज़ादी से पहले और बाद की कविताओं के आपसी सम्बंध को समझने में बहुत आसानी होगी।' (प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल' पृ. 31, साहित्य भंडार, इलाहाबाद सं. 2011) इसी तरह कविताओं की अंतर्वस्तु को केन्द्र में रखकर उनकी अब तक अप्रकाशित प्रेम-कविताओं का संकलन 'जमुन जल तुम' (सं. अशोक त्रिपाठी) 1984 में प्रकाशित हुआ इसमें केदारजी की प्रेम के पर्याय 'यौन क्रिया' से विकसित होता हुआ उनका प्रेम वासना का अतिक्रमण करता हुआ – रात-दिन, प्रलय-पुनर्जीवन को नकारता हुआ मौत को चुनौती देता है। इन दोनों कथ्य केन्द्रित संकलनों के बाद, रचना काल क्रम में शेष अप्रकाशित कविताओं के संकलन – 'जो शिलाएँ तोड़ते हैं,' (1986) 'बसन्त में प्रसन्न हुई पृथ्वी' (1996) तथा 'कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह' (1997) प्रकाशित हुए।

–3–

प्रगतिशील कविता के बालपन, किशोरावस्था, तरुणाई और प्रौढ़ता के साक्षी और प्रतीक श्री केदारनाथ अग्रवाल का जन्म 1 अप्रैल, 1911 को बाँदा जिले की बबेरू तहसील के कमासिन नामक ग्राम में हुआ था। उस समय कमासिन स्वयं तहसील था। सन् 1925-26 में कमासिन तहसील न रह कर गाँव और बबेरू जो पहले गाँव था, तहसील बन गया। वैसे तो हाईस्कूल के प्रमाण-पत्र में उनकी जन्मतिथि 6 जुलाई 1910

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 29

अंकित है, लेकिन कुंडली के अनुसार यह तिथि गलत है। विद्यालय में गलत तिथि लिखाने के दो कारण थे – एक तो यह कि पहली अप्रैल मूर्खों का दिन माना जाता है, दूसरा यह कि केदारजी को जब स्कूल में भरती किया जाने लगा तो ये निर्धारित उम्र से कम के थे।

केदारजी की माँ का नाम घसिट्टो देवी था, क्योंकि एक अंधविश्वास मूलक प्रथा के अनुसार उनकी माँ को, पैदा होते ही जमीन पर घसीटा गया था, इसलिए उनका नाम घसिट्टो पड़ गया। केदारजी भी इस प्रकार की अंधविश्वासी परम्पराओं के शिकार हुए। शैशवावस्था में केदारजी को बुरी तरह चेचक निकली। पूरा शरीर फफोलों से भर गया तो उनके बाबा श्री महादेव प्रसाद दिन भर उन्हें रूई कैं फाहों में लेकर घुमाया करते थे। टोटके के तौर पर उन्हें गाँव की एक पंडाइन दाई को दान दे दिया गया और फिर उन्हें उन्हीं से खरीदा गया। केदारजी दीर्घजीवी हों, इसके लिए उनके कान का एक हिस्सा भी बचपन में काट दिया गया था। उन्हें जीवित रखने के लिए इस तरह के अनेक टोटकों और मान-मनौतियों का सहारा लिया गया था। शैशवावस्था की इन घटनाओं के अलावा एक दो छोटी मोटी घटनाओं को छोड़कर उनके जीवन में कोई बहुत बड़ी उतार-चढ़ाव भरी घटनाएँ नहीं हैं। इतने महत्वपूर्ण व्यक्ति का इतना घटनाहीन जीवन देखकर आश्चर्य होता है।

बचपन से ही केदारजी को साहित्यिक और उत्सवधर्मी सम्पन्न वातावरण मिला। उनके बाबा श्री महादेवप्रसाद शहजादपुर (इलाहाबाद) निवासी थे, लेकिन अपने ससुर लाला प्रभूदास के इकलौते दामाद होने के कारण, उनके कारोबार की देख-रेख के लिए कमासिन में घरजमाई बन कर रह गये। इनके आ जाने से लाला प्रभूदास का व्यापार उन्नति करने लगा। इन्हीं लाला महादेव के पुत्र श्री हनुमानप्रसाद थे, जो केदारजी के पिता बने।

केदारजी के पिता श्री हनुमानप्रसाद शुरू से ही रसिक प्रवृत्ति के कला-प्रेमी व्यक्ति थे। उनके बचपन में एक बार मथुरा से एक रास मण्डली कमासिन आयी। उसकी रासलीला देखकर बालक हनुमानप्रसाद मण्डली के साथ जाने को मचल गये। इस स्थिति से उबरने के लिए इनके पिता लाला महादेव प्रसाद (पोद्दार) ने स्व0 पं0 रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' के पिता पं0 कुन्जबिहारी शुक्ल की मदद से घर के सामने रामलीला का शुभारंभ कराया, जिसमें वे खुलकर भाग लेने लगे और अपनी जिद छोड़ सके। रामलीला के ही कारण ही वह साहित्य और संगीत के संपर्क में भी आए। सितार और हारमोनियम वह स्वयं बजाने लगे। गाँव के शिक्षकों की संगति में प्राचीन काव्य-संस्कार से पूरी तरह

30 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

जुड़ गये। आगे चलकर उन्होंने बहुत-सी कविताएँ लिखीं। इनमें जो नष्ट होने से बच गयीं, उनका एक चुना हुआ संकलन पिता द्वारा दिये गए 'मधुरिमा' नाम से ही केदारजी ने 1985 में परिमल प्रकाशन से छपाया है, जिस पर हनुमानप्रसाद जी का कविनाम 'प्रेमयोगी मान' छपा है। मानजी ब्रजभाषा में कविता लिखते थे - कुछ काव्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा के प्रचलन और कुछ 'रसालजी' की मैत्री के प्रभाव के कारण। आगे चलकर श्री मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔधजी के साहित्य का अच्छा अध्ययन करने के बाद, इन्हें खड़ी बोली के संस्कार मिले। एक कब्रस्तान को साफ कर इन्होंने एक पुस्तकालय भी खोला था। बाहर से 'स्वतंत्र दैनिक', 'वेंकटेश्वर समाचार' 'प्रताप' तथा 'भारत' आदि अखबार आते थे। 'सरस्वती' तथा 'माधुरी' जैसी पत्रिकाएँ भी आती थीं। केशव, बिहारी, देव, पदमाकर, मतिराम, घनानंद, मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, जयदेव आदि की रचनाओं के साथ भूतनाथ, चन्द्रकांता और चंद्रकांता संतति आदि जासूसी-तिलस्मी और ऐय्यारी उपन्यास भी पुस्तकालय में रखे रहते थे।

केदारजी के बचपन में इनके घर पर घी-दूध बहुत होता था। सौ-डेढ़-सौ जानवर रहते थे। कपड़े और किराना की दूकान थी। लेन-देन का व्यापार भी था। घर के लोगों की उदार प्रवृत्ति के कारण, उधारी वसूलने के लिए कभी किसी पर मुकदमा नहीं चलाया गया और न ही जोर जबर्दस्ती की गयी।

घर के लोग हिन्दू रीति, धार्मिक परम्पराओं, रूढ़ियों और टोने-टोटकों का भरपूर पालन करते थे, लेकिन सांप्रदायिक विद्वेष नाममात्र को न था। होली, दीवाली, दशहरा, ईद, मुहर्रम पूरे गाँव में एक साथ मनाये जाते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों कौमों एक दूसरे के त्योहारों-जलसों में शरीक होती थीं। मुहर्रम पर ताजिए निकलने पर केदारजी के घर में लोगों को शरबत पिलाया जाता था। गाँव के आस पास के मन्दिरों और मजारों पर आए दिन मेले लगा करते थे। मेलों का उल्लास और उसकी बहुरंगी छटा कवि केदार के बालमन को बेहद आकर्षित करती थी। गाँव के स्कूल में भय और आतंक के बल पर पढ़ाई होती थी। पाठ याद न करने पर हरी-हरी लपलपाती सटैया (डंडी) से धुनाई होती थी, तमाचे जड़े जाते थे, मुरगा बनाया जाता, मेज के पाये के नीचे हाथ दबाने की धमकी दी जाती, जूते और लात के रूप में प्रसाद मिलता और आशीर्वाद के रूप में मिलती माँ-बहन की खालिस गालियाँ। केदारजी भी इन अनुभवों से अछूते न रहे।

जब केदारजी कक्षा तीन में थे, तो एक बार दशहरे के अवसर पर 'नगर-दर्शन' कार्यक्रम पर उन्होंने दो सवैये याद करके बड़े शौक से सुनाये। दूसरे ही

दिन सबेरे स्कूल में जब, हिसाब न लगा सकने पर पं० गिरिजादत्त ने, सवैया सुनाने को लेकर व्यंग्य कसते हुए, उनकी धुनाई की तो कविता सुनाने का शौक रफूचककर हो गया, जिसका असर लगभग अन्त तक रहा। वैसे भी केदारजी की याददाश्त बहुत अच्छी नहीं थी। शायद यही कारण है कि कविता पढ़ने में बहुत अच्छे कभी नहीं रहे : हमेशा औसत दर्जे के विद्यार्थी रहे : क्योंकि हमारे देश में शिक्षा का सम्बन्ध बुद्धि से नहीं याददाश्त (तोता रतंत-वृत्ति) से है।

शिक्षा-दीक्षा के ऐसे ही ग्रामीण माहौल में अधिकांश बच्चों की भाँति केदारजी भी कक्षा तीन तक पढ़े। काठ की पाटी को कालिख से रंगते, घुट्टे से घोटकर चमकाते, बोरके (दावात) की गीली खड़िया से, सेंटे की कलम से लिखते, ऊबने पर धूल में गोल दायरा बनाकर, उसमें मक्खी मारकर रखते, धूप सरक जाने का इंतजार करते, और छुट्टी होने पर 'आठ पाँच तेरा, भई छुट्टी की बेरा' चिल्लाते, पाटी, बोरका, बस्ता लटकाए, शकल को कालिख से कलूटी बनाये घर भाग जाते थे।

स्वभाव और रूचियों के विकास का क्रम बचपन में ही आरंभ होता है। दशहरे पर घर के सामने ही रामलीला होने से केदारजी की रूचि रामलीला और उसके पात्रों में उत्पन्न हुई। बहुत-से पात्र और दर्शक अपनी विशेषताओं के कारण उन्हें अंत तक याद थे। रावण का पार्ट करने वाले हनुमान सोनार, आदमी का सिर थाली में लेकर रोंगटे खड़े कर देने वाले 'घैयल' का स्वाँग दिखाने में पारंगत जादूगर पं० सीताराम, परशुराम बनने वाले और सुपाड़ी काटते-काटते औचक में ही 'हाई जम्प' लगाने वाले छरहरी काठी के मिडिल स्कूल मास्टर 'पंडितजी', लक्ष्मण-शक्ति के दिन राम का विलाप देखकर आँसू बहाते दर्शक पं० कुंजबिहारी शुक्ल ('रसाल' जी के पिता) इत्यादि। हलवाई शिवप्रसाद ने गाँव में नौटंकी की शुरुआत की थी। वह भी केदारजी की स्मृति के संगी थे। अनुष्ठान के अवसरों पर भागवत का सस्वर पाठ करने वाले 'पंडितजी' का स्वर आजीवन केदारजी के कानों में गूँजता रहा है। पारिवारिक कुलीनता के कारण केदारजी के घर के लोग, खासकर औरतें, कहीं आती जाती न थीं, इसलिए भागवत-कथा में भी आरती-चढ़ावा वगैरह औरतों के हाथों भिजवा दिया जाता था। धार्मिक निष्ठा और पारिवारिक कुलीनता के द्वन्द्व में पराजय धार्मिक निष्ठा के ही हाथ आती थी!

गाँव में इस सांस्कृतिक माहौल के साथ-साथ प्राकृतिक वातावरण भी था। ढाक का जंगल पास ही था। केदारजी अक्सर जंगल में निकल जाते और हिरनों का चौकड़ी भरना देखते या रात में सियारों की 'हुआँ-हुआँ' सुनते। बाल-सुलभ खेलों -

गुल्ली-डंडा, गोली, कबड्डी आदि- में रुचि स्वाभाविक थी। स्कूल के अखाड़े में कसरत और कुश्ती में भी वे जरूर शामिल होते लेकिन घी-दूध के सेवन के प्रति उदासीन होने से इस क्षेत्र में फिसड्डी ही साबित होते। जंगल या खेल के लिए घर की चोरी से निकल जाने पर जैसे तो डाट-मार का मलाल नहीं होता था लेकिन नाते-रिश्तेदारों के सामने मार खाने पर सम्मान को ठेस लगती थी। तीन पास करके गाँव छोड़ते-छोड़ते केदारजी के चाचा श्री मुकुंदलाल इलाहाबाद से क्रिकेट, पतंग और साइकिल भी गाँव ले आये थे।

केदारजी के मन पर भेदभाव के संस्कार बचपन से ही न थे। घर में या समाज में भेदभाव के जितने भी रूप प्रकट होते, सबके विरुद्ध केदार का बालमन अपने ढंग से विद्रोह करता। घर में कपड़े की दूकान थी लेकिन पहनने को सदैव मोटा कपड़ा ही मिलता। महीन और अच्छे कपड़े की साध बाबा से गिड़गिड़ाने पर भी कमासिन में पूरी न हो पायी। दूकान और लेन देन के व्यापारों से आमदनी भी भरपूर होती थी लेकिन उसमें बच्चों का कोई हिस्सा नहीं था। ननका हलवाई के यहाँ से बरफ़ी खाने के लिए केदारजी कभी-कभी गल्ले से दो-चार आने चुराकर अपना प्रतिरोध भाव व्यक्त कर देते थे। छोट-बड़े में भेदभाव इस हद तक था कि बड़ों के बाल महाबीर नाई के यहाँ अंग्रेजी कट में कटते थे और छोटों के बाल महादेउना नाई के यहाँ देसीकट में!

गाँव के अधिकांश लोग बहुत गरीब थे। उच्च या मध्यम वर्ग के लोग बहुत कम थे। केदारजी गरीब बच्चों के साथ खेलते, उनके घर आते-जाते और इस तरह एक-एक घर की गरीबी से बहुत अंतरंग रूप में परिचित होते रहे। इस परिचय का उनके बालमन पर ऐसा अमिट प्रभाव पड़ा कि बाद को जब उनका कवि प्रकट हुआ तब यह दुःख-दर्द और संघर्ष, हाड़तोड़ मेहनत, अमीरी की ओढ़ी हुई टसक की तुलना में गरीबी की सहजता, निर्मलता आदि उनकी काविता में हजार-हजार कंटों से फूट पड़ी। 'पैतुक सम्पत्ति' उसी की बानगी पेश करती है - जब बाप मरा तो यह पाया/भूखे किसान के बेटे ने :/घर का मलबा, टूटी खटिया,/कुछ हाथ भूमि-वह भी परती/चमरौंधे जूते का तल्ला,/छोटी, टूटी बुढ़िया औगी,/दरकी गोरसी, बहता हुक्का,/लोहे की पत्ती का चिमटा/कंचन सुमेरु का प्रतियोगी/द्वारे का पर्वत घूरे का,/बनिया के रुपयों का कर्जा/जो नहीं चुकाने पर चुकता/दीमक, गोजर, मच्छर, माटा-/ऐसे हजार सब सहवासी/बस यही नहीं, जो भूख मिली/सौ गुनी बाप से अधिक मिली/अब पेट खलाए फिरता है/चौड़ा मुंह बाए फिरता है/वह क्या जाने आज़ादी क्या ?/आज़ाद देश की बातें क्या ??

भेदभाव के विरुद्ध केदारजी बचपन से ही प्रेमभाव के दास थे। कुर्क अमीन मुंशी रामसहाय उन्हें बहुत प्यार करते थे। उनके घर ग्रामोफोन था। वे केदारजी को गोद में उठा ले जाते, कवाब खिलाते और ग्रामोफोन सुनाते। घर की नौकरानी बतसिया कहारिन के प्रेम के कारण उन्हें अपने घर के पकवानों से अधिक बतसिया कहारिन के घर की बासी रोटी और मट्ठा रुचिकर लगता था।

सन् 1911 से '21 तक इसी वातावरण में संस्कारित, गाँव की पाठशाला की मार से त्रस्त केदारजी अंग्रेजी पढ़ने की लालसा से 1921 में रायबरेली गये। वहाँ अपने बाबा गयाप्रसाद के साथ रहकर कक्षा चार में उन्होंने बड़े मनोयोग से पढ़ना और पाठ घोटना शुरू किया। गाँव आने-जाने का सिलसिला कुछ कम होने लगा। कमासिन जाना या तो बड़े दिन की छुट्टियों में या गरमियों में ही हो पाता। रास्ता बीहड़ था, रुकते-रुकाते, इलाहाबाद होते हुए जाना पड़ता था। इलाहाबाद में ऊँचामंडी मुहल्ले में एक संबंधी के यहाँ वे रुकते थे जहाँ 'रसाल' जी के भतीजे चंद्रमौलि शुक्ल से भेंट और उन्हीं से बालपत्रिका 'शिशु' लेकर पढ़ने का मौका मिलता। 'शिशु' की कविताएँ उन्हें प्रिय लगतीं। काव्यरुचि गाँव में ही विकसित हुई थी, गद्य के प्रति विशेष रुचि केदारजी में कभी नहीं रही।

सब सुविधाएँ होने पर भी जिस मार के भय से केदारजी गाँव छोड़कर रायबरेली पढ़ने गये, उसी से फिर सामना हुआ। अंग्रेजी के खलील मास्टर सौ-सौ जुमले एक साथ ट्रांसलेशन के लिए देते और काम पूरा न करने पर, बेंत से वह धुनाई करते कि देखकर रूह काँप जाती। इसी डर से केदारजी उनका काम, घर के दरवाजे पर पड़े, एक पत्थर पर बैठकर जरूर पूरा करते। भूगोल मास्टर रोज तो नहीं मारते थे, लेकिन जब लड़के कई बार लगातार काम करके न ले जाते, तो उनका भी 'प्यार से बच्चों का हृदय जीत कर पढ़ाने' का आदर्श हवा हो जाता और उसकी जगह पर खलील मास्टर का 'बिनु भय होइ न प्रीति' का सिद्धान्त आकर जम जाता। उनके बेंत का एक-एक निशान हाथ, पाँव, पीठ पर गिना जा सकता था। संस्कृत के पहलवान छाप 'मुचंडम' (यह नाम छात्रों का दिया हुआ था) पंडितजी का विश्वास पढ़ाई पर कम, बुद्धि तेज करने, स्मरण शक्ति बढ़ाने के नुस्खों पर अधिक था। बच्चों को भी वे नुस्खे बताया करते थे और रूप रटाया करते थे। न रटने पर शुद्ध भारतीय मुक्के का पराक्रम दिखाया करते थे।

केदारजी को इन कक्षाओं में आनंद न आता, उन्हें 'नेचर स्टडी' और 'मैनुअल ट्रेनिंग' की कक्षाएँ बेहद प्रिय थीं। नेचर स्टडी की कक्षा में क्यारियाँ बनाते, आलू बोते,

सब्जी लगाते, सिंचाई-गुड़ाई करते। उन्हें नरम-नरम मिट्टी बहुत अच्छी लगती। कॉपी पर पत्तियाँ चिपकाना इस कोर्स का हिस्सा था जिसने वनस्पतियों से केदारजी का घनिष्ठ परिचय कराया। मैनुअल ट्रेनिंग में कागज की नाव बनाते, रंग-बिरंगे कागजों से तरह-तरह के खिलौने बनाते। इन सब में उन्हें बहुत मजा आता।

उस समय केदारजी के निर्माण और विकास में रायबरेली की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। जब केदारजी वहाँ पहुँचे थे, तब रायबरेली पर उर्दू जवान और मुसलमानी तहजीब का बहुत प्रभाव था। ताजिए निकलते मर्सिया पढ़े जाते, लोग रोते-पीटते सड़कों पर निकलते। केदारजी उन्हें देखते सुनते और उनकी आँखें गीली हो जातीं।

गरीबी और भूख का तांडव केदारजी ने यहीं देखा और समझा। किसी गिरधारी लाला की कोठी में उनके पिता लाला शिवप्रसाद की बरखी थी। शहर के भूखों को बुलाया गया – लगा साक्षात भूख ही झुंड बनाकर आ गयी है। लोग खाते तो थे ही, पूड़ियाँ, कचौड़ियाँ, मिठाइयाँ अपने-अपने कपड़ों में चुराकर भी ले जा रहे थे। भूख का भयंकर रूप एक बार वे अपने गाँव कमासिन में भी देख चुके थे – जब गाँव के भूखे लोग, इनकी बाबा के गोदाम से पुराने महुवे को पाकर कृत-कृत्य हो गये थे और बाबा की जै-जै कार करने लगे थे, लेकिन संवेदना के स्तर पर भूख भवानी का जलजला वे यहीं (रायबरेली में) महसूस कर सके।

बाढ़ को देखकर उल्लास का अनुभव भी यहीं पर केदारजी को हुआ था, जब सई नदी में बाढ़ आई थी और किले तक पानी आ गया था। यहीं उन्होंने अन्य तमाम चीजें भी पहली बार देखीं मसलन-पतंगबाजी, बटेर-बाजी, तारा देवी का सर्कस आदि। रंडियों का परिचय भी केदारजी को सबसे पहले यहीं मिला – एक बार उनके एक रिश्तेदार इन्हें लिवाकर एक घर में घुसे। वहाँ एक सारंगी वाला, एक तबला वाला तथा एक औरत थी। यह देखकर केदारजी भाग खड़े हुए और सीधे उनकी पत्नी के पास पहुँचकर सारा आँखों देखा हाल कह सुनाया। इसके बाद उन पर जो भी बीती हो, केदारजी ने सुधि नहीं ली।

यहाँ एक दिलचस्प बाकया हुआ-सूरजपुर मुहल्ले के हनुमान मंदिर में केदारजी और इनके साथी परीक्षा पास करके प्रसाद चढ़ाने जाते तो वहाँ का पुजारी बरफी सब निकाल लेता और केवल बताशा छोड़ देता। एक बार इन लोगों ने सलाह करके दोनों के निचले हिस्से में बरफी रखी और ऊपर बताशा रखा। बेचारा पुजारी इनकी चाल नहीं समझ सका, ऊपर के बताशे ही पा सका। मंदिर से निकलते ही, अपनी इस चाल की सफलता पर सब लोग ठहाका मार कर हँसे और खूब बरफी खाई।

यहीं पर केदारजी को अपना काम खुद करने की ज़रूरत और आदत पड़ी। अपना कपड़ा वे खुद, अपने बाबा की ससुराल की कोठी के कुएँ पर अपने हाथ से पानी खींचकर, उन्हीं के साबुन से, बिना उनसे पूछे, उसे अपना ही समझकर, साफ करते। धोबी के यहाँ, जहाँ तक उन्हें याद है, कपड़े कभी नहीं धुलाए। किसी की मदद के बगैर अपना काम अपने हाथ से करने की यह आदत अन्त तक बनी रही और उनकी यही आदत उनकी मौत का कारण बनी।

यहीं पर केदारजी ने पहले पहल औरतों की चिट्ठियाँ लिखने का काम किया और उनके तमाम अनबूझ पक्षों को जानने समझने का अवसर मिला। वे यह जान सके कि सिर्फ औरत ही मर्द के लिए नहीं होती, मर्द भी औरत के लिए होता है। और तभी से अपने गाँव की हृष्ट-पुष्ट सुनदी और ननकी जैसी पनिहारियों को अपने-अपने सिर पर पानी से भरे दो-दो तीन-तीन पीतल के हंडे रखे, काँच में गगरा दबाए, एक हाथ में घड़ा लटकाए, एक साथ लेकर, बलखाते चलता देखकर, केदारजी मतिराम, देव, पद्माकर, बिहारी के छंदों से प्राप्त नारी सौंदर्य की भावना को साक्षात अनुभव कर सके।

इसी बीच केदारजी के पिता घर से रुष्ट होकर पत्नी के साथ कटनी (म.प्र.) चले गये। केदारजी की छठी से आगे की शिक्षा वहीं शुरू हुई। यहीं रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के पिता पं० मातादीन शुक्ल से परिचय हुआ जो उनके पिता के मित्र थे और बाद में 'माधुरी' के संपादकीय विभाग में चले गये थे। उन सबकी बातचीत सुनकर केदारजी को भी कविता-कहानी लिखने का चाव हुआ। उन्होंने 'चूहे का ब्याह' तथा चिड़िया आदि पर कविता-कहानी लिखी, लेकिन 'शिशु' से अप्रकाशित वापस चली आयीं, फिर भी केदारजी निराश होने की बजाय प्रसन्न ही हुए। कटनी में ही रहते हुए उनका ब्याह भी हो गया। शादी के समय वे सातवीं कक्षा के छात्र थे।

कटनी में एक साल रहने के बाद ये अपने पिताजी के साथ जबलपुर चले गये। इनके पिता व्यवसाय के रूप में वैद्यकी करते और रुचि के अनुसार काव्य-चर्चा और काव्य-रचना में समय देते। जबलपुर में उस समय अच्छा साहित्यिक वातावरण था। मिलौनीगंज मुहल्ले के एक बाग में पं० गंगाविष्णु पाण्डेय, व्योहार राजेन्द्र सिंह, पं० कामताप्रसाद गुरु, पं० प्रेमनारायण त्रिपाठी, मंगलप्रसाद विश्वकर्मा, गुलाबप्रसन्न शाखाल, तथा केदारजी के पिताजी आदि इकट्ठा होते और साहित्य चर्चा होती, समस्यापूर्तियाँ होतीं। केदारजी भी जाते थे। सबसे पहले उन्होंने सुभद्राकुमारी चौहान को जबलपुर में देखा था। इस गोष्ठी में सबको कविता पाठ करते देखकर केदारजी को भी कविता सुनाने का शौक लगा और उन्होंने अपने पिता की एक रचना (समस्यापूर्ति 'तेग शिवराज की')

पं० कामताप्रसाद गुरु की गोद में बैठकर सुनाई, हालाँकि सुनाने में सारी दुर्गति हो गयी थी।

यहीं पर केदारजी ने निराला-विरोध का स्वर सुना। निरालाजी द्वारा संपादित 'मतवाला' पढ़ा और देखा। उस समय कविता में ब्रजभाषा का ही बोलबाला था। खड़ी बोली की रचनाएँ भी हो रही थीं, लेकिन बुजुर्गों के विरोध और उनके दबदबे के कारण उभर नहीं पा रही थीं। ऐसे में निरालाजी का छंदों के बंधन से कविता को मुक्त कराना भला पुराने लोगों को क्यों कर रुचिकर लगता, इसलिये निराला के मुक्त छन्दों को लेकर तरह-तरह के व्यंग्य कसे जाते। केदारजी को ये व्यंग्य, उस समय मजेदार लगते। लेकिन, एक बात उन्हें आश्चर्यचकित करती कि पुराने लोग भी निराला की कविताएँ पढ़ते ज़रूर थे। यहीं पर गुलाबप्रसन्न शाखाल, जो आगे चलकर सेठ गोविन्ददास के सेक्रेटरी हो गए थे, केदारजी को निराला द्वारा संपादित –“रवीन्द्र कविता कानन” पढ़कर सुनाया करते थे। बाद में केदारजी जब शिक्षा प्राप्त करने हेतु कानपुर में रह रहे थे, तो यह उनसे मिलने कानपुर भी गये थे।

सन् 1927 में आठवीं कक्षा पास करने के बाद, केदारजी अपने पिताजी के साथ इलाहाबाद आए और लाए ब्रजभाषा और निराला-विरोध का संस्कार। केदारजी इलाहाबाद में ईविंग क्रिश्चियन कालेज में नवीं में दाखिल हुए, ननिहाल नैनी में थी, वहीं रहने लगे। पिता अपने मित्र 'रसालजी' के पड़ोस में ऊँचामंडी में रहते थे। रसालजी द्वारा स्थापित 'रसिक-मंडल' में कवित्त-सवैया और समस्यापूर्ति वाले ब्रजभाषा के कवि आते थे। इन्हीं दिनों रत्नाकरजी ने "उद्धव शतक" लिखा था। 'रसाल' जी उसकी भूमिका लिख रहे थे। हरिऔधजी, ठाकुर गोपालशरण सिंह, पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर' आदि से उनकी यहीं भेंट होती थी। केदारजी इन गोष्ठियों के असर से ब्रजभाषा की ओर झुके। नवीं कक्षा में ही पं० माखनलाल चतुर्वेदी की मालिन वाली कविता के वज़न पर तोते पर लिखी केदारजी की एक कविता 'सेवा' में छपी। 'सरस्वती' के माध्यम से यहाँ खड़ी बोली काव्य से भी केदारजी का परिचय स्थापित हुआ। यहाँ न सिर्फ़ उनका साहित्यिक समाज विस्तृत हुआ, बल्कि विभिन्न धाराओं के साहित्य से व्यक्तिगत परिचय भी बढ़ा।

कक्षा 9 तक केदारजी हरदम हँसते रहते थे लेकिन आगे चलकर 10वीं में गौना होने और कविता के प्रति गंभीर होने के बाद उनके स्वभाव में भी गंभीरता आ गयी। दसवीं कक्षा में केदारजी मामा का घर छोड़कर ईविंग क्रिश्चियन कालेज के हॉस्टल में आ गये। पं० केशवप्रसाद पाठक से उनकी यहीं मुलाकात हुई। वह उस समय इण्टर के द्वितीय वर्ष में थे। इस समय केदारजी विद्यार्थी और पति की दुहरी जिम्मेदारी सँभाल

रहे थे। केदारजी को पत्नी का अगाध प्रेम मिला। वे जब इण्टर में थे तभी उन्हें एक कन्या-रत्न की प्राप्ति हुई।

इण्टर तक आते-आते केदारजी कवित्त सवैये लिखने लगे थे और 'सेवा' तथा कालेज मैगज़ीन में छपने भी लगे थे। 'उमर खय्याम' की रुबाइयों का फिटजेराल्ड ने 'गोल्डेन ट्रेजडी' नाम से अनुवाद किया था। उसके कुछ छन्दों का हिन्दी अनुवाद केदारजी ने भी किया, जो कालेज मैगज़ीन में छपा और प्रशंसित भी हुआ। काव्य के प्रति उत्साहित काने में इनके हिन्दी प्राध्यापक और 'प्रसाद की नाट्यकला' (सन् 1931 ई०) जैसी चर्चित कृति के लेखक पं० रामकृष्ण 'शिलीमुख' का विशेष योगदान है, तो राजनीतिक चेतना जागृत करने में भूगोल के मास्टर पं० रामनारायण का जो 'भूगोल' नाम का अखबार निकालते थे और गाँधीजी से प्रभावित होकर, गाँव-गाँव काँग्रेस का झंडा उठाये घूमते थे। यह बड़े सख्त अध्यापक थे। इनके सामने पतलून पहनने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। केदारजी इनके साथ गाँव-गाँव घूमा करते थे। इण्टर तक आते-आते केदारजी खड़ी बोली और ब्रजभाषा के संधि-स्थल पर खड़े थे। हरिऔध के 'प्रिय प्रवास' के छन्दों के प्रवाह में ब्रजभाषा का मोह अभी बहने को ही था कि पंतजी का 'पल्लव' (सचित्र) इण्डियन प्रेस से निकला। केदारजी ने कालेज पुस्तकालय से उसे लेकर पढ़ा तो रहा-सहा मोह भी बह गया। उन्हें 'पल्लव' की कविताओं में ब्रजभाषा की मिठास मिली। वे खड़ी बोली के हो गये और खड़ी बोली उनकी हो गयी। इण्टर में ही सबसे पहले केदारजी ने हिन्दू हॉस्टल (इलाहाबाद विश्वविद्यालय) की एक गोष्ठी में पंतजी को देखा। हरिऔध जी अध्यक्षता कर रहे थे। पंतजी को देखकर केदारजी ने उन्हें 'सुन्दर युवती' कहा, तो रसालजी ने कहा 'अबे, ये पंत हैं, युवती नहीं।' इण्टर में ही केदारजी ने अपने कालेज के 'टूकर' हाल में निरालाजी के दर्शन किये, लेकिन उस समय निरालाजी इन्हें आकर्षित नहीं कर सके। इस समय केदारजी 'बालेंदु' नाम से गीत लिखते थे, जो 'माधुरी' में और कभी-कभी 'सरस्वती' में छपते थे। 1930 में 'माधुरी' में उनकी तस्वीर के साथ कविता छपी। बाद में दो गीत कवर पर भी छपे थे। "धीरे उठाओ मेरी पालकी" गीत सबसे पहले 'माधुरी' में ही छपा था। बी० ए० में आने तक नये कवियों में वे स्वीकार किये जाने लगे थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में ही नरेन्द्र शर्मा और शमशेर से उनका परिचय हुआ, ये सब एक ही क्लास में थे। बाँदा वासी कवि कथाकार ठा० वीरेश्वर सिंह एम० ए० के छात्र थे। सभी लोग हिंदू हॉस्टल में रहते थे। केदारजी कमरा नं० 114 में रहते थे। नाटककार भुवनेश्वर से भी उनकी मुलाकात यहीं हुई थी। इलाहाबाद उन दिनों साहित्यिक गतिविधियों का केन्द्र था। विभिन्न प्रकार की

गोष्ठियों में विभिन्न प्रकार के लेखकों से संपर्क का मौका नये से नये रचनाकार को मिलता था। रामकुमार वर्मा के घर एक गोष्ठी में केदारजी ने मालवीयजी की उपस्थिति में 'गुल्लाला' वाली कविता सुनायी थी।

गोष्ठी में कविता सुनाना और प्रशंसित हो जाना तो केदारजी के लिए संभव था लेकिन कवि-सम्मेलनों में वे साँसत अनुभव करते थे। बनारस में युनिवर्सिटी में आयोजित एक कवि-सम्मेलन में वे नरेन्द्र-शमशेर-बच्चन के साथ गये थे - वहाँ प्रसादजी भी थे। केदारजी तो किसी तरह एक कविता सुनाकर झटपट बैठ गये, लेकिन बच्चन जी खूब जमे। केदारजी को यह देखकर बड़ा अचंभा हुआ। बाराबंकी में अंचलजी द्वारा आमंत्रित कवि-सम्मेलन में नाटकीय घटनाएँ हो जाने से केदारजी कविता सुनाने से बच गये तो उन्हें बड़ी रहत मिली। चालीस रुपये मिल गये, यह अतिरिक्त संतोष था।

केदारजी पंतजी से प्रभावित थे पर उनके घर आते-जाते न थे, अलबत्ता नरेन्द्र शर्मा के साथ पंतजी ही एक बार उनके कमरे में आये थे। बी० ए० के दोनों वर्षों में केदारजी 'हिन्दी साहित्य परिषद' के सचिव थे। उन्होंने अपनी गोष्ठियों में विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' और मुंशी प्रेमचंद जैसे लेखकों को आमंत्रित किया। कौशिकजी की उपस्थिति में केदारजी ने 'बज्र की छाती' नामक कहानी और प्रेमचन्द की उपस्थिति में वीरेश्वर सिंह ने 'उँगली का घाव' कहानी सुनाई थी। नरेन्द्र-शमशेर से उनकी मित्रता इन वर्षों में गाढ़ी होती गयी। केदारजी बताते हैं कि शमशेर नरेन्द्र को इतना चाहते थे कि उनकी पेंटिंग्स में पुरुष चेहरा सदैव नरेन्द्र का ही रहता था। शमशेर ने अंग्रेजी कवियों से केदार का परिचय कराया। केदारजी को कीट्स का आकर्षण था, शैली से उनकी पसंद मेल न खाती थी। डॉ० रामविलास शर्मा से मैत्री होने पर यह पसंद और दृढ़ हुई। उनकी रुचियों के इस विकास में धीरे-धीरे पंतजी का जादू भी कम होता गया, निराला से उनका प्रेम बढ़ता गया।

शमशेर की एक आदत केदारजी को इतनी प्रिय थी कि उसे उन्होंने अपना लिया। शमशेर न दूसरे की निंदा-स्तुति में पड़ते थे, न खुद दूसरों की निंदा-स्तुति की परवाह करते थे। वे अपने में मुग्ध अपना काम करते जाते थे।

केदारजी की साहित्यिक व्यस्तता इतनी बढ़ी की वे 1934 में बी० ए० फाइनल में अंग्रेजी-प्रोजेक्ट के पेपर में फेल हो गये। 1935 में हिन्दी अंग्रेजी, दर्शनशास्त्र तथा अर्थशास्त्र लेकर उन्होंने बी० ए० पास किया और इलाहाबाद छोड़कर डी. ए. वी.

कालेज, कानपुर चले गये। 1938 में 'लॉ' की डिग्री लेकर बाँदा लौटे और वहीं के हो रहे।

कानपुर का जीवन केदारजी के लिए बहुत महत्वपूर्ण था। मजदूर जीवन की परिस्थितियों से और मजदूर वर्ग की विचारधारा-मार्क्सवाद-से उनका परिचय और आत्मीयता कानपुर में ही हुई। तम्बाकू के व्यापारी कवि बालकृष्ण बलदुआ के इर्द-गिर्द प्रगतिशील विचारों और साहित्यिक संस्कारों का माहौल था। उनके संपर्क में केदार ने बहुत-सा विदेशी साहित्य भी पढ़ा। ग्रीक कवयित्री सैफो की रचनाओं से उन्हें प्रेरणा मिली कि लम्बी नहीं, छोटी कविताएँ ही लिखी जायें। संगीत समारोहों में नियमित आवागमन से शास्त्रीय संगीत की रुचि और समझ में अभिवृद्धि हुई। पं० छैलबिहारी दीक्षित 'कंटक', डॉ० मुशीराम शर्मा 'सोम' आदि से भी परिचय हुआ। छायावाद पर केदारजी ने यहाँ रहते हुए एक लेख लिखा जिससे उन्हें एक मेडल मिला और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' बहुत प्रभावित हुए। वह लेख 'माधुरी' में प्रकाशित भी हुआ।

कानपुर में ही 'वीणा' के प्रथम पृष्ठ पर उनकी कविता 'मैं क्यों प्रेम छिपाऊँ' प्रकाशित हुई।

निराला एक कवि सम्मेलन में कानपुर पधारे जहाँ केदारजी का पहली बार उनसे व्यक्तिगत संपर्क हुआ। निरालाजी केदारजी के ही कमरे में रुके थे। दोनों साथ-साथ कवि सम्मेलन में गये थे। केदारजी निरालाजी के पास लखनऊ आने-जाने लगे। निरालाजी के व्यवहार की जो छाप केदारजी पर सबसे अधिक पड़ी, वह है आतिथ्य-सत्कार। पहली बार जब केदारजी अपने दो मित्रों के साथ साइकिलों पर कानपुर से लखनऊ मिलने गये, तब महाकवि की आत्मीयता ने सबके मंत्रमुग्ध कर दिया। इन लोगों को होटल में खाना खिलाने का आदेश देकर वे पानी और झाड़ू लेकर अपने आवास की सफाई में जुट गये। लौटकर जब केदारजी ने निरालाजी को इस हाल में देखा तो सुखद आश्चर्य से भरकर उनके और मुरीद बन गये। इस समय निरालाजी नारियल वाली गली में रहते थे। निरालाजी के ही यहाँ उनका परिचय डॉ० रामविलास शर्मा से हुआ। वे उस समय कीट्स पर थीसिस लिख रहे थे। दोनों की प्रगाढ़ मैत्री आजीवन जीवंत रही।

सन् '38 में केदारजी वकालत पास करके बाँदा आये। अपने संयुक्त परिवार के मुखिया और बाँदा के ख्यातनामा वकील मुकुंदलालजी के साथ वकालत शुरू की। उस समय उनके पास यदि पाँच सौ रुपये होते तो वे आवश्यक राशि जमा करके

तभी 'एडवोकेट' बन गये होते पर मात्र पचीस रुपये जमा करके 'प्लीडर' ही बन सके। स्वाभिमान के कारण चाचा से रुपये माँगे नहीं और चाचा ने अपने आप दिये नहीं। चाचा का अनुशासन परिवार में कठोर था और कविता से उन्हें विकट चिढ़ थी। फलस्वरूप, केदारजी एक ओर रात में छिपकर कविता लिखने लगे और दूसरी ओर केन नदी के किनारे नियमित सैर करने लगे। स्वभाव भी धीरे-धीरे अंतर्मुखी हो गया। केन उन्हें आत्मीयता, राहत और उन्मुक्ताता देती। वह उनकी सखी बनती गयी, उनकी संवेदनाएँ केन से जुड़कर कविता में ढलने लगीं। प्रकृति के साहचर्य से केदारजी में एक नया उत्कर्ष आया। चाचा की भूमिका केदारजी के लिए नकारात्मक ढंग से लाभप्रद हुई लेकिन उनके दबदबे को केदारजी का विद्रोही मन कभी स्वीकार न करता था। इसीलिए 1950 के आसपास जब बाबू मुकंदलालजी बैरिस्टर के रूप में इलाहाबाद चले गये तो उन्हें कुछ स्वतंत्रता मिली। बीच-बीच में कभी कभार वह किसी खास मुकदमें में बहस के लिए बांदा आते भी रहे। मुक्ति की यह अनुभूति 22 नवम्बर 1959 को एक कविता के रूप में प्रकट हुई – "छाँह की छतुरी फटी / आलोक बरसा / अब मिला जिसके लिए / मैं नित्य तरसा।"

अदालत में कवि को जीवन के कटु सत्य से और आदमी के स्वभाव के उज्ज्वल-मलिन पक्षों के एक-एक रंगरेशे से साक्षात्कार करने का अवसर मिला। इन अनुभवों ने केदारजी की रचना को बहुत गहराई से प्रभावित किया।

सन् 1938 में नरेन्द्र शर्मा के साथ पंतजी ने 'रूपाभ' निकाला तो उसमें केदारजी की 'स्टैच्यू' कविता छपी जो जबलपुर के विक्टोरिया पार्क की विक्टोरिया की मूर्ति पर आधारित है। 'बसन्ती हवा' भी सबसे पहले 'रूपाभ' में ही छपी थी। सन् 38 के आसपास ही नरोत्तम नागर ने जब 'उच्छृंखल' निकाला तो उसमें भी केदारजी ने खूब लिखा। 'हंस', 'नया साहित्य', 'नया पथ', तथा 'जनयुग' आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेखों और कविताओं का प्रकाशन हुआ। केदारजी की कविता 'कामधेनु' सी कांग्रेस अब सुरसा जैसे मुँह बाएँ हैं— कांग्रेस के बदलते हुए जनविरोधी दमनात्मक चरित्र पर चोट करती हुई, इलाहाबाद में श्री कृष्णदास के घर पर रामविलासजी तथा अन्य मित्रों के तात्कालिक दबाव पर 'हंस' के विशेषांक के लिए लिखी गयी थी।

कविता में तो केदारजी खूब चमक रहे थे, लेकिन वकालत में जम नहीं पा रहे थे और पारिवारिक दबाव बढ़ रहा था। वकालत में सफल न हो सकने के कारण, केदारजी बहुत परेशान थे जिसका जिक्र उन्होंने अपने मित्र रामविलासजी से भी किया।

ऐसे उदासी के क्षणों से उबरने के लिए उन्होंने बाबू वृन्दावनलाल वर्मा के यहाँ जाने की सलाह दी, लेकिन केदारजी पलायनवादी नहीं बने और खुद संघर्ष करके स्थितियों पर विजय हासिल की। वकालत और साहित्य दोनों में ख्याति अर्जित की। वकालत में सफलता और प्रतिष्ठा का उदाहरण यही है कि 1963 में वे सरकारी वकील बना दिये गये और 4 जुलाई 1970 तक इस पद पर कार्यरत रहे। केदारजी सरकारी वकील तो बन गए पर उसके प्रचलित आभिजात्य को ओढ़ने में उनका जन-प्रेम विद्रोह कर गया। उनकी दिनचर्या वही रही जो पहले थी। क्लबों, सोसाइटियों में जाने तथा अधिकारियों और जजों की जी हुजूरी एवम् दरबारगीरी के बरक्स, नीलम मेडिकल स्टोर में जाकर बैठना, चाय पीना, गप्प लड़ाना बदस्तूर जारी रहा। सरकारी वकील होने का मतलब होता है कोठी और कार का इजाफा। पर केदारजी जैसे फटेहाल पहले थे वैसे ही तब भी रहे। लेकिन जनता में, जजों और सरकारी अधिकारियों में उनकी ईमानदारी के कारण उनके रुतबे और उनके सम्मान में इजाफा हुआ।

सरकारी वकील के रूप में पहले 20 रु प्रति मुकदमें की दरसे तथा बाद में 40 रु प्रति मुकदमें की दर से मेहनताना मिलता था।

वकालत प्रारम्भ करने के तीन-चार साल बाद केदारजी बीमार हुए। प्राकृतिक चिकित्सा के लिए लखनऊ गये। निरालाजी तब मकबूल गंज मुहल्ले में वहीं रहते थे। रामविलासजी भी वहीं थे। कीट्स पर थीसिस लिख रहे थे डॉ० सिद्धान्त के अधीन। केदारजी उनसे खूब बहस करते और मार्क्सवाद के वैज्ञानिक जीवन दर्शन को अधिकाधिक आत्मसात करते। अमृतलाल नागर, गिरिजाकुमार माथुर, नरोत्तम नागर, बलभद्र प्रसाद दीक्षित 'पट्टीस' आदि से भी मैत्री और घनिष्ठता इसी यात्रा के दौरान ही हुई। यहीं उन्होंने रामविलासजी के हाथ की हथपोई रोटी खायी जिसकी मिठास कवि के हृदय पर अंकित हो गयी, और कविता में व्यक्त होकर अमर बन गयी –

'स्वादी संसारियों को मेरी कविताएँ, दोस्त ! / वैसी ही रूचेंगी जैसे / रोटी हथपोई मुझे / परवर के सूखे साग / कडुवे मिरचे के साथ / खूब रूचीं / तुमने जो बनाई थीं।'

स्वास्थ्य लाभ कर लखनऊ से कर्बी (बाँदा) आये और 'चन्द्रगहना (एक बाग) से लौटती बेर, कविता की सामग्री बटोरी। इसके बाद केदारजी बाँदा में ही रहे। कभी कभार मित्रों के यहाँ जाते रहे बस। रामविलासजी के यहाँ आगरा कई बार गये। मालकिन (रामविलासजी की स्वर्गीय पत्नी) के हाथ के बनाए गरम-गरम पराठों और सीझी हुई खीर की सोंधी गंध, अक्सर उनकी बात-चीत में, आती रहती थी।

केदारजी कविता लिखने के साथ-साथ साहित्यिक समारोहों का आयोजन भी करते रहते थे। उन्होंने श्री वीरेश्वर सिंह के साथ मिलकर 'साहित्य परिषद' की स्थापना की जिसके माध्यम से वे राहुलजी और उनके तत्कालीन सेक्रेटरी नागार्जुनजी से जुड़े। बाँदा प्रशासन की ओर से बतौर संयोजक अनेक कवि सम्मेलन किए, गोष्ठियाँ की। निरालाजी भी 2-3 बार आये। निरालाजी को केदारजी ने कभी अपनी कविताएँ नहीं सुनाई। निरालाजी ने केवल उनकी कविताएँ पढ़ी। उनकी कविताएँ पढ़कर निरालाजी ने कहा "दो तीन घंटे रोज कविता को दो, तो अच्छी कविताएँ लिख सकते हो, प्रतिभा है जरूरत है प्रतिभा को मँजने की।"

सन् 1973 में एक बड़े जमावड़े के साथ केदारजी ने अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन बाँदा में सम्पन्न कराया। महादेवीजी भी उसमें आयी थी। अब तक कवि केदार जनवादी कवि के रूप में विश्व विश्रुत हो चुके थे। उनकी कविताओं का रूसी, जर्मन, चेक तथा अंग्रेजी में अनुवाद हो चुका था। सन् 1973 ई० में उनके काव्य-संकलन 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' की उसके प्रगतिकामी जनवादी रुझान, संघर्ष के प्रति सचेत दृष्टि और भविष्य की बेहतरी के प्रति कड़ियल आस्था के उद्घोष, भारत की धरती की सौंधी गंध तथा भारत की ही नहीं समूचे विश्व की करोड़ों-करोड़ जनता की जुझारू चेतना की वाणी का गौरवपूर्ण सम्मान करते हुए 'सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। पुरस्कार की सार्थकता प्रमाणित की गयी। सन् 1974 में केदारजी रूस की यात्रा पर गये और वहाँ उन्हें पूरा रूस गुलाबों का देश लगा। और उन्होंने वहाँ चारों ओर खुशहाली, रंगीनी और हरियाली के कहकहे सुने। लौटकर एक संस्मरणात्मक पुस्तिका लिखी 'बस्ती खिले गुलाबों की'।

25.4.1977 को केदारजी के पिता का उनके गाँव कमासिन में निधन हो गया।

सन् 1981 में उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने उनकी सेवाओं के पुरस्कार-स्वरूप पन्द्रह हजार रुपये की अभिनन्दन-प्रतीक-राशि प्रदान करके, अपने को गौरवान्वित किया।

सितम्बर 1985 के अंतिम सप्ताह में उनकी पत्नी कुरसी से गिर गयी थीं। बाएँ कूल्हे की हड्डी टूट गयी। कुछ दिन बाँदा में इलाज चला पर कोई फायदा न होता देखकर उन्होंने अपने बेटे और बेटियों को सूचना दी। सब लोग आनन फानन में पहुँच गये। उनके बेटे अशोककुमार अग्रवाल माँ को मद्रास ले गये और 9 नवम्बर को विजय नर्सिंग होम में भर्ती कराया ! 10.12.1985 को रामविलासजी को पत्र लिखा - 'संकट गहरा रहा है/वह बच नहीं सकती/' 22.12.1985 को रामविलासजी ने उन्हें ढाँढस

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 43

ढाँधाने के लिए झाँसी के पठानों (रानी के अंगरक्षक) के संघर्ष का वर्णन भेजा। 7.1.1986 को केदारजी ने लिखा - 'कभी कभी धैर्य टूटने लगता है। फिर जल्दी जल्दी अपनी चेतना पाने का प्रयास करता हूँ और स्वयं जीते हुए अपनी प्रिया प्रियंवद को जिलाए रखता हूँ। उनकी देह तो न रहेगी पर चेतना में वह हमेशा जिएँगी। यही लड़ाई लड़ रहा हूँ। मैं इस लड़ाई में मौत की हार ही देखता हूँ।'

26.12.85 को मेरे पास भेजे एक अंतर्दृशीय में उन्होंने लिखा 'आँखे नहीं खोलती। बोल नहीं पाती। मौन पड़ी हैं प्रिया प्रियंवद, / बिना बोल का मुँह खोले / प्यार पुलक की आँखे मीचे, / दुख में डूबी सासों लेती, / पास खड़ा मैं, / कविताओं का घेरा डाले, / महाकाल को रोक रहा हूँ / यहा न आए। उनका जीवन जय पाये।'

पर 'कविताओं का घेरा' उनके पार्थिव शरीर को बचा नहीं पाया और 28 जनवरी, 1986 को सांयकाल 6 बजकर 15 मिनट पर 'प्रिया-प्रियम्बद' पार्वती देवी का निधन हो गया। 4.3.86 के पत्र में लिखते हैं - 'प्रिया प्रियंबद पार्वती तो प्रेम योगिनी थीं। उनकी मूर्ति बराबर सामने आती है। वह मरी नहीं। उनका चेतन रूप मेरे दिल में हैं। काव्य बन गयी हैं।' 1988 में प्रकाशित उनका संकलन 'आत्मगंध', जिसे उन्होंने 'दीर्घायु की कविताएँ' कहा है, इसी चेतना का दस्तावेज है।

हम लोगों का इरादा था कि केदारजी का 75वाँ जन्मदिन अप्रैल 1986 में धूम-धाम से मनायेंगे। पर कवि-प्रिया के निधन से यह इरादा आगे के लिए मुलतवी कर दिया गया। जब बाबूजी की मनः स्थिति थोड़ी सामान्य हुई तो उनकी सहमति से 20-21 सितम्बर 1986 की तिथि तय की गयी। बाँदा में भव्य समारोह हुआ। देश भर से लेखक विचाधारा की सीमा तोड़कर अपने खर्चे पर बाँदा पधारे। आवास और भोजन की व्यवस्था परिमल प्रकाशन ने की थी। रामविलासजी जो कहीं नहीं जाते, बाँदा आये। 'केदारनाथ अग्रवाल की राजनीतिक कविताएँ' शीर्षक से अपना लेख पढ़ा। केदारजी की कविता 'जिंदगी' (देश की छाती दरकते देखता हूँ।) अपने स्वर में पढ़ी। उनका लेख बाद में 'पहल पुस्तिका-8 (प्रस्तुति: अशोक त्रिपाठी) के रूप में 'केदार की कविताओं में राजनीति की निर्णायक भूमिका है' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। रामविलासजी 8 दिन तक केदारजी के साथ रहे। यह भी एक रिकॉर्ड है। इसी अवसर विशेष पर 'प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल' (डॉ० रामविलास शर्मा) के साथ 4 और पुस्तकें प्रकाशित की गयीं थी। यह एक ऐतिहासिक आयोजन था। इसकी रिकार्डिंग 30-30 मिनट की 07 कड़ियों में लखनऊ दूरदर्शन से प्रसारित हुई थी। इसी समय केदारजी के घर पर रामविलासजी ने केदारजी के कुछ चुनिंदा पत्रों का पाठ किया था और

44 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

केदारजी के पत्रों में लिखी कविताएँ उन्होंने मुझे लिखवाई थीं। इसी समारोह के दबाव में 'साहित्य अकादमी' ने उन्हें 'अपूर्वा' पर 'साहित्य अकादमी' पुरस्कार से सम्मानित करके अपनी साख बचाई। इस आयोजन के बाद केदारजी अपनी पत्नी के निधन के दुख से थोड़ा उबर सके थे और इसके बाद बाँदा के बाहर के कुछ आयोजनों में भाग लेने गये थे।

19.11.1986 को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में 'छायावादोत्तर हिन्दी काव्य परिदृश्य' पर निराला व्याख्यान माला के अंतर्गत व्याख्यान दिया। दिल्ली भी गये। 10-11 जनवरी, 1987 को पन्ना गये। मई 1987 में लखनऊ गये 'प्रयोजन' पत्रिका का विमोचन करने। जून 1987 में बेटे के पास मद्रास गये। अक्टूबर '87 में दिल्ली, गाज़ियाबाद गये। बच्चन जी के जन्मदिन पर आयोजित एक समारोह में नवम्बर 1987 में फिर दिल्ली गये। मार्च 1988 में इलाहाबाद गये। फरवरी 89 में फिर मद्रास गये। वहाँ से मार्च में ऊटी गये।

26 अक्टूबर 1991 को केदारजी का अस्सीवाँ जन्म दिन इलाहाबाद के हिन्दुस्तानी एकेडेमी में परिमल प्रकाशन ने मनाया। इस अवसर पर 'मित्र संवाद' (केदारजी और रामविलासजी के पत्रों का संकलन-सम्पादक : रामविलास शर्मा, अशोक त्रिपाठी) का लोकार्पण हुआ। केदारजी के साथ रामविलासजी, डॉ चन्द्रावली सिंह, डॉ नामवर सिंह सहित कई साहित्यकार उपस्थित रहे।

25-26 नवम्बर '91 की रात में केदारजी के घर में चोरी हो गयी। इसमें 10 हजार रूपया, जेब घड़ी तथा सोवियत लैण्ड मेडल चोर ले गये। 13 फरवरी 1992 को भोपाल में 'मैथिलीशरण गुप्त' सम्मान लेने गये, फिर वहीं से मद्रास चले गये। फिर 19 मार्च '93 को बाँदा लौटे। 22.12.1996 को झाँसी गये डी. लिट् की मानद उपाधि लेने। इसके बाद फिर बाँदा में ही रहे।

केदारजी को कई पुरस्कार और सम्मान मिले हैं, कवि ने इन्हें विनम्रता के साथ स्वीकार भी किया है लेकिन, उनके लिए इन पुरस्कारों का कोई महत्व नहीं है, उन्हें मिलने से इन पुरस्कारों का महत्व जरूर बढ़ गया है। केदारजी के लिए तो सबसे बड़ा पुरस्कार जनता के दिल में उनके लिए जगह है, जनता का उनके प्रति स्नेह और प्यार है – वह स्नेह और प्यार जो नानक, कबीर, मीरा, सूर और तुलसी को, टैगोर और नज़रूल इस्लाम को मिला हुआ है, जिनके गीत हर हृदय में गूँजते हैं, संकट के क्षणों में जो ओठों से फूट पड़ते हैं, और मुक्ति की एक प्रकाश किरण बिखेर कर मन को ढाँढ़स बँधा जाते हैं।

पत्नी की मृत्यु के आघात से केदारजी उबर ही रहे थे कि उनपर एक बज्रपात हुआ – 30 मई, 2000 को उनके अभिन्न मित्र डॉ0 रामविलास शर्मा का निधन हो गया। यह खबर उनके लिए किसी हृदयाघात से कम नहीं थी। शरीरिक रूप से शिथिल तो वह थे ही मानसिक रूप से अन्दर से वह टूट गये। अब अपने मन की बात किससे कहेंगे ओर संकट के क्षणों में कौन उन्हें ढाँढ़स बँधाएगा।

केदारजी की यह आदत थी कि वह अपना काम किसी से कराना पंसद नहीं करते थे। खुद करना चाहते थे। इसी आदत से मज़बूर एक दिन रात को दीवाल पर, थोड़ी ऊँचाई पर, लगी अपनी दीवाल घड़ी में चाभी भरने स्टूल पर खड़े हुए कि अचानक बिजली चली गयी। संतुलन डगमगाया स्टूल से नीचे गिर गये और फिर वही हुआ जिससे वह हमेशा बचने की कोशिश करते रहे। रात भर अकेले यातना झेलते रहे। सबेरा हुआ तो पता चला कि वह गिर गये हैं। कूल्हे की हड्डी टूट गयी है। बेटे को सूचना भेजी गयी, वह शूटिंग में व्यस्त थे। स्थिति की गंभीरता को भाँप नहीं सके – आ नहीं पाये। भतीजों ने डॉक्टर को दिखाया। इलाज़ चलता रहा पर कोई लाभ नहीं हुआ। अन्त में 22 जून, 2000 को वह महाप्रयाण पर चले गये। केदारजी तो चले गये पर उनका रचना संसार आज भी हमारे लिए प्रेरणा का संघर्ष का प्रेम का, मनुष्यता का अन्याय के प्रति प्रतिरोध का अजस्र स्रोत है और आगे आने वाली सदियों तक बना रहेगा – वह अपनी रचनाओं में हमेशा जीवित रहेंगे – मौत को मारते हुए।

हिन्दी की प्रगतिशील कविता और बाबू केदारनाथ अग्रवाल एक दूसरे के पर्याय हैं। केदारजी की कविता का सौंदर्यशास्त्र ही प्रगतिशील कविता का सौंदर्यशास्त्र है। केदारजी की कविता की विकास यात्रा ही, हिन्दी की प्रगतिशील कविता की विकास यात्रा है।

प्रगतिशीलता जहाँ अन्याय शोषण और अत्याचार का विरोध करना है, शोषितों की पक्षधरता करना है, शोषकों के विरुद्ध संघर्ष करना है, कर्म करना है, वहीं मनुष्य की "जय यात्रा" के प्रति दृढ़ता के साथ आस्थावान होना भी है। क्योंकि यह आस्था ही संघर्ष को बल देती है। अगर 'जय' का भरोसा न हो, तो संघर्ष करने का और कर्म करने का जज़्बा ही पैदा न हो। विजयी होने की आश्वस्त ही संघर्ष की बीज शक्ति है। केदारजी बाकायदे इसकी घोषणा करते हैं और यह घोषणा रामविलासजी की राय में व्यक्तित्व की 'उदात्तता' के कारण कविता बन जाती है –

मैं हूँ अनास्था पर लिखा / आस्था का शिलालेख / नितांत मौन, / किन्तु सार्थक और सजीव / कर्म के कृतित्व की सूर्याभिमुखी अभिव्यक्ति : / मृत्यु पर जीवन के जय की घोषणा / 'मनुष्य की जय यात्रा' को सफल और सार्थक बनाने के लिए जितने भी उपादान अनिवार्य हैं, वे सबके-सब केदारजी की कविता में पूरी शिद्दत के साथ मौजूद हैं। हमारी कल्पना या सोच के दायरे में जो कुछ श्रेष्ठ, सकारात्मक, सर्जनात्मक, मूल्यवान और वरेण्य हो सकता है, वह सबका-सब केदारजी की कविता का सहज हिस्सा है, मसलन - आस्था, कर्मठता, जिजीविषा उल्लास, उजास, प्रेम, संघर्ष, प्रकृति (जड़ और चेतन दोनों) और मनुष्यता आदि। लेकिन नकारात्मक तत्व मसलन - अनास्था, निराशा, कूटा, संत्रास अंधेरा, हताशा और मनोरोग आदि को ढूँढना पड़ेगा।

केदारजी जिंदगी की सच्चाई की लड़ाई के कवि हैं। जिंदगी की सच्चाई की लड़ाई में, विरोधी शक्तियों की मक्कार बर्बरता से संघर्ष करते करते कभी कभी अवसाद (निराशा और हताशा नहीं) के विरल क्षण भी आते हैं। ये क्षण कभी कभी नये विकल्प भी देते हैं। इन्हीं क्षणों में संघर्षरत मनुष्य, संघर्ष की अगली रणनीति पर पुनर्विचार भी करता है। और फिर एक नये जोश से, नई रणनीति के साथ मैदान में उतर पड़ता है। 'राम की शक्ति-पूजा' में 108वाँ कमल जब महाशक्ति गायब कर देती हैं, तो एक क्षण के लिए राम अवसादग्रस्त हो जाते हैं, पर दूसरे ही क्षण उसका विकल्प - 'राजीव नयन' - खोज लेते हैं। अवसाद के महज ऐसे ही कुछ पल केदारजी को भी कभी कभी घेरते हैं, लेकिन वे तुरंत ही उसे झटककर, अपने से दूर फेंक देते हैं। 'और का, और मेरा दिन', 'बुन्देलखण्ड के आदमी', 'बाप बेटा बेचता है', 'वी.पी. का रूपया देना है' जैसी चार-छः कविताएँ अपवाद स्वरूप जरूर मिलती हैं, पर यह उनकी काव्य चेतना का मुख्य स्वर नहीं है। इनमें भी अवसाद के साथ साथ एक खीझ भी है और गुस्सा भी।

मद्रास के विजय अस्पताल में कवि प्रिया पार्वती देवी जब महाकाल से संघर्ष कर रही थीं - उस समय की मनःस्थिति में लिखी कविताएँ - पूर्वार्द्ध में क्षणिक अवसाद की गिरफ्त में आती हैं, पर उत्तरार्द्ध में अपने जीवन दर्शन - मार्क्सवाद - के बूते पर उस गिरफ्त को तोड़कर मृत्यु पर जीवन के जय की घोषणा करती हैं - 'मौन पड़ी हैं प्रिया प्रियम्बद, / बिना बोल का मुँह खोले: / प्यार पुलक की आँखें मीचे / दुख में डूबी साँसें लेतीं / पास खड़ा मैं / महाकाल को / रोक रहा हूँ। कविताओं का घेरा डाले, / यहाँ न आये उनको लेने : / जीवन की जय / प्रेम योगिनी पायें /' (यह कविता केदारजी ने मुझे एक अंतर्देशीय पर लिखकर भेजी थी, दिनांक 26.12.1985 को, थोड़े पाठ भेद के साथ)

कविता के प्रति ऐसी अगाध आस्था, ऐसा भरोसा उसी कवि को हो सकता है जो कविता में महान मानवीय मूल्यों का पक्षधर कवि हो, जो इस बात का कायल हो कि - 'चम्मचों से नहीं / आकंट डूबकर पिया जाता है / दुख को दुख की नदी में / और तब जिया जाता है / आदमी की तरह आदमी के साथ / आदमी के लिए।'

कविता उनके लिए महज शगल या बैठे ठाले का अंशकालिक काम नहीं है। कविता उनके लिए जीवन साधना है, उनके लिए एक हथियार है मानसिकता बदलने का, एक संबल है तिलझन भरे जीवन के कटु यथार्थ पर विजय पाने का, मौत पर विजय पाने का - 'दुख ने मुझको / जब जब तोड़ा / मैंने / अपने टूटेपन को / कविता की ममता से जोड़ा, / जहाँ गिरा मैं, / कविताओं ने मुझे उठाया, / हम दोनों ने / वहाँ प्रात का सूर्य उगाया।'

केदारजी के पाठकों / आलोचकों में कोई उन्हें ग्रामीण चेतना का कवि मानता है, कोई नगरीय का, कोई संघर्ष का, कोई श्रम का, कोई सौंदर्य का, कोई प्रकृति का, कोई राजनीतिक चेतना का, कोई व्यंग्य का तो कोई रूप और रस का आदि-आदि। पर दरअसल केदारजी इनमें से केवल किसी एक धरातल के कवि नहीं हैं। वह जीवन की संपूर्णता के कवि हैं। वह खंड-खंड जीवन के नहीं, एक मुकम्मल जीवन के, सामाजिक सरोकारों से लैस, मुकम्मल जीवनत कवि हैं। उनकी कविता में मजदूर, किसान, जमींदार, पूँजीपति, व्यापारी, दलित, नेता, अफसर, क्लर्क, मुदरिस, वकील, जज, अभियुक्त, अपराधी, पुलिस, बच्चे, पत्नी, स्त्री, पुरुष, सूदखोर, प्रेमी, प्रेमिका, चित्रकूट के बौद्ध यात्री, गिलहरी, बया, कठफोड़वा, गौरया, भोगिला बैल, मोती-कुत्ता, बागी घोड़ा, बोगन बेलिया, गेंदा, नीम के फूल, हरसिंगार, करोटन, बेला, टेसू, केन, टुनटुनिया पहाड़, गर्रा नाला, गुम्मा ईट, लालटेन कमासिन, चन्द्रगहना, चित्रकूट, मद्रास, महाबलिपुरम, ऊटी, समुद्र तथा मार, काबर, कछार, पडुआ मिट्टियाँ, कवि-मित्र, साहित्यकार, कलाकार, गाँव, शहर, कस्बा, ग्रीष्म, बसंत, शरद, वर्षा, लू, चाँदनी, पेड़, बादल, बिजली, गेहूँ, धान, चना, अलसी, सरसों, हवा, पानी, आदि आदि जितने भी उपादान हैं, सभी मौजूद हैं - बाकायदे अपनी निजी पहचान के साथ, अपने नाम के साथ, अपने अपने जातीय संदर्भों के साथ। केदारजी गंगा पर नहीं स्थानीय नदी केन पर कविताएँ लिखते हैं। नन्दी पर नहीं भोगिला बैल पर कविताएँ लिखते हैं।

केदारजी जीवन के गहरे यथार्थ के कवि हैं, कोरी कल्पना के नहीं। यथार्थ का कवि देखे हुए पर अधिक भरोसा करता है। इसीसे उनकी कविताओं में 'देखना' क्रिया बार बार आती है। इसीलिए उनकी कविताओं में अनूठे और अछूते बिम्बों की भरमार है

— चाक्षुषता उनकी कविताओं का एक प्रमुख गुण है। केदारजी सुने हुए नहीं देखे हुए के कवि हैं —

1. देश की छाती दरकते देखता हूँ। 2. चिता जली तो मैंने देखा। 3. आज मैंने रक्त रूप प्रभात देखा। 4. मैंने उसको जब जब देखा। 5. मैंने बागी घोड़ा देखा। 6. दिन में ही जग-मगर दीप जले देखे हैं। —

चूँकि वह 'देखना' क्रिया के कवि हैं, इसलिए वह 'मैं', 'मैंने', मुझे 'मुझको' 'मेरे' आदि सर्वनाम के भी कवि हैं क्योंकि 'देखने' का कोई कर्ता भी तो चाहिए। यह 'कोई' कवि स्वयं है। अपने पर उन्हें जबर्दस्त भरोसा है — गर्वोक्ति की सीमा तक, उदात्त धोषणाओं के रूप में। कहीं-कहीं दोनों एक साथ हैं — कहीं स्वतंत्र रूप से भी —

मैं समय को साधता हूँ। 2. मैंने आँख लड़ाई गगन विराजे राजे रवि से। 3. खड़ा पहाड़ चढ़ा मैं अपने बल पर। 4. मैं समय की धार में धँस कर खड़ा हूँ। 5. दुख ने मुझको जब-जब तोड़ा / मैंने अपने टूटे पन को कविता की ममता से जोड़ा। 6. आज नदी बिल्कुल उदास थी मैंने उसको नहीं जगाया। 7. गठरी चोरों की दुनिया में / गठरी मैंने नहीं चुराई। 8. मेरे देश तुम्हारी छाती की मिट्टी मैं हो जाऊँगा। 9. धीरे उठाओ मेरी पालकी। मैं हूँ सुहागिन गोपाल की। 10. माँझी न बजाओ वंशी मेरा मन डोलता है। 11. मैं हूँ अनास्था पर लिखा / आस्था का शिलालेख। 12. मैं घूमूँगा केन किनारे आदि-आदि ।

केदारजी का यह 'मैं' अहंमन्यता वाला व्यक्तिवादी 'मैं' नहीं है, आत्मबल वाला समाजवादी जनतांत्रिक 'मैं' है। क्योंकि उनकी व्यक्तिगत चेतना, लोक चेतना में प्रविष्ट होती है और फिर उसे नये मानवीय मूल्यों के संस्कार देकर समाजवादी जनतंत्र की छवियों को प्रस्तुत करती है। इसीलिए उनका 'मैं' सबके 'हम' में परिवर्तित हो जाता है। उनकी कविताएँ जितनी उनकी हैं, उतनी ही दूसरों की भी है।

केदारजी की कविता का संसार बहुत व्यापक है। पूरी कायनात उसमें सिमट आई है। केदारजी की पूरी काव्य सम्पदा में कई विषय प्रमुखता से चित्रित हुए हैं, यही कारण है कि इन्हीं में से उन्हें किसी एक विषय का कवि मान लिया जाता है — 'स्यादवाद' की तर्ज पर। दरअसल उनकी कविता की चिंतन धारा के केन्द्रीय बिन्दु है — खेती — किसान, जिसके मूल में है किसान। खेती — किसान का मूलाधार है बादल। जिस कवि की चिंता के मूल में किसान होगा, वह बादलों पर कविता लिखेगा ही लिखेगा। निराला, केदार और नागार्जुन इसके प्रमाण हैं। केदारजी ने बादलों पर और

बादलों से संदर्भित दर्जनों कविताएँ लिखी हैं। ये कविताएँ प्रकृति चित्रण के महज उपादान के रूप में नहीं हैं, ये जीवन के पारावार के रूप में हैं। किसानों के लिए जितना अनिवार्य उपादान है बादल, उतना ही अनिवार्य उपादान है — बैल। इसीलिए केदार जी 'भोगिला बैल' और 'देवी के बैल कोई खोल ले गया' जैसी कविताएँ लिखते हैं, 'बैलों को हुरियाये जा' की बात करते हैं, लोहे की पैनी कुसी, भुई के अन्दर गड़ाने की बात करते हैं, धरती का स्वामित्व किसानों को सौंपने की घोषणा करते हैं आदि आदि ।

केदारजी पैदा तो वणिक वर्ग में हुए थे, लेकिन गाँव के थे, इसलिए खेती किसानों की भरपूर होती थी। उसके संस्कार इनकी चेतना में स्थायी भाव की तरह गहरे पैठ चुके थे। कविता के अलावा अपने चिंतन परक गद्य में जब वह अपनी काव्य साधना पर बात करते हैं तो किसानों के उपादानों, उपकरणों का ही हवाला देते हैं 1. 'कविताई न मैंने पायी न चुरायी। इसे मैंने जीवन-जोत कर किसान की तरह बोया और काटा है " (लोक और आलोक की भूमिका)। 2. 'यह तो कहो कि भौतिकवाद के हल की मुठिया पकड़ ली है मैंने और जीवन की परती धरती को रात दिन जोते जा रहा हूँ, बीज बोये जा रहा हूँ और हर वक्त ताके जा रहा हूँ इससे साहित्यिक अकाल से बचा हूँ, वरना मैं भी बंगाल के 35 लाख भूखे मृत व्यक्तियों में एक होता।' (रामशरण शर्मा 'मुंशी' को केदारजी का पत्र — 26.8.1947)। 3. 'वह (रामविलासजी का पत्र) क्या आया जैसे किसान के खेत में बादल आया।' (4 मई, 1964 का केदारजी का पत्र) 4. 'प्रेमचन्द को पाना कोई खेल है कि आज के कथाकार उनके सिर का बाल छू लें। सबके सब पेशा करते हैं — जीवन नहीं पकड़ते, हल की मुठिया की तरह।' (8 अप्रैल, 1974 का केदारजी का पत्र)

खेती बारी से जुड़े कार्यकलापों पर कई गीत और कविताएँ लिखी हैं जैसे कटुई, निरौनी, ओसौनी आदि। केदारजी ने 'किसान स्तवन' भी लिखा है।

केदारजी जब लहलहाती फसलों को देखते हैं तो उनका हृदय — उन्हीं के शब्दों का इस्तेमाल करें तो 'औला मौला' हो जाता है —

1. 'अबकी धान बहुत उपजा है / पेड़ इकहरे दुगन गये हैं /' 2. 'आसमान की ओढ़नी ओढ़े / धानी पहने / फसल घंघरिया / राधा बनकर धरती नाची / नाचा हँसमुख कृषक सँवरिया / खेतों के नर्तन उत्सव में / भूला तन मन गेह उगरिया ।'

'चन्द्रगहना से लौटती बेर', 'बसंती हवा' उनकी इसी किसानी चेतना की सहज और उन्मुक्त अभिव्यक्तियाँ हैं। केदारजी की 'बसंती हवा' की बराबरी तो प्रकृति की

बसंती हवा भी नहीं कर सकती। केदार जी की बसंती हवा, प्रकृति की बसंती हवा के समकक्ष उनकी पुनर्सृष्टि है। यह केदारजी की अपनी बसंती हवा है। उसकी अलहड़ता, उसका खिलंदड़ापन, उसकी मस्ती, उसका बेफिक्रापन, उसकी गति, उसकी उठान, उसकी खिलखिलाहट, पूरी कायनात में उसकी व्याप्ति सौंदर्य की एक दूसरी ही अनूठी दुनिया में हमें ले जाती है। दुनिया के समूचे साहित्य में शायद की उस जोड़ की कोई दूसरी कविता मिले।

‘चन्द्रगहना से लौटती बेर’, ‘फूलों की बौछार से’, ‘आँखों देखा’, रंग दौड़ते हैं रंगीन फूलों के’, बसंत आया’, ‘बसंत में’, तथा धूप पर लिखी उनकी कविताएँ – सौंदर्य की अनूठी मिसालें हैं – गहन इन्द्रिय बोध और भाव बोध की महानतम कविताएँ हैं।

केदारजी जिंदगी की सादगीपूर्ण, कठोर और करुण सच्चाइयों के कवि हैं। ‘कानपुर’, ‘घर का अनुभव’, ‘आँख दुखों से आज रही है’, जिंदगी’, ‘बाप बेटा बेचता है’ आदि इसकी गवाह हैं। रामविलासजी ऐसी कविताओं के बारे में 14.4.66 के पत्र में लिखते हैं – ‘कानपुर, बुन्देलखण्ड के आदमी जैसी कविताओं में घन की चोट है : यथार्थ का रंग सादगी में भी वीरतापूर्ण। तुम्हारी कविताओं की भाषा शैली, व्यंजना का ढंग सब ऐसे हैं जो एक लोक कवि को ही – और संसार के थोड़े से बहुत बड़े-बड़े कवियों को ही सुलभ होते हैं।’

केन नदी बाँदा की जीवन रेखा है। परन्तु केदारजी के लिए वह केवल जल प्रदायनी नदी भर नहीं है – उनकी कविताओं में वह चेतना की नदी भी है। वह अपने क्षेत्र के लोगों की जड़ता से, चेतना-हीनता से इस कदर मायूस हैं कि उसे पत्थर की संज्ञा दे देते हैं – ‘पानी, पत्थर चाट रहा है गुमसुम / सहमा राही / ताक रहा है गुमसुम /’ चेतना की यह नदी भी उनमें कोई हलचल नहीं पैदा कर पा रही है। यह बात केदारजी को बार बार कचोटती है।

केन के माध्यम से केदारजी ने अपने जीवन के अनुभव और चिंतन का निचोड़ पस्तुत किया है। केन के साथ उनके कई रिश्ते हैं। एक रिश्ता प्रेयसी का भी है – ‘आज नदी बिल्कुल उदास थी / सोयी थी अपने पानी में: / उसके दर्पण पर / बादल का वस्त्र पड़ा था। मैंने उसको नहीं जगाया, / दबे पाँव घर वापस आया।’ केदार जी सूक्ष्म और कोमल संवेदनाओं के अदभुत कवि हैं। निराला की ‘जुही की कली’ का नायक पवन जहाँ उद्भूत है और नायिका के गोरे गोल कपोल को मसल देता है, वहीं प्रेयसी केन का नायक स्वयं कवि, उसे सोता देखकर ‘दबे पाँव’ घर वापस आ जाता है कि

कहीं उसकी नींद उचट न जाये। यही नहीं गरमी में केन को तड़पता देखकर, केदारजी खुद भी बेहाल हो जाते हैं। नदी एक वीणा भी है – ‘नदी है कि नितम्बिनी वीणा / तट पर धरी / कभी बजती कभी मौन /’ नदी ‘एक नौजवान ढीठ लड़की है / जिसकी जाँघ खुली / और हंसों से भरी है / जिसने बला की सुदरता पायी है। ‘केन किनारे पत्थी मारे’; ‘मेरे मन की नदी’, ‘मैं घूमूँगा केन किनारे’ तथा ‘बैठा हूँ इस केन किनारे’ आदि कविताएँ केन से उनके अन्य रिश्तों को व्याख्यायित करती हैं। इसीलिए उन्हें केन का कवि भी कहा जाता है।

केदारजी सौंदर्य के कवि हैं। सौंदर्य प्रकृति का हो, स्त्री का हो, पुरुष का हो, बच्चे का हो, चरित्र का हो, नदी, पहाड़ का हो, पशु पक्षी का हो, खेत- खलिहान का हो, हवा धूप का हो, श्रम का हो, किसान मजदूर का हो, पेड़ पौधों का हो, उन्हें बाँधता है। सौंदर्य की किताबी परिभाषा की बात मैं नहीं करता। हर उस शै में, काम में, सौंदर्य है, जो हमें सकून देता है, उल्लास देता है, उछाह देता है, उत्साह देता है, कर्मशील बनाता है, सृजन के लिए उकसाता है, प्रसन्नता देता है, फिर वह चाहे जो कुछ भी हो। इसीलिए उन्हें अन्याय के विरुद्ध डटकर लड़ने वाले ‘110 का अभियुक्त’ में सौंदर्य नजर आता है। यह वही कविता है जिसे अज्ञेय के आमंत्रण पर केदारजी ने ‘दूसरासप्तक’ के लिए भेजी था पर अज्ञेयजी इसकी जगह दूसरी कविता चाहते थे। केदारजी ने कहा छापना है तो इसे ही छापो अन्यथा रहने दो। और ‘दूसरासप्तक’ केदारजी की कविता से वंचित रह गया। यह सौंदर्य की दो भिन्न दृष्टियों का टकराव था। उन्हें ‘छोटे हाथ’ पसंद हैं, जो सवेरा होते ही ‘लाल कमल से खिल उठते हैं / करनी करने को उत्सुक हो, / धूप हवा में हिल उठते हैं। उन्हें ‘सामाजिक वर्जनाओं को ठेंगा दिखाने वाली ‘मुक्त युवती’ में, ‘एक हथौड़े वाला’ में, खेत जोतते हुए किसान में, प्रतिरोध करती जनता में, गगन चुम्बी इमारत तामीर करने वाली ‘गुम्मा ईंट’ में, बाधाओं को रौंदने वाले ‘गर्गनाला’ में, किसानों के आधार स्तम्भ ‘भोगिला बैल’ में, श्रम-पुरुष भगौता बढई में तथा अयोध्या की लालटेन में सौंदर्य नजर आता है।

सौंदर्य में स्त्री सौंदर्य सबसे व्यापक, सबसे मादक, सबसे मारक, सबसे शक्तिशाली और सबसे अधिक चुम्बकीय होता है। यहाँ भी केदारजी को पलंग तोड़ने वाली, सजी धजी, बनी ठनी, मेकअप से लदी फंदी गजगामिनियाँ नहीं पसंद हैं। उन्हें तो ‘कौन अलबेले की नार झमाझम पानी भरै’ सुन्दर लगती है – श्रमशील नारियाँ सुन्दर लगती हैं। बचपन की यादों में दो पनिहारिन युवतियाँ, अन्त तक उनके मानस में बसी रहीं। बातचीत में कहते थे – ‘ननकी और सुनदी मांसल स्वस्थ और सुन्दर – सिर पर

जब तीन-तीन घड़े रखकर तुमकती हुई चलती थीं तो उन्हें देखकर नारी के मांसल सौंदर्य का बोध जगता था। नारी सौंदर्य की प्रतीत मुझे वहीं से मिली ।’

दिनकर की ‘उर्वशी’ को लेकर जब वे रामविलासजी से भिड़े हुए थे तो 16.4.1962 के पत्र में वह लिखते हैं – ‘मजा तब आता कि प्रेमिका प्रेमी के साथ कुछ श्रम करती और फिर दोनों एक दूसरे से लिपटकर, एक दूसरे पर न्यौछावर हो जाते, उस काम की कृतज्ञता में ।’ (मित्र संवाद –280)

केदार जी की कविताओं में प्रेम और प्रेमाचार संस्पर्शित मांसल सौंदर्य वाली कविताओं की अच्छी खासी तादाद है। संख्या बल को अगर आधार मानें तो, सभी विषयों में यह विषय केदारजी को सबसे अधिक प्रिय है। केदारजी यथार्थ के कवि हैं। नारी देह की सुन्दरता भी एक प्रीतिकर यथार्थ है। उसका निषेध करना यथार्थ का निषेध करना है। ऐसी कविताओं में प्रेम और सौंदर्य एक दूसरे में घुल मिल गये हैं। केदारजी का प्रेम परकीया या नायिका भेदी प्रेमिका-वादी प्रेम नहीं है। वह शुद्ध स्वकीया पत्नी वादी घरु प्रेम है। उनकी ऐसी कविताएँ भी, जो उन्मुक्त मांसल सौंदर्य की खुली अभिव्यक्ति हैं, और आभास देती हैं कि ये परकीया सौंदर्य की कविताएँ होंगी, पर असल में कवि पत्नी ही उसके भी केन्द्र में हैं। केदारजी की स्वीकारोक्ति इसी ओर संकेत करती है – ‘मेरी बीबी साहिबा अभी प्रयाग ही हैं। न जाने कब आँगी। कमी महसूस हो रही है, सच पूछो तो उन्हीं को प्यार करने को मन हो रहा है। न कविता छूटेगी, न वह छूटेंगी। पर इस स्पष्ट कथन को बुरा न मानकर यह समझ लेना कि मुझे भी बसंत आ गया है। शायद इन्हीं तरह के क्षणों में मैंने उन पर पिछली कविताएँ लिख दी थीं।’ (केदारजी का 8.2.1957 का पत्र रामविलासजी को) ‘मूलतः मैं पत्नी प्रेमी रहा हूँ और मेरी प्रेम की कविताएँ उन्हीं के प्रेम और सौंदर्य की कविताएँ हैं। कहीं कहीं, कभी कभी कुछ कविताएँ, ऐसी झलक दे जाती हैं, जैसे कि मैं उनके अलावा भी दूसरी नारियों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहा हूँ। बात ऐसी नहीं है, जो मैं ऐसा लिख गया हूँ, वह केवल पारंपरिक काव्य संस्कार का परिणाम है, जो घर की चहारदीवारी से बाहर पहुँच गया – हैं (मुझे भी कुछ कहना है)– जमुन जल तुम)

कुछ बानगियाँ ‘अवसि देखिये देखन जोगू’ – 1. ‘हे मेरी तुम/ जब तुम अपने केश खोलकर / तरल ताल में लहराओगी, / और नहाकर चंदा सी बाहर आओगी / दो कुमुदों को ढँके हाथ से / चकित देखती हुई चतुर्दिक/ तब मैं तुमको / युग्म भुजाओं में भर लूँगा। और चाँदनी में चूमूँगा तुम्हें रात भर / ताल किनारे । 2. तुम मुझे कुछ न दो / न अपनी उँगलियों के स्पर्श की बर्तुल लहरियाँ / न अपनी आँखों की

चुम्बकीय बिजलियाँ / न अपने कंधों पर की झुकी हुई मदांध सुगंधित रातें / न अपने गालों के गुलाबी प्रभात / न अपने नितम्बों का चरणों तक बहता हुआ महोल्लास।’

‘प्रेम तीरथ’, ‘स्टैच्यू’, ‘फूल सी कोमल उँगलियाँ’, ‘दिन अब भी गरम और गुदगुदा होता है’, ‘पिकासो की पुत्रियाँ’ तथा ‘मैं गया हूँ डूब’ आदि अनेक कविताओं में अकुंठ दैहिक सौंदर्य की (कहीं कही वासना-पगी) मानवीय अभिव्यक्ति मिलती है। एक तरह से केदारजी की प्रारंभिक कविताओं में नारी तत्त्व प्रधान रहा है। इतना प्रधान कि रामविलासजी को 1943 में ही कहना पड़ा कि –

1. ‘तुम कविता में ‘नारी’ पर लिखना ‘कुछ कम कर दो’ (रामविलासजी का 10.2.1943 का पत्र)। 2. ‘नारी को **obsession** बनाने से बचो। तुम उस पर काफी लिख चुके हो’ (रामविलासजी का मई 1943 का पत्र)

लेकिन रामविलासजी की इस सीख से केदारजी ने कोई खास सीख नहीं ली और आगे भी लिखते रहे। लेकिन इसमें कहीं लम्पटता का भाव नहीं है। हाँ रसिकता का भाव जरूर है। एक जिम्मेदार स्वाभाविक प्रेमाचार की अभिव्यक्ति है। इस प्रेमाचार में कहीं कहीं सुरतवाद की छौंक भी दिखाई देती है। कालिदास के संदर्भ से उन्होंने इसे स्वीकारा भी है। 28.9.1956 के पत्र में रामविलासजी लिखते हैं ‘कालिदास में सुरतवाद बहुत है। वरना वह भी आदमी था काम का। 30.9.1956 के पत्र में केदारजी लिखते हैं – ‘मुझमें भी वहीं मोह है इसलिए मैं सुरतवाद की मिठास में पग जाता था। भई जान, चीज ही ऐसी है वह।’

‘धूप’ केदारजी का बहुत प्रिय विषय है, क्योंकि वह अँधेरे के नहीं, उजास के, प्रकाश के, आस्था के, संघर्ष के, कर्म के कवि हैं। धूप हमें ऊर्जा देती है, ऊष्मा देती है। यह प्रातः कालीन धूप ही है, जो हमसे कहती है – जागो उठो ओर कर्म करो। केदारजी की कविता में धूप के अनेक राग-प्रवण और सात्विक दीप्त से दीपित संघन बिम्ब हैं, लेकिन सब एक दूसरे से भिन्न अपनी स्वतंत्र अर्थवत्ता और सत्ता के साथ – दुहराव की छाया तक से दूर, गहन ऐंद्रिकता लिए, हमारी चेतना में घटित होते हुए –

1. धूप नहीं, यह / बैठा है खरगोश पलंग पर / उजला, / रोयेंदार मुलायम –/ इसको छूकर / ज्ञान हो गया है जीने का / फिर से मुझको।
2. भूल सकता मैं नहीं / ये कुछ खुले दिन, / ओठ से चूमे गये / उजले धुले दिन: / जो तुम्हारे साथ बीते / रस भरे दिन, / बावरे दिन, / दीप की लौ

- से गरम दिन। 3. धूप धरा पर उतरी / जैसे शिव के जटाजूट से गंगा उतरी।
 4. धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहने / मैके में आयी बेटे की तरह मगन है।
 5. रची उषा ने ऋचा दिवा की 6. धूप हँसी दूधिया दीप्ति से 7. धीरे से पाँव धरा धरती पर किरनों ने / मिट्टी पर दौड़ गया लाल रंग तलुवों का / छोटा सा गाँव हुआ केसर की क्यारी सा / कच्चे घर डूब गये कंचन के पानी में।
 8. खिला है अग्निम प्रकाश ।

धूप की पहली किरण का संस्पर्श सृष्टि को कैसे उल्लास से भर देता है , कैसे उस पर 'राग' का 'आह्लाद' छा जाता है – 'प्रभात' कविता इसी को दर्शाती है।

केदारजी विराग के नहीं राग के कवि हैं। निरालाजी में 'राग' और 'विराग' का अनवरत द्वन्द्व मिलता है। केदारजी में विराग अपवाद रूप में ही मिलेगा। यहाँ तक कि 'श्मशान वैराग्य' भी नहीं। 'श्मशान वैराग्य' के मूल में होती है चिता। लेकिन चिता पर लिखी – वह भी अपनी पत्नी की चिता पर लिखी – उनकी कविता महाराग की कविता है – वैराग्य की नहीं। चिता जलने का दृश्य अमूमन वीभत्सता ही पैदा करता है – 'वीभत्स रस' के उदाहरण में जलती चिता का वर्णन भी हमे पढ़ाया गया है। लेकिन कवि प्रिया पार्वती देवी की चिता का विम्बन हमें एक अद्भुत सौंदर्य-लोक में ले जाता है, जहाँ चिता की लपलपाती प्रज्वलित शिखाएँ – कंचनवर्णी पंखुरियों का कुबलय कुमुद खिलाती हैं और चिता की भस्म 'राग पराग' हो जाती है – 'चिता जली / तो मैंने देखा / दहन दाह में / कंचनवर्णी पंखुरियों का / कुबलय कुमुद खिला / रज को / राग पराग मिला ।'

प्रज्वलित चिता का ऐसा उदात्त , राग युक्त भव्य सौंदर्य विम्बन शायद विश्व साहित्य में अकेला होगा। प्रेम के औदात्य की पराकाष्ठा और ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी जीवन दर्शन के प्रति गहन भरोसा ही ऐसी चेतना दे सकता है। यहाँ चिता की प्रज्वलित शिखाएँ , यज्ञ की प्रज्वलित शिखाओं से होड़ लेती हुई उसे परास्त कर देती हैं। जीवन के प्रति उनका यह प्रगाढ़ महाराग ही है, जिसके बूते पर केदारजी ताल टोंक कर कहते हैं –

1. मैंने आँख लड़ाई / गगन विराजे राजे रवि से। 2. मैं नयन में / सूर्य की / आलोक आभा आँजता हूँ। 3. इस जीने को / सौ – सौ मन से जीना है / ————— इस जीने को मौत मारकर जीना है।

केदारजी की काव्य यात्रा 30-31 से शुरू होती है। प्रारंभ के 6-7 वर्षों तक की उनकी कविताएँ भाववादी रुझान की कविताएँ हैं जो जीवन के यथार्थ के बरक्स किसी सुचिन्तित जीवन दृष्टि से रहित, पुराने ढर्रे की कविताओं के पढ़ने-सुनने से बनने वाले भावबोध की कविताएँ हैं।

कानपुर में वकालत पढ़ने के दौरान, लखनऊ में, जब वह निरालाजी से मिले (निराला जी से मिलने कानपुर से साइकिल से लखनऊ गये थे।) रामविलासजी से मुलाकात हुई जो धीरे धीरे मित्रता में बदलती गयीय तब उनका भाववादी रुझान जीवन की कटु सच्चाइयों के विश्लेषण की तरफ मुड़ने लगा। आँखों देखी दुनिया की असंगतियाँ और अन्तर्विरोध मन में सवाल पैदा करने लगे। उनकी कविता में भी, दुनिया को देखने-समझने के नजरिये में हुए बदलाव का असर दिखने लगा। श्रम का मूल्य, श्रम का सौंदर्य उनकी कविता का मूल्य और सौंदर्य बनने लगा। पंत की 'चाँदनी रात में नौका विहार' के बरक्स सन 1937 में लिखी 'दोपहरी में नौका विहार' उनकी बदली हुई दृष्टि का परिणाम है।

ये दोनों कविताएँ दो जीवन-दृष्टियों और दो जीवन-शैलियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। एक आरामतलबी और परोपजीविता का प्रतीक है, तो दूसरी कर्मठता का, श्रमशीलता का, श्रम के सौंदर्य का और स्वावलम्बिता का। पंतजी मल्लाहों के श्रम पर आनंद भोगते हैं, केदारजी खुद डाँड़ चलाते हैं, हाथों में छाले पड़ते हैं, फिर भी पंत की आनन्दानुभूति से, इनकी आनन्दानुभूति रंच मात्र भी कम नहीं है क्योंकि ये छालों को चूमकर उन्हें 'मीठे दाख' बनाने का गुर जानते हैं, और हमें भी 'श्रम ही सौंदर्य है' का अभिनव मंत्र देते हैं। कविता हरम और ड्राइंगरूम से निकलकर खेतों-खलिहानों, मैदानों और कंटकाकीर्ण पथरीले रास्तों पर उल्लास के साथ दौड़ने लगती है।

रामविलासजी मानते हैं कि केदारजी की कविताओं में राजनीति की निर्णायक भूमिका है। उनकी कविता की विकास यात्रा की अगर हम पड़ताल करें तो इस कथन की सत्यता शत प्रतिशत प्रमाणित होती है।

1937 से शुरू हुई, देखी हुई सच्चाइयों की काव्य-यात्रा 1994-95 तक लगातार अपने समये से और समय की राजनीति से मुठभेड़ करने वाली यात्रा रही है। 'कहें केदार खरी खरी' की कविताएँ इसकी साक्षी हैं। देश की जन-विरोधी राजनीति और सरकार दोनों को वह आड़े हाथों लेते हैं। राजनीतिक कविताओं में केदारजी का स्वर तंज का ही रहा है – 'आग लगे इस रामराज में', 'नेता', 'न मारो नजरिया', 'यदि

आयेगा डालर', 'क्या लाये', 'चुनाव मोरचे की अन्त्याक्षरी', 'हम तौ उनका वोट न देबैं', 'वास्तव में', तथा 'लड़ गये' आदि अनेक कविताएँ इसकी गवाह हैं। इन कविताओं का व्यंग्य एक जिम्मेदाराना व्यंग्य है। 'केदार के व्यंग्य में कठोर सोदेदृश्यता तथा संयम है, जो समूचे व्यंग्य को जनता की विजय का अडिग विश्वास, मार्मिक मानवीयता तथा शक्ति प्रदान करता है। (डा. नामवर सिंह)

देश में जब जन उभार रहता है, जन-आन्दोलन होता है, केदारजी की कविता में जोश, उत्साह, पौरुष और संघर्ष की अजस्र धारा बहती है। (एक हथौड़े वाला घर में और हुआ) इसी का परिणाम है। यह कविता (मजदूर का जन्म) श्रम और संघर्ष के सौंदर्य की अनूठी कविता है।

केदारजी की कविताओं में उनका समय धड़कता है। उनकी कविताएँ अपने समय का दस्तावेज हैं। उनकी कविताओं को समझने के लिए सन 1937-38 से लेकर 1994-95 का समय और इस पूरे कालखण्ड को समझने के लिए उनकी कविताएँ एक दूसरे की पूरक हैं। अपने समय की विभिन्न घटनाओं, नीतियों और स्थितियों पर उनकी बेबाक टिप्पणियाँ, सच्चाई का आईना है -

1 'पंचवर्षी योजना की रीढ़ / ऋण की श्रृंखला है / पेट भारतवर्ष का है और चाकू डालरी है ।' 2. 'देश के भीतर दहन और दाह है / अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वाह-वाह है।

आज की ढपोरशंखी जन विरोधी राजनीति पर एक और टिप्पणी - 'न आग है / न पानी / देश की राजनीति / बिना आग पानी के / खिचड़ी पकाती है / जनता हवा खाती है।'

'आयोग', 'यदि आएगा डालर', 'देश में लगी आग को', 'उनको महल मकानी', 'आदमी की चाँदमारी' तथा 'ढेर लगा दिये हैं हमने', आदि इसी कोटि की कविताएँ हैं।

केदारजी की कविताएँ अन्याय, दमन अनाचार, शोषण, भाग्यवादिता, रूढ़ियों, अंधविश्वासों, अकर्मण्यता, काहिली, चेतनाहीनता आदि के विरुद्ध संघर्ष का बिगुल बजाने, वाली कविताएँ हैं। 'बागी घोड़ा', 'गरा नाला', 'घन गरजे', 'एका का बल', 'शपथ', 'हथौड़े का गीत', 'जब तब', 'दोषी हाथ', 'आँख खुली', 'कर उठा', 'कमकर', 'मोरचे पर', 'शक्ति मेरी बाहु में है', आदि कविताएँ इस संघर्ष चेतना की आग से लैस कविताएँ हैं।

केदारजी जन कवि हैं। धरती के कवि हैं। स्थानीयता के कवि हैं - वायवीयता के नहीं। स्थानीयता कविता को प्रामाणिकता प्रदान करती है। उनकी कविता में बुन्देलखण्ड चप्पे-चप्पे पर उपस्थित है - अपनी ठेठ प्रकृति, अपने खुरदुरे परिवेश, अपनी जीवन्त धड़कन, अपनी अपनापे भरी बोली बानी तथा अपने अन्तर्विरोधी चरित्र के साथ। लेकिन उसकी व्यापकता उसका प्रभाव स्थानीयता की सीमा को लौंघ कर राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। केदारजी निरे, कोरे अनुभव को शब्द-बद्ध करने वाले कवि नहीं हैं। वह कढ़े होने के साथ-साथ पढ़े हुए कवि भी हैं। 'मित्र-संवाद' में ऐसी तमाम पुस्तकों की सूची और संदर्भ मिलेंगे जिनसे यह पता चलता है कि केदारजी ने जितना जिंदगी की कठोर सच्चाइयों से सीखा है, उतना ही इन पुस्तकों के गहन अध्ययन से, इन सच्चाइयों के पीछे छिपे कारणों की तलाश करने, उनका विश्लेषण करने और कविता में उसको ढालने का गुर भी सीखा है। जनवादी लेखक संघ द्वारा दिल्ली में 28.6.2000 को आयोजित केदारजी की शोक-सभा में इसी सूची को देखकर नामवरजी ने कहा था कि उनका 'पुनर्जन्म' हुआ।

केदारजी जनता के अटूट विश्वास के कवि हैं। और जनता पर अटूट विश्वास करने वाले कवि हैं। मनुष्य के विकास और दुनिया के इतिहास को जानने और समझने वाले कवि हैं, इसीलिए वह इस सत्य को जानते हैं कि पतन और मौत राष्ट्राध्यक्षों, शासकों और शोषकों की होती है। जनता तो हमेशा जीवित रहती है - वह अजर अमर है। बदलते तो शासनाध्यक्ष हैं - जनता तो वही रहती है। केदारजी जनता की अमरता का उद्घोष करते हैं - 'किसी देश या किसी राष्ट्र की / कभी नहीं जनता मरती है।' क्योंकि - 'जनता सत्यों की भार्या है / जागृत जीवन की जननी है / महामही की महा शक्ति है।' (जनता) 'वह जन मारे नहीं मरेगा' कविता भी इसी दृढ़ विश्वास की घोषणा करती है।

केदारजी महान मानवीय मूल्यों और मनुष्यता के खोज के कवि हैं। आज जब एक सच्चे मनुष्य के सामने यह सवाल मुँह बाए खड़ा हो कि - 'कैसे जाएँ कठिन है चक्कर / निर्बल हम बलीन हैं मक्कर / तिलझन ताबडतोड़ कटाकट / हड़डी की लोहे से टक्कर।' तो जाहिर है कि ऐसे तिलझन भरे हालात में मनुष्य का मनुष्य बने रहना बहुत मुश्किल है। ऐसे मुश्किल हालात से संघर्ष करते हुए जो अपनी आदमीयत बचा पाने में समर्थ हुआ होगा, केदारजी उसी की खोज करते हैं - 'मैं उसे खोजता हूँ / जो आदमी है / और अब भी आदमी है / तबाह होकर भी आदमी है / चरित्र पर खड़ा / देवदारु की तरह बड़ा ।'

तमाम तरह के दबावों, प्रलोभनों और झंझावातों के बीच अपनी मनुष्यता बचाए रखने के लिए आदमी को खफ़ती तक होना पड़ेगा – दुलमुल आदमी, हानि-लाभ का गणित लगाने वाला आदमी – ‘तबाह होकर भी आदमी होने’ के इम्तहान में पास नहीं हो सकता। इसीलिए वह कहते हैं-

‘खफ़त हैं मुझे / आदमी होने का / बेखफ़त आदमी / साँड़ है / सियार है / पेट भर लेता है / नेता है।’ नेताओं पर इससे बड़ी चोट और क्या हो सकती है।

केदारजी पेशे से वकील थे – जीविकोपार्जन का यही साधन था। जीवन की नंगी सच्चाइयाँ, समाज का असली चेहरा, न्याय पर अन्याय का बोल बाला, आदमी का दोगलापन, सच पर झूठ की विजय आदि विसंगतियाँ और बिद्रूपतायें उन्हें कचहरी ने दिखाई। ज़िंदगी का यथार्थ और यथार्थ की ज़िंदगी – क्या हैं – यह उन्होंने कचहरी से ही सीखा। अगर वह वकील न होकर कुछ और होते, तो पता नहीं, उनकी कविताओं का यथार्थ, इतना प्रामाणिक और असरदार होता कि नहीं, कहना मुश्किल है – शायद नहीं होता।

वकालत और कविता, इन दोनों का कोई स्वाभाविक रिश्ता तो बनता नहीं, पर जो सच है, उसे तो मानना ही पड़ेगा, भले ही एक चमत्कार की तरह। ‘तुम वकालत करते हुए, कविता लिख लेते हो, यह मेरे लिए चमत्कार का विषय रहा है।’ (रामविलास शर्मा का 28.7.1959 का पत्र)

हिन्दी कविता को यह चमत्कार विरासत में मिला हुआ है। संत कवियों का साहित्य और उनका पेशा इस चमत्कार को पहले ही संभव कर चुका है। केदारजी उसी विरासत की अगली कड़ी हैं।

न्याय व्यवस्था और न्यायिक प्रक्रिया की विसंगतियों, उसके अन्तर्विरोधों और अमानवीय चेहरे पर उनकी टिप्पणियाँ हैं तो संक्षिप्त, पर वे बहुत गहरे असंतोष और असहमति से पैदा हुई हैं। एक बानगी – ‘सच ने जीभ नहीं पायी है / वह बोले तो कैसे / **** / न्यायी बैठे जीभ पकड़ते / **** / सच जीते तो कैसे / न्याय मिले तो कैसे / असली का नकली हो जाता / नकली का असली हो जाता / न्याय नहीं हंसा कर पाता / नीर क्षीर बिलगे तो कैसे / सच की साख जमे तो कैसे / **** / झूठ मरे तो कैसे /’ इसीलिए – ‘सच/अब नहीं जाता / अदालत में / खाल खिंचवाने / मुँड़ मुँड़वाने / हाड़ तोड़वाने / खून चुसवाने / सच, / अब झाँक

नहीं पाता / अदालत में / न्याय नहीं पाता / अदालत में ।’ ‘सच झूठ’ (कहं केदार खरी खरी -169) तथा ‘चिड़िया’ (वही - 156) ऐसी ही तल्ख मिजाज की कविताएँ हैं।

‘देह से मुक्ति’ की अवधारणा से अलग, स्त्री विमर्श की यदि कोई दूसरी अवधारणा है, तो वह स्त्री विमर्श केदारजी की कविता में प्रारंभिक दिनों से ही मिलता है, जैसा कि प्रेमचन्द में भी मिलता है। केदारजी कविता में प्रेमचन्द की विरासत को आगे बढ़ाने वाले रचनाकार हैं। 27 मार्च, 1933 को लिखी कविता ‘पति की टेक’ (जो शिलाएँ तोड़ते हैं, पृ0 42), परिवार में स्त्री की दयनीय हैसियत का मार्मिक चित्रण है। ‘मुल्लो अहिरिन’ (वही -69) ‘गाँव की औरतें’ (वही - 77) ‘देहात का जीवन’ (वही - 91) ‘जहरी’ (वही-पृ0 135) ‘सीता मैया’ (वही-150) रनिया (गुलमेंहदी - 48) ब्याही अनब्याही (कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह - 188) आदि स्त्री विमर्श की अवधारणा के अनेक पहलुओं को स्पर्श करती हैं।

‘दलित विमर्श’ की शर्तों में से यदि – दलित का लेखन ही दलित-विमर्श की कोटि में आयेगा – को दरकिनार कर दें, तो केदारजी की कविताओं में दलित विमर्श स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। ‘लकड़हारा’ (बसंत में प्रसन्न हुई पृथ्वी -19) ‘मल्लाह’ (वही-23) तकवैया (वही-26) चन्दनवा चैती गाता है’ (वही-32) ‘देवी के बैल कोई खोल ले गया’ (वही-66) ‘मोची’ (वही-144) ‘चन्दू’ (गुलमेंहदी-46) ‘चैतू’ (वही-47) ‘मजदूर’ (वही -44) ‘कुली’ (जो शिलाएँ-153) आदि इसकी गवाह हैं।

चार पंक्तियों की एक छोटी सी कविता है ‘रोटी’। रोटी की क्रांतिकारी ताकत शक्तिशाली से शक्तिशाली एटम बमों को भी मात देती है –

‘जब रोटी पर संकट आया / तब भूखे ने द्रोह मचाया / राजपलटकर रोटी लाया / रोटी ने इतिहास बनाया ।’ सर्वहारा की ताकत सभी ताकतों से बड़ी है।

जिन लोगों ने केदारजी की ‘हे मेरी तुम’ श्रृंखला की कविताओं को नहीं पढ़ा है, उनके मन में यह भ्रम है कि इस श्रृंखला की सभी कविताएँ प्रेम की कविताएँ हैं। सच यह नहीं है। कुछ कविताओं को छोड़कर अधिसंख्य कविताएँ दुनिया जहान की बातें करती हैं, मसलन – चिड़ीमार द्वारा चिड़ियों के मारे जाने की पीड़ा, क्रूर काल से न डरना, प्रकृति, राजतंत्र की विसंगतियाँ, लोकतंत्र की विद्रूपताएँ, गरमी, जबर जंग झूठ, भीतर की लौ साधने का हौसला, तथा क्रांति का माहौल बनाये दहका खड़ा सेमल का पुरनिया पेड़, तथा गठरी चोरों की दुनिया में गठरी न चुराने और भुक्खड़ शाहशाह होने की गर्वोक्ति आदि आदि ।

केदारजी सहज और सरल जीवन जीने वाले प्राणी थे, बिल्कुल अपनी कविताओं की तरह। वह प्रशंसा, मान-सम्मान के खतरों को समझते थे। इसके दो खतरे होते हैं। एक तो यह कि अगर उसके अन्दर मान-सम्मान को पचाने की कूवत नहीं है, तो उसका दिमाग खराब हो सकता है। दूसरा यह कि मान-सम्मान के जरिए, वह सिर्फ पुजापे की वस्तु भी रह जाता है—जनता उसे मन्दिर में पत्थर की मूर्ति में तब्दील कर देती है या फिर ताबीज़ की तरह पहनकर उसे भूल जाती है। असल जिन्दगी में वह बेमानी हो जाता है। इसीलिए वह ताकीद करते हैं –

मुझे न मारो/मान पान से/माल्यार्पण से यशोगान से/मिट्टी के घर से/निकालकर/धरती से ऊपर उछालकर+2-सबसे आगे/हम हैं/पाँव दुखाने में / सबसे पीछे / हम हैं / पाँव पुजाने में। 3. उतारकर धर दिया है मैंने अपना बड़प्पन / वहाँ उस मुर्दा अजायब घर में। जहाँ मरणोपरान्त धर दी जाती है/बड़े-बड़ों की उतारनें।

केदारजी यथार्थ के कवि हैं, सच्चाई के कवि हैं, वस्तुनिष्ठता के कवि हैं। पर उनकी वस्तुनिष्ठता कोरे रूप में कविता में नहीं आती। वस्तुनिष्ठता पहले उनकी आत्मनिष्ठता को निर्मित करती है और फिर दोनों की 'यौगिक संहति' उनकी कविता का निर्माण करती है – 'अकथ्य को हमने कहा नहीं/असत्य को हमने सहा नहीं/कथ्य को हमने सँवारा/तब कहा/सत्य को हमने दुलारा/तब कहा ।'

केदारनाथ अग्रवाल छोटी कविताओं के, बड़े अर्थवाले बड़े कवि हैं। छोटी-छोटी चीजों पर छोटी कविताएँ लिखने की प्रेरणा उन्हें ग्रीक कवयित्री सैफो से मिली थी। इन कविताओं का जबर्दस्त प्रभाव उनकी चेतना पर पड़ा। दोहा और सोरठा हमारे यहाँ पहले ही 'गागर में सागर' को चरितार्थ कर चुके हैं। व्यंजना का विस्तार और अर्थ की अपार गहराई केदारजी की छोटी कविताओं में भरी पड़ी है। पूरी मानव जाति के विकास की महागाथा में प्रकृति और मनुष्य के रिश्ते महज चन्द शब्दों में बयों करने की उनकी ताकत स्पृहणीय है – 'पेड़ नहीं। पृथ्वी के वंशज हैं/फूल लिये/ फल लिये मानव के अग्रज हैं ।' ऐसी अनेक कविताएँ उनकी पूरी काव्य-सम्पदा में भरी पड़ी हैं। एक और बानगी बालक ने/कंकड़ से/ताल को कँपा दिया / ताल को नहीं/अनन्त काल को कँपा दिया ।'

कविता का एक धर्म है – अशाश्वत को शाश्वत बनाना। मर्त्य को अमर्त्य बनाना। वे तमाम ऐसी चीजें जो काल के क्रूर थपेड़ों से नष्ट होने के लिए ही जन्मी

हैं – केदारजी की कविता में आकर अमरत्व प्राप्त कर गई हैं – गर्रा नाला, गुम्मा ईट, भोगिला बैल, भगौता बढई, रनिया, जहरी, गिलहरी, बया आदि-आदि इसकी मिसाल हैं। पर्यावरण में जिस तरह की तब्दीलियाँ हो रही हैं – केन नदी भी, टुनटुनिया पहाड़ भी अस्तित्वहीन हो सकते हैं—पर केदारजी की कविता में ये हमेशा अस्तित्ववान रहेंगे।

केदारजी बाल्यावस्था को छोड़कर लगातार शहरों में ही रहे, मसलन रायबरेली, कटनी, जबलपुर, इलाहाबाद, कानपुर और फिर बाँदा। लेकिन गाँव से सम्पर्क लगातार बना रहा—कचहरी की इसमें असरदार भूमिका रही। इसीलिए गाँव उनकी चेतना से उनके संस्कारों से कभी ओझल नहीं हो पाया। गाँव, गाँव का परिवेश, गाँव के चरित्र, गाँव का अन्तर्विरोध उनकी कविताओं की मूल धुरी रहे हैं। 'लोक का आलोक' उनकी कविताओं को 'संगमरमर के भीतर जल रहे दिए' की भाँति आलोकित किए हुए है। कुछ कविताएँ तो लोक कविता के बहुत ही निकट हैं। लोक कविता और लोक गीतों की एक खास विशेषता है –टेक। टेक मौखिक परम्परा में स्मरणीयता और मुख्य बात पर बल देने में कारगर होती है। केदारजी की कई कविताओं में इस टेक शैली के दर्शन होते हैं। ऐसी कविताओं की भाषा, इनकी शैली, इनकी कहन, इनके मुहावरे लोकथाली से ही निर्मित हुए हैं। 'आल्हा' बुन्देलखंड और अवध का बहुत प्रचलित पसंदीदा, प्रभावकारी और स्वीकार्य लोक काव्य-रूप हैं। 1946 में बम्बई में हुए नाविक विद्रोह पर केदारजी ने 'बम्बई का रक्तस्नान' शीर्षक से आल्हा लिखा। उसी समय सफदर, रामविलासजी तथा कुछ और लोग भी आल्हा लिख रहे थे। (केदारजी का 15.3.46 का पत्र) 'कामायनी' आल्हा छंद में ही रची गई है।

मूल रूप से केदारजी सहज भाषा और लय के कवि हैं अधिसंख्य कविताएँ भाष के स्तर पर सीधी-सादी, सरल और लोक की बोली-बानी की कविताएँ हैं। लेकिन सरलता का मतलब एकरेखीयता नहीं है। उनमें अनेक अर्थ-छवियाँ हैं और व्यंजना का विस्तार है। सामान्य अर्थों में कुछ और विशेष अर्थों में कुछ। विशेष अर्थों में वह गूढ़ और संश्लेष्य निहितार्थों के कवि है। अपनी कविता की यात्रा के उत्तर पक्ष में जब वे कचहरी से अपना नाता तोड़ चुकते हैं, लोक से सीधा सम्पर्क न के बराबर रह जाता है, पुस्तकों से सम्पर्क बढ़ जाता है— भाषा में आभिजात्य का पुट आने लगता है –'जग सोया/जागी गंधाली/प्राण-सार प्रज्ञा प्रतिपाली।'

उनकी बहुत कम ऐसी कविताएँ हैं, जिनमें लयात्मकता न हो। देखने में अतुकान्त लगनेवाली कविताएँ, कहीं कहीं तो गेयता की सीमा को छूती हुई, लयात्मक

तुकान्तता में पर्यवसित होती हैं। ऐसी ही कुछ अतुकान्त कविताएँ पंडित जसराज ने संगीतबद्ध की हैं – लयात्मकता के बूते पर ही। प्रारम्भिक काव्य-संस्कार इसके मूल में हो सकते हैं। कविता के संस्कार इन्हें तुक और लय से मालामाल कवित्त-सवैयों और अन्य छन्दों से ही मिले हैं। आरम्भिक दौर में केदारजी ने स्वयं कवित्त, संवैये और तुकप्रधान कविताएँ लिखी हैं। लेकिन ये सब तभी तक कारगर रहीं, जब तक कविता भावोद्गार और भवोच्छ्वास तक सीमित रही। जब यथार्थ की ऊबड़-खाबड़ जमीन पर कविता की यात्रा आरम्भ हुई तो तुक और छन्दोविधान के व्याकरण की जकड़बन्दी, इन्हें अपने को अभिव्यक्त करने में बाधक लगने लगी और केदारजी ने रामविलासजी के तमाम समझाने के बावजूद छंद और तुक की जकड़बन्दी से मुक्ति ले ली। (मुक्तछन्द के प्रति केदारजी की आसक्ति को देखकर रामविलास जी ने एक पत्र में उन्हें 'फ्रीवर्स मेरी जान' कहकर सम्बोधित किया।) लेकिन लय, अन्तः स्रोतस्विनी की तरह उनकी कविता में सहजता से प्रवाहित होती रही। लय उनकी कविताओं में उसी तरह अन्तर्भुक्त है, जैसे जिन्दगी में साँस।

केदारजी का मानना है कि किसी भी वस्तु को महज सुन्दर कहने से वह सुन्दर नहीं हो जाती – वह वस्तु सुन्दर क्यों है, यह बताना भी अनिवार्य है—'धूप सुन्दर धूप में जगरूप सुन्दर' कहने भर से ही धूप थोड़े ही सुन्दर हो जाएगी—धूप सुन्दर क्यों है—यह बताना पड़ेगा। यदि हम धूप का ही उदाहरण लें, तो हम पाते हैं कि केदारजी बाकायदा यह बताते हैं कि धूप सुन्दर क्यों है—वह धूप की सुन्दरता का एक बिम्ब, एक चित्र खड़ा करते हैं।

प्रगतिशील कवि महान मानवीय मूल्यों के कवि होते हैं। मनुष्य की स्वतंत्रता के पक्षधर कवि होते हैं। साम्राज्यवाद और युद्ध के विरोधी तथा शान्ति के पक्षधर कवि होते हैं। केदारनाथ अग्रवाल की कविता में ये सभी तत्व पूरी ताकत और ईमानदारी से मौजूद हैं।

केदारजी की ख्याति एक कवि के रूप में ही है। वह भी अपने को मुख्य रूप से कवि ही मानते हैं। हालाँकि परिमाण की दृष्टि से उनका गद्य उनकी कविता से कम नहीं है। उनके गद्य में भी उसी तरह का वैविध्य-विस्तार है जिस तरह कि उनकी कविता में। 'मित्र संवाद' में कई ऐसे प्रसंग हैं जिसमें जब रामविलासजी उनके पत्रों के गद्य की तारीफ करते हैं। तो वह उससे प्रसन्न नहीं होते, जबकि जैसे कविता उनकी रचना है वैसे ही गद्य भी उन्हीं का रचा हुआ होता है – "मेरी पत्नी अब अच्छी हैं। चलती फिरती हैं, घर का कामकाज भी थोड़ा करने लगी हैं।। महीने भर में आशा

है ठीक हो जायेंगी। तुम्हारी चिट्ठी सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुई, मुझसे 'सिंहार के रख देने को कहा। देखो तुम्हारा गद्य-काव्य स्त्रियों को भी अच्छा लगता है।" (रामविलास शर्मा 12.9.1957)

इस तरह रामविलासजी बार-बार केदारजी के पत्रों के गद्य की तारीफ करते हैं। उन्हें इनके पत्रों का गद्य इतना पसंद था कि वह उन पत्रों को दूसरों को पढ़वाते थे और कभी-कभी तो सामूहिक पाठ भी करते थे – अपने परिजनों – मित्रों के बीच। पत्रों की तारीफ सुनते-सुनते केदारजी रीझने के बजाय खीझ से जाते हैं और लिखते हैं – "मेरे पत्र तुम्हें अच्छे लगते हैं। यही तो वजह है कि तुम्हें मेरी कविताएँ नहीं रुचती। मैं जानता तो पत्र ही नहीं लिखता और तब देखता कि कविताएँ कैसे अच्छी नहीं लगती। भूल तो हो गयी न ! इसका पछतावा रहेगा" (केदारनाथ अग्रवाल 12.3.66)

केदारजी के पत्रों के गद्य पर अलग से कुछ कहने के बजाय रामविलासजी को उद्धृत करना मैं बेहतर समझता हूँ – 'केदार को हास्य विनोद से सहज प्रेम है। प्रेम ही नहीं हंसना, प्रसन्न रहना, उनकी सहज वरति है। 'वह हास्य विनोद की सामग्री वहाँ ढूँढ़ लेते हैं, जहाँ कवियों की निगाह कम जाती है। यहाँ उनके पत्रों का गद्य उनकी कविता से भिन्न है। कविता में एक छोर पर तीखा मारक व्यंग्य है (इसकी अनोखी मिसालें 'कहें केदार खरी खरी' में है।) दूसरे छोर पर 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' की दुनिया है। हँसने हँसाने के लिए कविता में उन्हें कम समय मिलता है। पर यह उनके व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण पक्ष है। इस दृष्टि से पत्रों का गद्य उनकी कविता का पूरक है। x x x x x बहुत जगह तो वह कविता बन जाता है, छायावादी शब्दावली में रचा हुआ गद्य काव्य नहीं, यथार्थवादी कविता, ऐसा गद्य जो अपनी गद्य की जमीन नहीं छोड़ता, फिर भी कविता बन जाता है और कहीं तो कविता से आगे बढ़ जाता है। केदार जो कुछ भी कविता में कहना चाहते हैं, उसे गद्य में भी कहते हैं। और इतने सहज भाव से कहते हैं कि उस अभिव्यक्ति की पूर्णता को कविता नहीं छू पाती हमेशा ऐसा नहीं होता, पर कभी कभी ऐसा भी होता है।

केदार के गद्य में बहुत सी भाव दशाएँ हैं – 'भाव भेद रस भेद अपारा' की उक्ति को चरितार्थ करती हुई। पता लगाना दिलचस्प होगा कि उनकी कविता में इतनी भाव दशाएँ हैं या नहीं। कहीं वह रीझते हैं, कहीं खीझते हैं, कहीं उत्तेजित होते, कहीं स्थिति प्रज्ञ, कहीं दुखी, कहीं प्रसन्न, कहीं किसी व्यक्ति या वरति से तादात्म्य, आपा खोए हुए बेसंभाल, कहीं एक दम तटस्थ, विवेकशील, तर्क का सूत कातते हुए मन ही

मन हंसते हुए । उनकी अनेक मुद्राएँ हैं, अनेक भंगिमाएँ हैं, मेरे लिए उनकी सबसे प्रिय मुद्रा वह है जब वह मन ही मन हंसते हैं 'सजल नयन गदगद गिरा गहवर मन पुलक शरीर' – कभी-कभी यह भी स्थिति होती है । x x x x x ।

उनके पत्र आत्मवक्तव्य का श्रेष्ठ साधन हैं । यह आत्माभिव्यक्ति परिवेश से कटी हुई नहीं है, दशदतापूर्वक उससे जुड़ी हुई है । कवि के व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया का अध्ययन करना हो तो इन पत्रों से ज्यादा अच्छी सामग्री दूसरी जगह न मिलेगी । x x x x x । केदार ने जो अच्छी कविताएँ लिखी हैं, उनके आसपास नागार्जुन निराला या किसी अन्य महाकवि की पंक्तियाँ पहुंच जायेंगी, पर केदार ने जो बढ़िया गद्य लिखा है, उस तक किस कवि का बढ़िया से बढ़िया गद्य पहुंचता है, विचार करें । ऐसा नहीं है कि हिन्दी में अच्छे गद्य लेखक नहीं हैं । हैं, और एक से बढ़कर एक हैं । सवाल गद्य के मिजाज का है । केदार अपने पत्रों में जिस तरह का गद्य लिखते हैं उस तरह का गद्य हिन्दी में किसी और ने नहीं लिखा है । दरअसल केदार अपने हुनर से बेखबर हैं । जो सहज है उसे ऐसा होना भी चाहिए । जहाँ-तहाँ केदार का गद्य 'राम की शक्ति पूजा' के उदात्त स्तर को स्पर्श कर पाता है ।' (मित्र संवाद : भूमिका)

केदारजी के पत्रों में कब कहाँ कोई दुर्लभ सटीक और सीधा लक्ष्य बेध करने वाला कोई वाक्य या कोई गद्य कविता अपने रोचक अंदाज में मिल जाएगी कहना मुश्किल है । कुछ उद्धरण पर्याप्त होंगे—

1. क्रांति भी अतीत के अन्दर से अपनी जड़ें निकालती है और अंकुरित होकर जो भी है उसी से शाखें फैलाती है । **Contradiction** के साथ ही क्रांति का सौन्दर्य फूटता है – मन मोहता है । (केदार – 12.4.1976)
2. नयी कविता की समस्या दूसरे को स्पर्श न कर सकने की समस्या है । (केदार – 24.2.59)
3. अच्छी कविता तभी बनती है, जब कवि उसमें डूब जाता है और आए हुए आषाढी बादल की तरह बरस पड़ता है । (केदार – 13.3.59)
4. कोई कविता हो वह वरण से पाई जाती है हरण से नहीं । यहाँ तो कविता वाले सोच विचार से काम नहीं लेते । झट से पालने में पड़े बच्चे की तरह जो भी हाथ में आया माँ का स्तन समझ चिचोरने लगते हैं । (केदार – 29.10.70)

5. कविता कोई फैशन की नयी आयी साड़ी नहीं है कि जो चाहे देखकर आँख मुलमुलाने लगे । (केदार – 14.12.73)
6. नये साल की बधाई लो । इस वक्त सबेरे का सूरज बादलों का लिहाफ ओढ़े अपने आसमानी घर में शायद चाय पी रहा है । वहाँ कोई पकौड़ी बनाने वाला या मुँगौड़ा बनाने वाला नहीं है, इससे वह केवल चाय पी रहा होगा । अगर बादल जरा भी फटा तो वह फौरन धरती की ओर मुँगौड़े वाली की दुकान तक आ जायेगा । (केदार – 1.1.1958)
7. घर में औरतें चूल्हा गरमाए खुद गरम हो रही हैं (केदार – 1.1.1958)
8. यहाँ गरमी रानी दिन में धूप की जलेबी बनाने लगी हैं । (केदार 7.5.58)
9. गरमी तो तेजधार की तरह लगती है और खून न बहाकर पसीने पसीने कर देती है । पानी भी बरसता है तो जैसे मुरदों पर चाँदी के गुलाबपाश से गुलाबजल छिड़का जा रहा है । हद हो गयी मेघराज तुम्हारी दया दक्षिणा । वह भी सरकारी हो गये हैं । (केदार : 29.7.1966)
10. यहाँ गरमी ऊँट पर चढ़ गयी है । (केदार – 14.5.69)

इस तरह के सैंकड़ों उद्धरण केदारजी के पत्रों में भरे पड़े हैं । विषय वस्तु के साथ-साथ भाषा की अनेक अर्थगर्भित, भावभरित, बहुरंगी छवियाँ केदारजी के पत्रों में बिना किसी भाषाई पाखंड के सहज स्वाभाविक रूप में उपलब्ध होती हैं ।

इन पत्रों में भाषा की ऐसी रवानगी मिलेगी, ऐसी ऐसी अनूठी उपमाएँ—उत्प्रेक्षाएँ, रूपक, मुहावरे, शब्दों की अजब-गजब गठन मिलेगी, बिना किसी बनाव शृंगार के कि क्या कहने हैं । क्योंकि यह कीमियागिरी का कमाल नहीं है । यह दिमागी पच्चीकारी की भाषा नहीं है – यह दिल की अतल गहराइयों से निकली सहजोन्मेष की भाषा है – अपने ठेठ देशी बनक और ठसक के साथ ।

यदि यह सही है कि गद्य कवियों की कसौटी है, तो केदारजी इस कसौटी पर शत-पतिशत खरे उतरते हैं ।

सूचना क्रांति के इस दौर में, संचार-माध्यमों की बाढ़ में पत्र-साहित्य, साहित्य की विलुप्त प्रजाति में तब्दील होने की कगार पर है । इस संदर्भ में नामवरजी का यह कथन और भी मायने खेज है – "मित्र संवाद" अन्ततः जीवन का गद्य है । गालिब ने

अगर अपने पत्रों के जरिये उर्दू गद्य की नींव डाली और उसे परवान चढ़ाया तो रामविलास शर्मा और केदारनाथ अग्रवाल के पत्रों ने हिन्दी में 'गद्य की विलुप्त कला' को बचा लिया ।''(आलोचना, जुलाई, सितम्बर 2000, पृ013)

उनके विपुल गद्य-साहित्य का एक रूप तो पत्रों का है जिसकी चर्चा की जा चुकी है । दूसरा प्रमुख रूप उनकी भूमिकाएँ और कुछ चिंतनपरक लेख हैं। उनकी भूमिकाएँ महज औपचारिक भूमिकाएँ नहीं हैं । ये भूमिकाएँ पर्याप्त विस्तार लिए हुए हैं- 'आधुनिक कवि-16' (साहित्य-सम्मेलन, इलाहाबाद सं0 1978) की भूमिका 43 पश्टों की है । इनके अलावा 'समय समय पर' (1970) विचार बोध (1980) तथा विवेक विवेचन (1981) में दर्जन से ज्यादा ऐसे लेख हैं - जिनमें कविता क्या है - कविता और समाज का सम्बंध क्या है - वस्तु परकता और आत्मपरकता क्या है और कविता में इनका पारस्परिक रिश्ता क्या है, लेनिन का 'संज्ञान' का सिद्धांत क्या है, कैसे संज्ञान की कलात्मक अभिव्यक्ति कविता में रूपांतरित होती है आदि अनेक सवालों का वस्तुपरक वैज्ञानिक विश्लेषण और मूल्यांकन किया गया है । कविता में कलात्मकता और सौंदर्य की क्या भूमिका है - संप्रेषणीयता और टिकाऊपन में कला कैसे मदद करती है वस्तुपरकता की आत्मपरकता आदि ऐसी अनेक अवधारणाएँ उनके ऐसे चिंतनपरक गद्य में भरी पड़ी हैं । प्रगतिशील कविता का सौंदर्यशास्त्र क्या है - यह जानना हो तो उनके ऐसे गद्य का अवगाहन अनिवार्य है । इनसे जुड़े सवालों पर केदारजी ने जितने विस्तार, गहराई और व्यापकता में जाकर चर्चा की है, उतना उनके समानधर्मा समकालीन किसी भी कवि ने नहीं की है । वह इन सवालों पर निरन्तर सोचते रहते थे, यही कारण है कि अपनी कविताओं में भी वह कविता पर बहुत बातें करते हैं। "कविता में कविता की बात" विषय पर एक छोटा-मोटा संकलन ही तैयार हो सकता है - जो उनके गद्य में कविता की अवधारणा का पूरक है ।

उनके ऐसे चिंतन प्रधान गद्य में उनका वकील पूरी शिद्दत के साथ मौजूद रहता है । वह अपनी अवधारणा को, पूरे तथ्यों के आलोक में नजीर देते हुए विश्लेषण की कसौटी पर कसते हुए स्थापित करते हैं । ऐसे गद्य में भावुकता का लगभग अभाव सा रहता है, उलझाव की छाया तक नहीं रहती तर्क-दर तर्क का एक ऐसा संगुंफन रहता है कि जो निष्कर्ष वह निकालते हैं, उसके अलावा और कोई दूसरा निष्कर्ष हो ही नहीं सकता । कालत इसमें उनकी मदद करती है - जैसे वे जज के सामने कोई मुकदमा लड़ते हैं, उसकी नजीरों के साथ पैरवी करते हैं वैसे ही, उसी शैली में तथ्यों की शृंखला दर शृंखला पेश करते हुए कविता के विकास की पूरी परंपरा का विश्लेषण करते हुए आज की कविता को व्याख्यायित और परिभाषित करते हैं।

केदारजी के गद्य का तीसरा रूप है - पुस्तक समीक्षाएँ । पुस्तक समीक्षाओं में - आजकल की समीक्षाओं के बरक्स - उनकी कोशिश यही रही है कि वह एक एक कविता को उसके पूरे सामाजिक परिवेश के साथ विश्लेषण करें और उसकी सामाजिक अर्थवत्ता उद्घाटित करें । वह किसी एक पंक्ति या एक-दो कविता को आधार बनाकर - उस पर कोई टिप्पणी या फतवा नहीं देते । इन समीक्षाओं में उनकी विश्लेषण परकता और तर्कणा शक्ति देखते ही बनती है । अपनी समीक्षाओं में वह कविता को उसकी सम्पूर्णता में समझना चाहते हैं ।

उनके गद्य का चौथा स्वरूप है जब वह किसी लेख या किसी की अवधारणा से अहमत होते हैं और फिर उसकी चीर-फाड़ करते हैं। ऐसे समय उनका गद्य काफी आक्रामक हो उठता है - व्यंग्य की तीखी धार के साथ । 'त्रिशंकु' में प्रकाशित अज्ञेय के कुछ लेखों - 'संस्कृति और परिस्थिति', 'रूढ़ि और मौलिकता' तथा 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' - में व्यक्त उनके अभिमतों की एक तरह से वह पूरी लानत-मलामत करते हैं। हिन्दी वालों पर फिराक साहब की टिप्पणियों पर जब वह अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं तो जगनिक के 'आल्हखण्ड' की यह पंक्ति बरबस याद आती है कि "कडुवा पानी है महोबे का हमसे बात सही ना जाय ।" कितना आक्रोश था केदारजी को फिराक साहब पर कि अपने प्रतिक्रियात्मक लेख का शीर्षक ही वह रखते हैं 'चाबुक' । भाषा बहुत आक्रामक और कहीं-कहीं असंयत भी हो गयी है । फिराक साहब को ऐसी खरी-खोटी सुनाते हैं कि, यह केदारजी की भाषा हो सकती है विश्वास नहीं होता - जैसा उनका शांत व्यक्तित्व था । ठीक यही बात 'उल्टी खोपड़ी की उपज' लेख में है। किसी सुरसती सरन ने भी हिन्दी पर ऊल जलूल टिप्पणी की थी । यह लेख उसी का माकूल जवाब देने के लिए लिखा गया था ।

केदारजी जब ऐसा करते हैं तो बाकायदे तर्कों और तथ्यों के साथ करते हैं। तर्कों की एक लड़ी बनाते हैं, इतिहास का हवाला देते हैं, वैज्ञानिक चिंतकों के उद्धरण देते हैं, समाज वैज्ञानिक चिंतन की कसौटी पर उसे कसते हैं । बात का बतंगड़ नहीं बनाते ।

जैसे कोई न्यायाधीश जब अपना निर्णय सुनाता है तो पक्ष-विपक्ष दोनों की दलीलों को सुनने के बाद उसे सत्य की तुला पर तौलता है । उसी तरह केदारजी भी अपना निर्णयात्मक मत प्रकट करने के पहले, इसी पद्धति का सहारा लेते हैं । वह एक तरफा फैसला नहीं सुनाते हैं।

उनके गद्य का पांचवा रूप है व्यक्तिपरक लेख - मित्रों पर या दूसरे कवियों पर । इसमें उनकी भाषा कभी-कभी संस्मरणात्मक होती है, व्यक्तित्व की पड़ताल करती

हुई, पर अगर उसके व्यक्तित्व या रचना या चरित्र में कहीं खोट है या उनसे कोई शिकायत है तो संकेत में ही सही उसकी चर्चा किये बिना नहीं रहते – यह उनकी सहज आदत है। न्यायालय में सत्य की लड़ाई लड़ते, साहित्य में भी वह लड़ाई बराबर लड़ते रहे हैं। सच से बड़ा उनके लिए कोई नहीं है, उनका बहुत खास मित्र भी।

उनके गद्य का छटा रूप है साहित्य के विभिन्न सवालों से टकराव। इसके लिए उन्होंने प्रश्नोत्तर शैली अपनायी है। 'आधुनिकता: नयी कविता समस्या और समाधान' इसी शैली का गद्य है।

उनके गद्य के सातवें रूप में हम उनके साक्षात्कारों को ले सकते हैं। 'कवि मित्रों से दूर' (संपादन अजय तिवारी) जिऊंगा जिंदगी अभी और अभी और (सं० भगवत रावत, राजेन्द्र शर्मा, मनोहर देवालिया) जैसी पुस्तकों से लेकर 'विवेक निवेदन' में संकलित –साक्षात्कारों तथा कुछ अन्यत्र पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित और अप्रकाशित साक्षात्कारों में उनकी बेबाक शैली के निदर्शन होते हैं, बिना किसी दुराव छिपाव के।

उनके गद्य के आठवें रूप में उनके वे भाषण हैं जो उन्होंने विभिन्न सम्मेलनों और समारोहों में दिये हैं।

उन्होंने एक दर्जन के आसपास कहानियाँ भी लिखी हैं। पहली कहानी जो उपलब्ध है वह 6.2.1930 को लिखी हुई 'बसंत' है। उनकी कुछ कहानियाँ विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुई हैं जैसे 'स्वराज्य आ गया' तथा 'छातियों का ऑपरेशन' आदि।

'जनता का मोर्चा' नाम से एक नाटक लिखा था। संभवतः जुलाई 1947 में, 'इप्टा' (इलाहाबाद) के लिए। यह नाटक हिन्दू मुस्लिम दंगों की पृष्ठ भूमि पर है। इसमें यह दिखाया गया है कि दंगे होते नहीं हैं – दोनों वर्गों के निहित स्वार्थी तत्व आपसी साँठ-गाँठ करके दंगे कराते हैं लेकिन यदि जनता जागरूक रहे तो ऐसे नियोजित दंगे रोके जा सकते हैं।

कुछ साहित्यिक प्रवृत्तियों से जुड़े लेख हैं। कुछ रेखाचित्रनुमां छोटे-छोटे लेख भी हैं जैसे 'पंत' 'निराला' 'महादेवी' आदि।

इनका यात्रा संस्मरण "बस्ती खिले गुलाबों की" – 1973 में इनकी रूस यात्रा से संबंधित है। इसकी भाषा कहीं कहीं कवियोजित विम्बधर्मी है। खासकर के वायुयान जब बादलों के ऊपर उड़ता है उस समय बादलों की जो चित्र विचित्र आकृतियाँ इन्हें

दिखाई पड़ती हैं उसका बहुत ही रोचक वर्णन मिलता है। कहीं-कहीं तथ्यप्रधान सपाट वर्णन भी हैं। एक बाल पेंटिंग प्रदर्शनी के कुछ चित्रों की व्याख्या से लगता है कि केदारजी को चित्रों की भाषा का भी अच्छा ज्ञान था। होना भी चाहिए क्योंकि उन्होंने लगभग एक दर्जन रेखाचित्र बनाए भी हैं।

उन्होंने एक उपन्यास पूरा लिखा एक अधूरा। संपूर्ण उपन्यास इस समय 'पतिया' नाम से उपलब्ध है। जिसका प्रकाशन 1985 में हुआ। 'पतिया' नाम केदारजी की सहमति से मेरा दिया हुआ है। इसका मूल शीर्षक "दहकते अंगारे" था जो मित्र संवाद के हवाले से कहे तो सन् 45 और 50 के बीच छपा रहा होगा। यह उपन्यास उनके अपने गांव की एक कहारिन पर आधारित है जिसमें इसके संघर्ष को और तत्कालीन सामन्तवादी सोच वाली सामाजिक व्यवस्था की अनेक विसंगतियों और उसके अंतर्विरोधों को तथा सामंती व्यवस्था में नारी की क्या हैसियत थी उसका प्रामाणिक चित्रण हुआ है। दूसरा उपन्यास केदारजी ने 'तीन रास्ते' 1956 में लिखना शुरू किया था और नागार्जुन जब बाँदा आए थे तो उन्होंने इस उपन्यास के कुछ अंश उन्हें सुनाये भी थे। "मैंने अपना उपन्यास भी सुनाया। उन्होंने कहा जरूर लिखो वरना डंडा मारेंगे। कुछ ही अंश लिख सका था। अतएव अब उसे शुरू कर चुका हूँ। लिखने पर भेजूंगा तुम्हें पढ़ने के लिए। विषय है : तीन रास्ते। 1ला है एम० एल० ए० रामनाथ का। 2सरा है बिन्दा का जो ईमानदार आदमी है लेकिन देहात की परिस्थितियों ने उसे मजबूर कर दिया कि बदमाश हो जाये। वह हो गया भ्रष्ट-पथिक। 3सरा है मनमोहन कुमार का। वह एक पत्रकार है। इन्हीं के चरित्रों के सम्पर्क में कथा का विकास होता है और यथार्थ खुलता है।" (मित्र संवाद भाग 1, पृ० 140)

सन 1986 में 'साक्षात्कार' के विशेषांक में इसका एक अंश "बैल बाजी मार ले गये" शीर्षक से प्रकाशित भी हो चुका है। यह नाम केदारजी की सहमति से मैंने दिया था क्योंकि उस समय तक 'मित्र संवाद-' का प्रकाशन नहीं हो पाया था और न ही केदारजी ने यह बताया कि इसका मूल शीर्षक "तीन रास्ते" है। इसके अलावा पांडुलिपि पर भी इसका कोई शीर्षक नहीं दिया हुआ था।

केदारजी के गद्य पर अलग से कुछ कहने की बजाय, केदारजी अपने गद्य के बारे में खुद क्या कहते हैं, जानना महत्वपूर्ण है। उनके गद्य के बारे में उनकी राय से मैं पूर्ण सहमति व्यक्त करता हूँ –

"मेरे गद्य में देहात की लढ़ी और लाठी की चाल और मार मिलेगी। वकील हूँ

इसलिए मेरा गद्य विश्लेषणात्मक और तथ्यपरक अधिक है। तर्क से तना मेरा गद्य जो बात कहता है, दम-खम से उभारकर, बिना शील-संकोच के बल देकर कहता है। मेरे गद्य की भाषा भी कभी कभी बहसनुमा – कभी-कभी कठोर और कटु कटारनुमा होती है। मेरा गद्य मेरे अनुभूत सत्य का पक्ष प्रेषित करता है और स्थापित करता है। जैसे मैं संशय और संदेह से सौ कोसों दूर रहता हूँ, वैसे मेरा गद्य भी उनसे उतनी ही दूर रहता है। जैसे मैं आदमी को उसके परिवेश के संदर्भ में समझता हूँ, वैसे मेरा गद्य उसे उसके परिवेश के संदर्भ में समझता है। मैं होकर भी मैं औरों से घनिष्ठ हूँ। मेरा गद्य भी मेरा होकर औरों के गद्य से घनिष्ठ है। कवि भी हूँ इसलिए कभी कभी मेरा गद्य भी काव्यात्मक हो जाता है। x x x x x बात का बतंगड़ बनाना मेरे गद्य की आदत नहीं है। अपराधी को दंड दिलाना मेरा पेशा है। यह पेशा मेरे गद्य का भी है। निर्भीकता से कर्तव्य करता हूँ और मुँह देखकर बात नहीं करता। यही हाल मेरे गद्य का है। x x x x x लेखों के गद्य से नितान्त भिन्न मेरे उन पत्रों का गद्य है जो मैंने अपने मित्रों और अभिन्नो को लिखे हैं। वे अधिक आत्मीय और अनौपचारिक हैं। उनमें अधिक खुलापन है। x x x x x पत्र में कही बात प्रतीति की बात होती है। लेख में कही बात तर्क और विवेक की बात होती है।” (केदारनाथ अग्रवाल, भूमिका : समय समय पर, पृष्ठ 8-9, साहित्य भंडार, इलाहाबाद सं० 2010)

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा की इस 'संचयिता' में कोशिश की गई है कि केदारजी के लेखन के सभी महत्वपूर्ण पक्षों की बानगी पाठकों को मिले। इसीलिए कविता के अलावा उनके गद्य के कुछ रूपों को भी इसमें सम्मिलित किया गया है। कविताओं का क्रम रचनाकाल के क्रम में है। कुछ कविताएँ जिनका रचनाकाल केदारजी ने नहीं दिया था उनका रचनाकाल उन संकलनों के प्रकाशन वर्ष को आधार बनाकर दिया गया है, जिसमें ऐसी कविताएँ प्रकाशित हुई थीं। जाहिर है कि वह सभी रचनाएँ उसी वर्ष की न होकर उसके पूर्व की होंगी। लेकिन उनकी सही रचना तिथि जानने का कोई आधार न होने के कारण इस आधार को अपनाया गया है। कुछ ऐसी रचनाएँ जिनकी संभावित रचना तिथि का कोई आधार नहीं मिला उन्हें "तिथिहीन" करके प्रकाशित किया गया है। उम्मीद है कि यह संचयिता पाठकों को केदारजी का सम्यक परिचय देने में कुछ हद तक कामयाब होगी।

मैं विशेष रूप से श्री विभूतिनारायण राय, कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा का आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे यह काम सौंपा और मुझमें भरोसा जताया। इसके साथ ही मैं सुश्री वन्दना मिश्रा और डॉ० वीरपाल यादव का भी

आभारी हूँ कि उन्होंने समय समय पर मेरी जिज्ञासाओं का शमन किया। इस संचयिता को सूरुचिपूर्ण ढंग से प्रकाशित करने के लिए साहित्य भंडार इलाहाबाद के मालिक श्री सतीशचन्द्र अग्रवाल, कलाकार डॉ० राधेश्याम अग्रवाल और प्रिय विभोर अग्रवाल को भी धन्यवाद देता हूँ। मैं श्री राजेश विग का भी आभारी हूँ कि उन्होंने इसकी पांडुलिपि तैयार करने में मेरी भरपूर मदद की।

• अशोक त्रिपाठी

1 अप्रैल 2011

483, कानूनगो अपार्टमेंट्स

71, इन्द्रप्रस्थ एक्सटेंशन

दिल्ली - 1100092

कविता

उसके अंगों के छूने की

उसके अंगों के छूने की
अब विद्युत दौड़ेगी उनमें
उसके ओंठों के चुम्बन की
अब मदिरा उतरेगी इनमें
उसने मेरी सेज सजायी
सेज सजाकर संग सुलाया
संग सुलाकर अंग मिलाया
ओंठों को रसपान कराया

18.3.1937

दोपहरी में नौका-विहार

कल जैसी दोपहरी बीती वैसी कभी न बीती!
यों तो जाने कैसी कैसी दोपहरी है बीतीं,
कमरों में प्यारे मित्रों में हँसते गाते बीतीं;
कल जैसी दोपहरी बीती वैसी कभी न बीती!
गंगा के मटमैले जल में छपछप डाँड़ चलाते,
सरसैया से परमठ होते, उल्टी गति में जाते,
तन का सारे जोर जमाते—धारा को कतराते,
आस-पास के जल-भ्रमरों से अपनी नाव बचाते,
धीरे-धीरे मजे-मजे से रुकते औ' सुसताते,
चुल्लू दो चुल्लू पानी पी मुँह को तरल बनाते,
आर-पार सब ओर ताकते आँखों को बहलाते,
पल-पल सूरज की गरमी में गोरे गात तपाते,
हाथों को मल-कल कर, रह रह दुख-संताप मिटाते,

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 75

फिर भी मौज मनाते, गाते, गुन-गुन गीत सुनाते,
खेते रहने की धुन में ही बढ़े चले थे जाते!
मैं था और मित्र थे मेरे, दोनों थे सैलानी;
काले घुँघराले केशों की वे थे खुली जवानी!
मैं थी लाल कपोलों वाली महिमामयी जवानी।
दो थे हम पर, दोनों की थी एक समान कहानी!
एक बजे से ले कर हमने साढ़े पाँच बजाये,
एक नहीं—छै छै छालों से दोनों हाथ दुखाये!
किन्तु नहीं हम इन छालों से किसी तरह घबराये,
चूम चूम तो हमने इनको मीठे दास बनाये!

1937

प्रागराज में

प्रागराज में
आज जहाँ तुम
पिता गेह में
मुझको बिसरा
हर्ष मनातीं।
वहीं-वहीं मैंने गंगा को
सागर मति को पाने जाती
आँखों देखा
प्रेम-मोहिनी रूप सजे थी
श्वेत उरोज उमंग भरे थी।

दूर दिशा से ही आती थी
पागल दिल की व्याकुल कम्पन
गहनों की रुनझुन
कानों में।

3.1.1938

76 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

मेरी कविताएँ

स्वादी संसारियों को
मेरी कविताएँ, दोस्त!
वौसी ही रुचेंगी जैसे
रोटी हथपोई मुझे
परवर के सूखे साग
कडुवे मिरचे के साथ
खूब रुचीं
तुमने जो बनाई थीं!

14.2.1940

प्रभात

आज मैंने रूप-रक्त प्रभात देखा।
अरूण-अंग-अबीर की रज
वायु-वंशी के सहसों छिद्र से झर,
संवरण बन,
सृष्टि पर छाई प्रचुरतर,
राग का, आह्लाद का सम्पात देखा।

वेश साजन का सजाए,
एक टोली में खड़े लाखों चने सब,
मत्त होकर,
घंटियाँ टुन-टुन बजाते,
श्याम तन को पूर्ण विद्रुम गात देखा।
गेहुओं की बालियों को,
शीश से अंचल हटाकर, गुहे चोटी,
यौवनातुर
लाज का परिधान तजकर
नेह से सुस्मित मधुर प्रतिपात देखा।

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 77

घेनुओं को घेनु-शिशु को,
पूँछ नीचे और ऊपर फेर प्रतिपल
आँख मूँदें,
रंग से बचते-बचाते
मार्ग जाते, कूदते द्रुत-गात देखा।
आज मैंने रूप-रक्त प्रभात देखा।

10.6.1941

आदि शक्ति मैं

आदि शक्ति मैं;
अजर अमर मैं; परम ब्रह्म मैं;
करण और कारण मैं भव का;
मैं प्रकार, आकार, रूप मैं,
राग, रंग परिमल, पराग मैं;
तेज, ताप मैं;
स्वर, लय, गति मैं;
पूर्ण, मुक्त मैं;
महावेग मैं;

चिर-नूतन मैं; चिर अव्यय मैं।
किन्तु.....किन्तु.....,
मैं नहीं आज सब!
अधिवासी मैं मिट्टी के क्षत-विक्षत घर का!!

लोना खाई
दीमक खाई
दुर्बल निर्बल दीवारों का, मैं अधिवासी!
मेरी पत्नी तम की तिरिया;
मैं हूँ, मेरा चिन्ह न कोई;
प्रतिभा का प्रतिबिम्ब न कोई;

78 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

मकड़ी मेरा बन्धन बुनती!
मुसटी मेरी आयु कुतरती!!
मैं अधिवासी मिट्टी के क्षत-विक्षत घर का!!

22.2.1942

बाप बेटा बेचता है

बाप बेटा बेचता है
भूख से बेहाल होकर,
धर्म, धीरज, प्राण खोकर,
हो रही अनरीति बर्बर राष्ट्र सारा देखता है।

बाप बेटा बेचता है,
माँ अचेतन हो रही है,
मूर्छना में रो रही है,
दाम के निर्मम चरण पर प्रेम माथा टेकता है।

बाप बेटा बेचता है,
शर्म से आँखें न उठतीं,
रोष से छाती धधकती,
और अपनी दासता का शूल उर को छेदता है
बाप बेटा बेचता है।

1943

आजाद खून के दौर से

आजाद खून के दौर से
धमनी धारा हो बहती है;
हरदम पहाड़ से लड़ती है;
चट्टान तोड़ती बढ़ती है;
निर्भय दहाड़ती रहती है!

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 79

आजाद खून की ताकत से
हड्डी लोहा हो जाती है,
चोटों पर चोटें खाती है—
आफत से कूटी जाती है,
पर नहीं टूटने आती है!

आजाद खून की गरमी से
टेढ़ा रोआँ गरमाता है
गरमी पाकर तन जाता है,
फिर नहीं झुकाया जाता है—
ऐसा बलीन हो जाता है!

आजाद खून की साँसों से
मुरदा बस्ती जी उठती है,
चौड़ी छाती से हँसती है,
फिर नहीं ढहाये ढहती है,
फिर नहीं मिटाये मिटती है!

आजाद खून के गौरव से
जीवन से दुख मिट जाता है,
प्राणों से भय हट जाता है,
निर्भीक हृदय हो जाता है,
मस्तक ऊँचा हो जाता है।

1943

जनता

अत्याचारों के होने से
लोहू के बहने चुसने से
बोटी-बोटी नुच जाने से
किसी देश या किसी राष्ट्र की
कभी नहीं जनता मरती है

80 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

मुरदा होकर भी जीती है
बंदी रहकर भी जीती है

साँसों-साँसों पर उड़ती है
किसी देश या किसी राष्ट्र की
कभी नहीं जनता मरती है।
सब देशों या सब राष्ट्रों में
शासक ही शासक मरते हैं
शोषक ही शोषक मरते हैं
किसी देश या किसी राष्ट्र की
कभी नहीं जनता मरती है।

जनता सत्व्यों की भार्या है
जागृत जीवन की जननी है
महामही की महाशक्ति है
किसी देश या किसी राष्ट्र की
कभी नहीं जनता मरती है।

6.3.1945

एका का बल

डंका बजा गाँव के भीतर,
सब चमार हो गए इकट्ठा।
एक उठा बोला दहाड़कर :
“हम पचास हैं,
मगर हाथ सौ फौलादी हैं।
सौ हाथों के एका का बल बहुत बड़ा है।
हम पहाड़ को भी उखाड़ कर रख सकते हैं।

जमींदार यह अन्यायी है।
कामकाज सब करवाता है,

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 81

पर पैसे देता है छै ही।
वह कहता है ‘बस इतना लो,
काम करो, या गाँव छोड़ दो’।
पंचों! यह बेहद बेजा है!
हाथ उठाओ,
सब जन गरजो :
गाँव छोड़ कर नहीं जायेंगे,
यहीं रहे हैं, यहीं रहेंगे,
और मजूरी पूरी लेंगे,
बिला मजूरी पूरी पाये
हवा हाथ से नहीं झलेंगे।”
हाथ उठाये,
फन फैलाये,
सब जन गरजे।
फैले फन की फुफकारों से
जमींदार की लक्ष्मी रोयी!!

5.8.1946

हम उजाला जगमगाना चाहते हैं

हम उजाला जगमगाना चाहते हैं,
अब अँधेरे को हटाना चाहते हैं।

हम मरे दिल को जिलाना चाहते हैं,
हम गिरे सिर को उठाना चाहते हैं।

बेसुरा स्वर हम मिलाना चाहते हैं,
ताल-तुक पर गान गाना चाहते हैं।

हम सबों को सम बनाना चाहते हैं,
अब बराबर पर बिठाना चाहते हैं।

82 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

हम उन्हें धरती दिलाना चाहते हैं,
जो वहाँ सोना उगाना चाहते हैं।

28.9.1946

न मारौ नजरिया

हमका न मारौ नजरिया
ऊँची अटरिया माँ बैठी रहौ तुम,
राजा की ओढ़े चुनरिया।
वेवेल के संगे माँ घूमौ झमाझम,
हमको बिसारे गुजरिया।।

संगी-संहाती तबलचिन का लै कै,
दूयाखौ बिदेसी बजरिया।
गावौ, बजावौ, मजे माँ बितावौ,
ऐसी न अइहै उमरिया।।

राजा के हिरदय से हिरदय मिलावौ,
करती रहौ रंगरेलियाँ।
हमका पियारा है भारत हमारा,
तुमका पियारा फिरंगिया।।
हमका न मारौ नजरिया!

28.12.1946

क्या लाये!

लंदन गये—लौट आये।
बोलौ! अजादी लाये?
नकली मिली या कि असली मिली है?
कितनी दलाली में कितनी मिली है?
आधी तिहाई कि पूरी मिली है?
कच्ची कली है कि फूली-खिली है?

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 83

कैसे खड़े शरमाये?
बोलौ! अजादी लाये?
राजा ने दी है कि वादा किया है?
पैथिक ने दी है कि वादा किया है?
आशा दिया है दिलासा दिया है!
ठेंगा दिखा कर रवाना किया है!
दोनों नयन भर लाये!
अच्छी अजादी लाये?

28.12.1946

घन-जन

घन गरजे जन गरजे
बन्दी सागर को लख कातर
एक रोष से
घन गरजे जन गरजे
क्षत-विक्षत लख हिमगिरि अन्तर
एक शोध से
घन गरजे जन गरजे
देख नाश का ताण्डव बर्बर
एक बोध से।
घन गरजे जन गरजे

1946

धरती

यह धरती है उस किसान की
जो बैलों के कंधों पर
बरसात घाम में,
जुआ भाग्य का रख देता है,
खून चाटती हुई वायु में,

84 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

पैनी कुसी खेत के भीतर,
दूर कलेजे तक ले जाकर,
जोत डालता है मिट्टी को,
पाँस डाल कर ,
और बीज फिर बो देता है
नये वर्ष में नयी फसल के।
ढेर अन्न का लग जाता है।
यह धरती है उस किसान की।

नहीं कृष्ण की,
नहीं राम की,
नहीं भीम, सहदेव, नकुल की,
नहीं पार्थ की,
नहीं राव की, नहीं रंक की,
नहीं तेग, तलवार, धर्म की
नहीं किसी की, नहीं किसी की;
धरती है केवल किसान की।

सूर्योदय, सूर्यास्त असंख्यों
सोना ही सोना बरसा कर
मोल नहीं ले पाए इसको;
भीषण बादल
आसमान में गरज-गरज कर
धरती को न कभी हर पाये,
प्रलय सिन्धु में डूब-डूब कर
उभर-उभर आयी है ऊपर।
भूचालों-भूकम्पों से यह मिट न सकी है।

यह धरती है उस किसान की,
जो मिट्टी का पूर्ण पारखी,
जो मिट्टी के संग साथ ही,
तप कर,

गल कर,
जी कर,
मर कर,
खपा रहा है जीवन अपना,
देख रहा है मिट्टी में सोने का सपना;
मिट्टी की महिमा गाता
मिट्टी के ही अन्तस्तल में,
अपने तन की खाद मिला कर,
मिट्टी को जीवित रखता है;
खुद जीता है।
यह धरती है उस किसान की!

कटुई का गीत

काटो काटो काटो करबी
साइत और कुसाइत क्या है
जीवन से बढ़ साइत क्या है

काटो काटो काटो करबी
मारो मारो मारो हँसिया
हिंसा और अहिंसा क्या है
जीवन से बढ़ हिंसा क्या है

मारो मारो मारो हँसिया
पाटो पाटो पाटो धरती
धीरज और अधीरज क्या है
कारज से बढ़ धीरज क्या है

पाटो पाटो पाटो धरती
काटो काटो काटो करबी

रनिया

रनिया मेरी देस बहन है
अति गरीब है—अति गरीब है!
मैं रनिया का देस बन्धु हूँ,
अति अमीर हूँ—अति अमीर हूँ!!

रनिया के कर में हँसिया है,
घास काटने में कुशला है।
मेरे हाथों में रुपिया है
मैं सुख-सौदागर छलिया हूँ!!

रनिया अब तक जन्मान्तर से
ज्यों की त्यों पूरी भूखी है।
मैं जन्मान्तर से वैसा ही
ज्यों का यों पूरा खाता हूँ!!

रनिया बिल्कुल वही-वही है
चिरकुट ही चिरकुट पहने है।
मैं भी बिल्कुल वही-वही हूँ
रेशम ही रेशम पहने हूँ।

रनिया मेरी दुखी बहन है
वह निदाघ में मुरझ रही है।
मैं रनिया का सुखी बन्धु हूँ
चिर बसन्त में विहँस रहा हूँ।

मैं और रनिया एक देश की
एक भूमि की, एक कुञ्ज की,
एक रंग की, एक रूप की,
रोती हँसती दो कलियाँ हैं।
रनिया कहती है, जग बदले

जल्दी बदले—जल्दी बदले।
मैं कहता हूँ कभी न बदले
कभी न बदले—कभी न बदले।।

किन्तु आज मेरे विरोध में
पूरा हिन्दुस्तान खड़ा है।
अब रनिया के दिन आये हैं
जग उसके माफिक बदला है।

1946

राष्ट्रीय प्रतिध्वनि

लॉकेट लूँगी
मेरा गला बड़ा सूना है
आज न मानूँगी—झगडूँगी
लॉकेट लूँगी।

मैं तुमको पहचान गई हूँ
वादे करके तोड़ चुके हो
तुम पूरे झूठे निकले हो
जब देखो तब टरकाते हो।

आज तुम्हें तो देना होगा
मेरी जिद को रखना होगा
यही उचित है झट दे डालो
वरना बड़ा बखेड़ा होगा।
लाकेट लूँगी
सदा तुम्हारी बनी रहूँगी
सुख में दुख में साथ रहूँगी
मुझसे तुमसे प्रेम रहेगा।

1946

डाँगर

ये कामचोर
आरामतलब
मोटे तोंदियल भारी भरकम
हट्टे-कट्टे सब डाँगर ऊँघा करते हैं;
हम चौबीस घण्टे हँफते हैं।

है भूख बड़ी लम्बी-चौड़ी—
दस बीस जनों का सब खाना
ये एक अकेले खाते हैं;

दिन भर ही पागुर करते हैं
हम भूखे ही रह जाते हैं।

सिरदर्द हमें दुख देता है,
ज्वर बात हमें दुख देता है;
आँखों में पीर समाई है;
हट्टे-कट्टे डाँगर डकारते रहते हैं;
क्षय रोग हमें भख जाता है।

पेड़ों की लम्बी छाया में
ठंडी बयार के झोकों में
दुख-दुनिया से आँखें मीचे,
सपनों से रीझे रहते हैं
हम तो काँटों से रूँधते हैं।
बस जीभ घुमाने भर को है,
दो कान डुलाने भर को हैं;
दो सींग दिखाने भर को हैं,

बस पूँछ दबाने भर को है!
हम सीना खोले फिरते हैं!!

ये नीच प्रकृति,
ये भ्रष्ट-बुद्धि,
आजाद बिचरने के दुश्मन
हट्टे-कट्टे डाँगर उठकर
आगे बढ़ने से डरते हैं।
हम आजादी को मरते हैं।।

1946

वरदान

वैभव की विशाल छत्रछाया में,
स्वर्ण-सिंहासन पर;
रक्खी देख मन्दिरों में पत्थरों की मूर्तियाँ,
क्षुब्ध हो गर्भवती
ईश्वर से माँगती है वरदान।
केवल पाषाण हों
कोख की मेरी भी सन्तान।

1946

देवमूर्ति

छोटी-सी देवमूर्ति
आले में रक्खी थी।
बेचारी औचक ही,
चूहे के धक्के से,
दाँसा के पत्थर पर
नीचे गिर टूट गई!
ताज्जुब है मुझको तो!
करुणा के सागर के
अन्तर की एक बूँद,
भूमि पर न छलकी!!

1946

चित्रकूट के बौद्ध यात्री

चित्रकूट के बौद्ध यात्री,
सेतुआ, गुड़ गठरी में बाँधे;
गठरी को लाठी पर साधे,
लाठी को काँधे पर टाँगे;
दिनभर अधरम करने वाले,
परनारी को ठगने वाले;
परसम्पत्ति को हरने वाले,
भीषण हत्या करने वाले,
धर्म लूटने के अधिकारी
टोली की टोली में निकले,
जैसे गुड़ के लोभी चींटे,
लम्बी एक कतार बनाके
अपने-अपने बिल से निकले!
बंडी, काली तेलही पहने;
धोती ओछी गन्दी पहने;
गन्दे जीवन के अधिकारी,
स्वर्ग पहुँचने की इच्छा से
लम्बे-लम्बे कदमें धरते,
जल्दी-जल्दी साँसें भरते,
नंगे पैरों पैदल चलते!!
मैं बैठे सोचा करता हूँ—
ऐसे कैसे बौद्ध यात्री!
गन्दे जीवन से पाएँगे,
नंगे पैरों पैदल चलके,
अपने मन का कल्पित स्वर्ग!!

1946

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 91

दीन कुनबा

दीन दुखी यह कुनबा,
जाड़े की थरथर में कँपता
अपनी चौपारी में बैठा,
ताप रहा है कौड़ा!!
लकड़ी कण्डे सुलग रहे हैं,
आग लगी है;
थोड़ी-थोड़ी लपक उठी है;
धुआँ बढ़ा है;
बाहर नहीं निकल पाता है
सबको घेरे रह जाता है!!

1946

बुन्देलखण्ड के आदमी

हट्टे-कट्टे हाड़ों वाले,
चौड़ी, चकली काठी वाले
थोड़ी खेती-बाड़ी रक्खे
केवल खाते-पीते जीते!

कथा चूना लौंग सुपारी
तम्बाकू खा पीक उगलते,
चलते-फिरते, बैठे-ठाढ़े
गन्दे यश से धरती रँगते!

गुड़गुड़ गुड़गुड़ हुक्का पकड़े,
खूब धड़ाके धुआँ उड़ाते,
फूहड़ बातों की चर्चा के
फौवारे फैलाते जाते!
दीपक की छोटी बाती की

92 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

मन्दी उजियारी के नीचे
घण्टों आल्हा सुनते-सुनते
सो जाते हैं मुरदा जैसे!!

1946

पैतृक सम्पत्ति

जब बाप मरा तब यह पाया,
भूखे किसान के बेटे ने :
घर का मलवा, टूटी खटिया,
कुछ हाथ भूमि—वह भी परती।

चमरौधे जूते का तल्ला
छोटी, टूटी बुढ़िया औगी,
दरकी गोरसी बहसा हुक्का,
लोहे की पत्ती का चिमटा।

कंचन सुमेरु का प्रतियोगी
द्वारे का पर्वत घूरे का,
बनिया के रुपयों का कर्जा
जो नहीं चुकाने पर चुकता।

दीमक, गोजर, मच्छर, माटा—
ऐसे हजार सब सहवासी।
बस यही नहीं, जो भूख मिली
सौगुनी बाप से अधिक मिली।

अब पेट खलाये फिरता है।
चौड़ा मुँह बाये फिरता है।
वह क्या जाने आजादी क्या?
आजाद देश की बातें क्या??

1946

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 93

मैं घूमूँगा केन किनारे

मैं घूमूँगा केन किनारे
यों ही जैसे आज घूमता
लहर-लहर के साथ झूमता
संध्या के प्रिय अधर चूमता
दुनिया के दुख-द्वन्द्व बिसारे
मैं घूमूँगा केन किनारे
यों ही जैसे आज घूमता
छाया-छल का साथ छूटता
झूठा वैभव स्वप्न टूटता
ये घोंघे अनमोल बटोरे
मैं घूमूँगा केन किनारे।

1946

बैठा हूँ इस केन किनारे

बैठा हूँ इस केन किनारे!
दोनों हाथों में रेती है,
नीचे, अगल-बगल रेती है
होड़ राज्य-श्री से लेती है
मोद मुझे रेती देती है
रेती पर ही पाँव पसारे
बैठा हूँ इस केन किनारे
धीरे-धीरे जल बहता है
सुख की मृदु थपकी लहता है
बड़ी मधुर कविता कहता है
नभ जिस पर बिम्बित रहता है
मैं भी उस पर तन-मन वारे
बैठा हूँ इस केन किनारे
प्रकृति-प्रिया की माँग चमकती
चटुल मछलियाँ उछल चमकतीं

94 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

बगुलों की प्रिय पाँत चमकती
चाँदी जैसी रेत दमकती
मैं भी उज्ज्वल भाग्य निखारे
बैठा हूँ इस केन किनारे!

1946

चन्द्रगहना से लौटरी बेर

देख आया चन्द्रगहना।
देखता हूँ दृश्य अब मैं
मेड़ पर इस खेत की बैठा अकेला।

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिंगना चना,
बाँधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का,
सज कर खड़ा है

पास ही मिल कर उगी है
बीच में अलसी हठीली
देह की पतली, कमर की है लचीली,
नील फूले फूल को सिर पर चढ़ा कर
कह रही है, 'जो छुए यह
दूँ हृदय का दान उसको।'

और सरसों की न पूछो—
हो गयी सबसे सयानी,
हाथ पीले कर लिये हैं,
ब्याह-मंडप में पधारी;
फाग गाता मास फागुन
आ गया है आज जैसे।

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 95

देखता हूँ मैं : स्वयंवर हो रहा है,
प्रकृति का अनुराग-अंचल हिल रहा है
इस बिजन में
दूर व्यापारिक नगर से
प्रेम की प्रिय भूमि उपजाऊ अधिक है।

और पैरों के तले है एक पोखर,
उठ रहीं इसमें लहरियाँ,

नील तल में जो उगी है घास भूरी
ले रही वह भी लहरियाँ।

एक चाँदी का बड़ा-सा गोल खम्भा
आँख को है चकमकाता।
हैं कई पत्थर किनारे
पी रहे चुपचाप पानी,
प्यास जाने कब बुझेगी!

चुप खड़ा बगुला डुबाये टाँग जल में,
देखते ही मीन चंचल
ध्यान निद्रा त्यागता है,
चट दबा कर चोंच में
नीचे गले के डालता है!

एक काले माथ वाली चतुर चिड़िया
श्वेत पंखों के झपाटे मार फौरन
टूट पड़ती है भरे जल के हृदय पर,
एक उजली चटुल मछली
चोंच पीली में दबा कर
दूर उड़ती है गगन में!
औ' यहीं से—

96 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

हवा हूँ, हवा मैं बसन्ती हवा हूँ।
वही हौं, वही जो सभी प्राणियों को
मिला प्रेम-आसव जिलाये हुए हूँ,
हवा हूँ, हवा, मैं बसन्ती हवा हूँ।

कसम रूप की है, कसम प्रेम की है,
कसम इस हृदय की, सुनो बात मेरी—
अनोखी हवा हूँ बड़ी बावली हूँ!

बड़ी मस्तमौला नहीं कुछ फिकर है,
बड़ी ही निडर हूँ, जिधर चाहती हूँ
उधर घूमती हूँ, मुसाफिर अजब हूँ!
न घर-बार मेरा, न उद्देश्य मेरा,
न इच्छा किसी को, न आशा किसी की,

न प्रेमी, न दुश्मन,
जिधर चाहती हूँ उधर घूमती हूँ!
हवा हूँ, हवा, मैं बसन्ती हवा हूँ।

जहाँ से चली मैं, जहाँ को गयी मैं,
शहर, गाँव, बस्ती,
नदी, रेत, निर्जन, हरे खेत, पोखर,
झुलाती चली मैं, झुमाती चली मैं,
हवा हूँ, हवा, मैं बसन्ती हवा हूँ।

चढ़ी पेड़ महुआ, थपाथप मचाया,
गिरी धम्म से फिर, चढ़ी आम ऊपर
उसे भी झकोरा, किया कान में 'कू',
उतर कर भगी मैं हरे खेत पहुँची—
वहाँ गेहुँओं में लहर खूब मारी,
पहर दो पहर क्या, अनेकों पहर तक

इसी में रही मैं।
खड़ी देख अलसी लिये शीश कलसी,
मुझे खूब सूझी!
हिलाया-झुलाया, गिरी पर न कलसी!
इसी हार को पा
हिलायी न सरसों, झुलायी न सरसों
मजा आ गया तब,
न सुध-बुध रही कुछ,
बसन्ती नवेली भरे गात में भी!
हवा हूँ, हवा, मैं बसन्ती हवा हूँ!
मुझे देखते ही अरहरी लजायी,
मनाया-बनाया, न मानी, न मानी,
उसे भी न छोड़ा—
पथिक आ रहा था, उसी पर ढकेला,
लगी जा हृदय से, कमर से चिपक कर,
हंसी जोर से मैं, हँसी सब दिशाएँ
हँसे लहलहाते हरे खेत सारे,
हँसी चमचमाती अरी धूप प्यारी,
बसन्ती हवा में हँसी सृष्टि सारी!
हवा हूँ, हवा, मैं बसन्ती हवा हूँ।।

1946

कानपुर

चोटों पर चोटें जो धन की
खाकर कभी नहीं तड़की है,
उस हड्डी पर—उस पसली पर
श्रमजीवी की उस छाती पर,
कानपुर का शहर सजीला,
कई मील के लम्बे-चौड़े
मिलों कारखानों को घेरे

घण्टाघर ले बसा हुआ है।
कंकड़ पत्थर, कोलतार की
काली-काली चौड़ी सड़कें—
दूकानों का बोझा लादे
गहरी निद्रा में लेटी हैं।

कई टनों के पर्वत जैसे
सड़क कूटने वाले इंजन,
मनों बोझ के टायर पहने
चलने वाले लाखों मोटर,
लोहे की पटरी की सड़कें,
भारी-भरकम रेलगाड़ियाँ,
उस हड्डी पर—उस पसली पर
चलने-फिरने में तन्मय हैं।

घाट, धर्मशाले, अदालतें,
विद्यालय वेश्यालय सारे,
होटल दफ्तर बूचड़खाने,
मन्दिर, मस्जिद, हाट सिनेमा,
श्रमजीवी की उस हड्डी से
टिके हुए हैं—जिस हड्डी को
सभ्य आदमी के समाज ने
टेढ़ी करके मोड़ दिया है।।

कानपुर की सारी सत्ता—
श्रमजीवी की ही सत्ता है।
कानपुर की सारी माया
श्रमजीवी की ही माया है।।

1946

मछुआहे

अर्गती चौगुनी धार को
सहज चीर कर बढ़ने वाले,
गंगातट के ये मछुआहे
नैया पार लगाने वाले,
आदमखोर मगर को घेरे
बल विक्रम से मार रहे हैं;
कूर कुल्हाड़ी की चोटों से
मांस काट कर रींध रहे हैं।
और गरम ही गरम चबा के
भूख पेट की मिटा रहे हैं।
काश इन्हें आजादी की भी
ऐसी उत्कट भूख सताती।।
पूरे त्रासित होकर जिससे
ये जी-जान लगाकर जुटते,
ज्वाला एक जलाकर क्षण में
आदमखोर गुलामी भखते।

1946

वीरांगना

मैंने उसको

जब-जब देखा,
लोहा देखा,
लोहा जैसा—
तपते देखा,
गलते देखा,
ढलते देखा,

मैंने उसको

गोली जैसा
चलते देखा!

1946

टूटें न तार तने जीवन सितार के

टूटें न तार तने जीवन-सितार के
ऐसा बजाओ इन्हें प्रतिभा की ताल से,
किरणों से, कुंकुम से, सेंदुर-गुलाल से,
लज्जित हो युग का अँधेरा निहार के।

टूटें न तार तने जीवन-सितार के
ऐसा बजाओ इन्हें ममता की ज्वाल से
फूलों की उँगली के कोमल प्रवाल से,
पूरे हों सपने अधूरे सिंगार के।
टूटें न तार तने जीवन-सितार के
ऐसा बजाओ इन्हें सौरभ के श्वास से,
आशा की भाषा से, यौवन के हास से,
छाया बसन्त रहे उपवन में प्यार के।

1946

खेत का दृश्य

आसमान की ओढ़नी ओढ़े,
धानी पहने
फसल घँघरिया,
राधा बन कर धरती नाची,
नाचा हँसमुख
कृषक सँवरिया।
माती थाप हवा की पड़ती,
पेड़ों की बज
रही ढुलकिया,
जी भर फाग पखेरू गाते,
ढरकी रस की

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 103

राग-गगरिया!

मैंने ऐसा दृश्य निहार,
मेरी रही न
मुझे खबरिया,
खेतों के नर्तन-उत्सव में,
भूला तन-मन
गेह-डगरिया।

1946

मिल मालिक

मिल मालिक का बड़ा पेट है
बड़े पेट में बड़ी भूख है
बड़ी भूख में बड़ा जोर है
बड़े जोर में जुलुम घोर है
मिल मालिक का बड़ा पेट है
अत्याचारी नीति धारता
शोषण का कटु दाँव मारता
गला-काट पंजा पसारता

मिल मालिक का बड़ा पेट है
मजदूरों को नहीं छोड़ता
उन्हें चूस कर तोष तोलता
एकाकी ही स्वर्ग भोगता।

15.6.1947

खेतिहर

अबकी धान बहुत उपजा है
पेड़ इकहरे दुगुन गये हैं

104 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

धरती पर लद गयी फसल है
रती भर अब जगह नहीं है
खेत काटने की इच्छा से
खेतिहर प्रिय जन साथ समेटे
काछा मारे—देह उघारे
आ धमका है आज सबेरे
सबके हाथों में हँसिया है
सबकी बाँहों में ताकत है
जल्दी जल्दी साँसें लेते
सब जन मन से काट रहे हैं
एक लगन से, एक ध्येय से
जीवन का श्रम सफल हुआ है
जिन्दा दिल हो कर उठने को
खाने को भरपूर मिला है

24.7.1947

कमकर

कमकर,
रो कर—हाथ जोड़ कर,
पाँव पूज कर,
दया-भीख से
नहीं कमाते अपनी रोटी।

वह दिन भर
मेहनत करते हैं,
पत्थर लोहे से लड़ते हैं,
लड़ते लड़ते घिस जाते हैं,
घिसते घिसते मिट जाते हैं,
तब पाते हैं

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 105

अपनी रोटी, अपना चिथड़ा,
अपना दरबा!
उनके शोषक पूँजीपति हैं,
जो उनकी मेहनत की पूँजी,
अपने बैंकों में धरते हैं;
जो उनके पौरुष-प्रतिभा को
जल्दी जल्दी चर जाते हैं,
मोटे हो कर इतराते हैं,
और उन्हें मुरदा करते हैं!

पर
अब युग ने पलटा खाया
उनमें बल लड़ने का आया
वह
शोषण से युद्ध ठानते
थैलीशाहों को पछाड़ते
माँगों को स्वीकार कराते

चेत गये हैं कमकर सारे
साम्यवाद की अर्थ नीति से
राजनीति को जीत रहे हैं!!

8.10.1947

शपथ

आज हँसे हम।
जमी बर्फ ओठों से पिघली,
फाँसी का फंदा भी छूटा,
गला खुला अब!

106 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

ढाई सौ वर्षों के बाद,
हाथ-पाँव की कड़ियाँ तड़कीं,
छाती से सब कीलें उखड़ीं,
सूखा लोहू नस-नस दौड़ा,
हृदय जिया अब!

ढाई सौ वर्षों के बाद,
भाई ने भाई को भेंटा,
माँओं ने पुत्रों को चूमा,
उर-उरोज से पति-पत्नी का,
मिलन हुआ अब।

ढाई सौ वर्षों के बाद,
किन्तु, झोपड़ी वहीं खड़ी है,
नयी ईंट तक नहीं लगी है,
बड़ी गरीबी भरी पड़ी है,
वही धुआँ है,
वही क्षुधा है,
वही कर्ज है,
वही सूद है,
वही जमींदारों का छल है,
मानव से मानव शोषित है!

अतः आज हम हँसते हँसते,
नयी शपथ यह प्रथम करेंगे,
शोषक का साम्राज्य हरेंगे,
जनवादी सरकार करेंगे,
निधड़क हम निर्माण करेंगे;
रात और दिन काम करेंगे,
पाँच साल में पूरा भारत,
स्वर्ग करेंगे—स्वर्ग करेंगे!
आज हँसे हम, सदा हँसेंगे!!

10.10.1947

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 107

भोर होवे

रात लम्बी है—
अँधेरा चल रहा है।
भूमि-नभ का
दीप तारा बुझ रहा है;
आदमी भी
हाथ बाँधे सो रहा है।
स्वप्न आँखों में
तड़पता खो रहा है!
भोर होवे भोर होवे
हो रहा है!!

26.12.1947

चिड़ीमार

चिड़ीमार ने मारी
गोली।
हवा चीरती हत्या
झपटी।
मुक्त जीव ने खाया
गोता।
भेद गयी जीवन की
छाती।
बूँद-बूँद से टपका
लोहू।
गिरा पट्ट से मुरदा
पक्षी।

27.12.1947

108 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

गेहूँ

आर-पार चौड़े खेतों में
चारों ओर दिशाएँ घेरे
लाखों की अगणित संख्या में
ऊँचा गेहूँ डटा खड़ा है।
ताकत में मुट्ठी बाँधे है,
नोकीले भाले ताने है;
हिम्मत वाली लाल फौज सा
मर मिटने को झूम रहा है।

फागुन की मस्ती के झोंके
दौड़े आते हैं उड़ उड़ के,
अंगों में, बाहों में कसके
उसकी मति को मंद बनाने,
और धूप की गरम गोद में
वैभव की चितवन के नीचे
मीठी मीठी नींद सुलाके
उसका दृढ़ अस्तित्व मिटाने।

लेकिन गेहूँ नहीं हारता
नहीं प्रेम से विचलित होता;
हाँसिया से आहत होता है

तन की, मन की बलि देता है :
सतत घोर संकट सहता है
अन्तिम बलिदानों से अपने
सबल किसानों को करता है।

1947

गुम्मा ईंट

न कच्ची है
न सेवर है
न कोई खोखलापन है
समूची ठोस है ठस है,
बड़ी पक्की, बड़ी मजबूत हस्ती है
न यह होती
न टिकने की जगह होती
न बुनियादी सहारा आसरा होता
न बालू और पानी पर
खड़ा कोई किला होता।
इसी का दम है, बूता है
कि छोटे से बड़ा निर्माण करती है
न आँधी से
न पानी से
न तूफानों से डरती है
बला से, मौत से, आफत से लड़ती है।

1947

गर्रा नाला

काली मिट्टी, काले बादल का बेटा है।
टक्कर पर टक्कर देता, धक्के देता है।।
रोड़ों से वह बेहारे, लोहा लेता है।
नंगे, भूखे काले लोगों का नेता है।
आगे, आगे, आगे, आगे सर्राता है।
खोए, सोए, मैदानों को थर्राता है।।
आओ, आओ, आओ-आओ अर्राता है।।
जीतो, जीतो, जीतो, जीतो नर्राता है।।

1947

स्टैचू

घास पर लेटा हुआ था—
सब कहीं काले सिलेटी मलिन धब्बे
व्योम में फैले हुए थे,
दीनता की ही बड़ी गठरी सरीखी दिख रहा था,
सिर धरे जिसको समेटे वसुमती,
—निज पुरातन आयु का सब कुछ सम्हाले—
राह पर लकड़ी टिकाए, कमर तोड़े
चुप खड़ी थी (अन्त में यह दृश्य देखा)।
आदि में पर खूब देखा।
श्वेत प्रस्तर खण्ड में भी
नग्न नारी देह सुन्दर
मांस की मृदुता भरे थी,
चाँदनी मय स्वस्थ यौवन खुल रहा था,
हंस ग्रीवा के सुकोमल वृत्त पर
मुख था कलामय;
सूक्ष्म भाव प्रवाह वाहक :
तार वीणा के सदृश सब
केश जूड़े के खिंचे थे,
राह भूले नेत्र-नेही खुल गये थे
बन्द होंगे फिर न जैसे, रस भरे दोनों अधर
होकर कड़े अति सट गये थे,
और कन्धों से तनिक नीचे उतरकर,
वासना के हाथ से अब तक अछूते औ अदोलित,
दो मृदुल दलदार वृत्ताकार कुच थे,
ठीक जिनके बीच में सँकरे सुथल पर
पंचशर ने पुष्प वाणों को घेरा था।

क्षीण कटि थी,
पीन जाँघें,
चल नहीं सकते चरण थे।

दूर अतिशय दूर—
धूमिल क्षितिज-रेखा पार जाकर
आज तक आया न प्रेमी मूर्तिकार।
नग्न नारी प्राण प्यारी चुप खड़ी थी।

1947

यदि आयेगा डालर

यहाँ हमारी जन्मभूमि पर यदि आयेगा डालर,
तो वह सौदा-सुलुफ बेच कर,
मातृभूमि का सारा सोना ले जायेगा;
अमरीका में अपनी सड़कें,
उस सोने की बनवायेगा;
और चलेगा उस पर सज कर तामझाम से,
वह शराब के प्याले पीता।

उसके मंत्री और मित्रगण,
राजकाज के सब अधिकारी,
उसके पीछे साथ चलेंगे।

वह अपने साम्राज्यवाद के घोर नशे में,
भारतीय पूँजीपतियों से साँठ-गाँठ कर,
क्रय दिल्ली की राजनीति कर लेगा;
नेहरू और पटेल आदि की मति हर लेगा।
फिर मारेगा जालिम कोड़े;
खून हमारा बह निकलेगा;
पीठ हमारी छिल जायेगी;
बंद करेगा हमें जेल में;

रोजगार भी अपने हित का खूब करेगा;
और हमारे तन की चमड़ी,

अपने 'ड्रम' के मुँह पर मढ़ कर,
उसे बजा कर,
तानाशाही की प्रभुता का शोर करेगा।

हम उसके बर्बर शासन से मिट जायेंगे;
हम उसके दुर्दम शोषण से मर जायेंगे;
लेकिन हॉलीवुड के भीतर
वह नाचेगा औ' गायेगा,
मिस अमरीका के प्रिय ओठों पर,
सौ-सौ चुम्बन बरसायेगा!!

9.8.1948

नेता

लन्दन में बिक आया नेता, हाथ कटा कर आया।
एटली-बेविन-अंग्रेजों में, खोया और बिलाया।।
भारत-माँ का पूत-सिपाही, पर घर में भरमाया।
अंग्रेजी-साम्राज्यवाद का, उसने डिनर उड़ाया।।
अर्थनीति में राजनीति में, गहरा गोता खाया।
जनवादी भारत का उसने, सब कुछ वहाँ गँवाया।।
गोरी चमड़ी की बातों ने, उस पर रंग जमाया।
रीझ-रीझ कर, उसके आगे, उसने शीश नवाया।।
कूट हलाहल पीकर उसने, अपनी प्यास बुझाया।
और धुएँ में तैर-तैर कर, काफी नाम कमाया।।
वह तो अब बिल्कुल लगता है, टेम्स नदी का जाया।
पौंड देश का भक्त-भिखारी, डालर का दुलराया।।
कहता है केदार सुनो जी! हमको नहीं सुहाया।
मुरदों ने जिन्दा नेता को, अपना कौर बनाया।।
कान काटने गया, न लेकिन, कान काट कर आया।
उल्टे अपनी नाक कटा कर, देखो रोता आया।।

1.11.1948

जो शिलाएँ तोड़ते हैं

जिन्दगी को

वह गढ़ेंगे जो शिलाएँ तोड़ते हैं,
जो भगीरथ नीर की निर्भय शिराएँ मोड़ते हैं।
यज्ञ को इस शक्ति-श्रम के
श्रेष्ठतम मैं मानता हूँ!!

जिंदगी को

वह गढ़ेंगे जो खदानें खोदते हैं
लौह के सोये असुर को कर्म-रथ में जोतते हैं।
यज्ञ को इस शक्ति-श्रम के
श्रेष्ठतम मैं मानता हूँ!!

जिंदगी को

वह गढ़ेंगे जो प्रभंजन हाँकते हैं,
शूरवीरों के चरण से रक्त-रेखा आँकते हैं।
यज्ञ को इस शक्ति-श्रम के
श्रेष्ठतम मैं मानता हूँ!!

जिंदगी को

वह गढ़ेंगे जो प्रलय को रोकते हैं,
रक्त से रंजित धरा कर शांति का पथ खोजते हैं।
यज्ञ को इस शक्ति-श्रम के
श्रेष्ठतम मैं मानता हूँ!!

मैं नया इंसान हूँ इस यज्ञ में सहयोग दूँगा।
खूबसूरत जिंदगी की नौजवानी भोग लूँगा।।

9.11.1948

जन-क्रांति

राख की मुरदा तहों के बहुत नीचे,
नींद की काली गुफाओं, के अँधेरे में तिरोहित,
मृत्यु के भुज-बन्धनों में चेतनाहत
जो अँगारे खो गये थे,
पूर्वी जन-क्रांति के भूकम्प ने उनको उभारा;
जिन्दगी की लाल लपटों ने उन्हें चूमा—सँवारा,
और वह दहके सबल शस्त्रास्त्र लेकर;
रक्त के शोषक विदेशी शासकों पर,
और देशी भेड़ियों पर!

4.12.48

मोरचे पर

मैं लड़ाई लड़ रहा हूँ मोरचे पर।
जिन्दगी की फौज मेरी शक्तिशाली
मैं जिसे लेकर यहाँ पर आ डटा हूँ—
घुड़सवारों पर जिसे अभिमान है,
पैदलों पर सिन्धु जिसके साथ है,
टैंक लाखों ही यहाँ मौजूद हैं,
तोपची जिसके कुशल करतार हैं,
आज आगे बढ़ रही है—
वेग से, बल से, उमड़ कर चढ़ रही है,
आततायी बैरियों की फौज ढहती जा रही है,
—आग से जैसे पिघल कर मोमबत्ती गल रही है,
लौह की दीवार के गढ़ कायरों के
चूर करती जा रही है।
मैं लड़ाई लड़ रहा हूँ मोरचे पर!
आप ही अपने हृदय के द्वन्द्व को मैं मारता हूँ;
वह अभी तक सूरमा था,
दक्ष भी था,

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 115

क्रूर भी था,
मैं उसे अब जीतता हूँ;
वह पराजित हो रहा है—हो रहा है;
सिर कटाये, प्राण-जीवनहीन मुरदा हो रहा है;
लाश उसकी गिद्ध-कौए नोचते हैं;
मैं अचेतन और उपचेतन सभी पर
वार करता जा रहा हूँ;
व्यक्तिवादी सभ्यता को ध्वंस बिलकुल कर रहा हूँ।

मैं लड़ाई लड़ रहा हूँ मोरचे पर!
देवियों के रूप में आराधकों को
जो बाँधे हैं प्रेम के स्वर तार से ही—
लौह की कटु शृङ्खला से बाँध कर मैं खींचता हूँ,
और जन-संघर्ष में ला कर उन्हें,
फौजी बना कर छोड़ता हूँ।

स्वप्न के जो देव हैं
और स्वप्न की जो देवियाँ हैं,
हाथ में हल और हँसिया को थमा कर,
मैं उन्हें मजबूर करता हूँ
कि जोतो और काटो
पेट की पहली समस्या को मिटाओ।

मैं लड़ाई लड़ रहा हूँ मोरचे पर।
लेखनी की शक्तिशाली गर्जना से
मैं कलेजा शोषकों का फाड़ता हूँ;
सूदखोरों को,
मिलों के मालिकों को,
अर्थ के पैशाचिकों को,
भूमि को हड़पे हुए धरणीधरों को,
मैं प्रलय के साम्यवादी आक्रमण से मारता हूँ,
और उनके अपहरण की

116 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

दिग्विजयिनी सभ्यता को,
सर्वहारा की नवोदित सभ्यता से जीतता हूँ

मैं लड़ाई लड़ रहा हूँ मोरचे पर।
रक्त की धारा बहा कर
किरकिराती रेत को भी उर्वरा मैं कर रहा हूँ;
शब्द के कर्मण्य कर से जोत धरती,
मानवी स्वाधीनता के बीच बोता जा रहा हूँ,
और श्रमजीवी हितों के अंकुरों को
मैं उगाता जा रहा हूँ,
जो पराजित हो नहीं सकते किसी से
जो मिटाये जा नहीं सकते किसी से,
जो मरेंगे किन्तु फिर जी कर लड़ेंगे,
मैं उन्हें ऊपर उठाता जा रहा हूँ।

1948

फगुआ का व्यंग्य

गुम्बज के ऊपर बैठी है, कौंसिल घर की मैना।
सुन्दर सुख की मधुर धूप है, सेंक रही है डैना।।
तापस वेश नहीं है उसका, वह है अब महरानी।
त्याग-तपस्या का फल पाकर, जी में बहुत अघानी।।
कहता है केदार सुनो जी! मैना है निर्द्वन्द्व।
सत्य अहिंसा आदर्शों के, गाती है प्रिय छंद।।

16.1.1949

जिन्दगी

देश की छाती दरकते देखता हूँ!
थान खदर के लपेटे स्वार्थियों को,

पेट-पूजा की कमाई में जुटा मैं देखता हूँ!
सत्य के जारज सुतों को,
लंदनी गौरांग प्रभु की,
लीक चलते देखता हूँ!
डालरी साम्राज्यवादी मौत-घर में,
आँख मूँदे डांस करते देखता हूँ!!

देश की छाती दरकते देखता हूँ!
मैं अहिंसा के निहत्थे हाथियों को,
पीठ पर बम बोझ लादे देखता हूँ।
देवकुल के किन्नरों को,
मंत्रियों का साज साजे,
देश की जन-शक्तियों का,
खून पीते देखता हूँ,
क्रांति गाते देखता हूँ!!

देश की छाती दरकते देखता हूँ!
राजनीतिक धर्मराजों को जुएँ में,
द्रौपदी को हारते मैं देखता हूँ!
ज्ञान के सब सूरजों को,
अर्थ के पैशाचिकों से,
रोशनी को माँगते मैं देखता हूँ!
योजनाओं के शिखंडी सूरमों को,
तेग अपनी तोड़ते मैं देखता हूँ!!

देश की छाती दरकते देखता हूँ!
खाद्यमंत्री को हमेशा शूल बोते देखता हूँ;
भुखमरी को जन्म देते,
वन-महोत्सव को मनाते देखता हूँ!
लौह-नर के वृद्ध वपु से,
दण्ड के दानव निकलते देखता हूँ!

व्यक्ति की स्वाधीनता पर गाज गिरते देखता हूँ!
देश के अभिमन्युओं को कैद होते देखता हूँ!!
देश की छाती दरकते देखता हूँ!
मुक्त लहरों की प्रगति पर,
जन-सुरक्षा के बहाने,
रोक लगते देखता हूँ!
चीन की दीवार उठते देखता हूँ!
क्रांतिकारी लेखनी को
जेल जाते देखता हूँ!
लपलपाती आग के भी,
ओंठ सिलते देखता हूँ!!

देश की छाती दरकते देखता हूँ!
राष्ट्र-जल में कागजी, छवि-यान बहता देखता हूँ,
तीर पर मल्लाह बैठे और हँसते देखता हूँ।
योजनाओं के फरिश्तों को गगन से भूमि आते,
और गोबर चोंथ पर सानंद बैठे,
मौन-मन बंशी बजाते, गीत गाते,
मृग मरीची कामिनी से प्यार करते देखता हूँ!
शून्य शब्दों के हवाई फैर करते देखता हूँ!!

देश की छाती दरकते देखता हूँ!
बूचड़ों के न्याय-घर में,
लोकशाही के करोड़ों राम-सीता,
मूक पशुओं की तरह बलिदान होते देखता हूँ!
वीर तेलंगानवों पर मृत्यु के चाबुक चटकते देखता हूँ!
क्रांति की कल्लोलिनी पर घात होते देखता हूँ!
वीर माता के हृदय के शक्ति-पय को
शून्य में रोते विलपते देखता हूँ!!

देश की छाती दरकते देखता हूँ!
नामधारी त्यागियों को,

मैं धुएँ के वस्त्र पहने,
मृत्यु का घंटा बजाते देखता हूँ!
स्वर्ण-मुद्रा की चढ़ाती भेंट लेते,
राजगुरुओं को, मुनाफाखोर को आशीष देते,
सौ तरह से कमकरो को दुष्ट कह कर,
शाप देते, प्राण लेते देखता हूँ!!

देश की छाती दरकते देखता हूँ!
कौंसिलों में कठपुतलियों को भटकते,
राजनीतिक चाल चलते,
रेत के कानून के रस्से बनाते देखता हूँ!
वायुयानों की उड़ानों की तरह तकरीर करते,
झूठ का लम्बा बड़ा इतिहास गढ़ते,
गोखुरों में सिंधु भरते,
देश-द्रोही रावणों को राम भजते देखता हूँ!!

देश की छाती दरकते देखता हूँ!
नाश के वैतालिकों को
संविधानी शासनालय की सभा में
दंड की डौड़ी बजाते देखता हूँ!
कंस की प्रतिमूर्तियों को,
मुन्ड मालाएँ बनाते देखता हूँ।
काल भैरव के सहोदर भाइयों को,
रक्त की धारा बहाते देखता हूँ!!

देश की छाती दरकते देखता हूँ!
व्यास मुनि को धूप में रिक्शा चलाते,
भीम, अर्जुन को गधे का बोझ ढोते देखता हूँ!
सत्य के हरिचंद को अन्याय-घर में,

झूठ की देते गवाही देखता हूँ!
द्रौपदी को और शैव्या को, शची को
रूप की दूकान खोले,
लाज को दो-दो टके में बेचते मैं देखता हूँ!!
देश की छाती दरकते देखता हूँ!
मैं बहुत उत्तप्त होकर
भीम के बल और अर्जुन की प्रतिज्ञा से ललक कर,
क्रांतिकारी शक्ति का तूफान बन कर,
शूरवीरों की शहादत का हथौड़ा हाथ लेकर,
चोट करता दौड़ता हूँ कड़कड़ा कर,
शृंखलाएँ तोड़ता हूँ
जिन्दगी को मुक्त करता हूँ नरक से!!

15.8.1950

आग लगे इस राम-राज में

(1)

आग लगे इस राम-राज में
ढोलक मढ़ती है अमीर की
चमड़ी बजती है गरीब की
खून बहा है राम-राज में
आग लगे इस राम-राज में

(2)

आग लगे इस राम-राज में
रोटी रूठी, कौर छिना है;
थाली सूनी, अन्न बिना है,
पेट धँसा है राम-राज में
आग लगे इस राम-राज में :

8.9.1951

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 121

हम तौ उनका वोट न देबै¹

हम तौ उनका वोट न देबै,
जो हमका बधियाइन हैं।
रोटी कपरा लत्ता खातिर,
जो हमका तरसाइन हैं!!
अरजी का फरजी कै दीन्हिन,
गरजी जान भगाइन हैं।
आजादी के टोपीधारी,
हमका भीख मँगाइन हैं।।

हम तौ उनका वोट न देबै,
जो हमका बधियाइन हैं।
गल्ला गाड़िन गोदामन माँ,
चोरबजार चलाइन हैं।।
गेहूँ, चाउर अउर चना का,
पउवन माँ बिकवाइन हैं।
रत्ती-रत्ती तेल किरोसिन,
अमरित अस बँटवाइन हैं।।

हम तौ उनका वोट न देबै,
जो हमका बधियाइन हैं।
जो भारत को अमरीका का,
पाही देस बनाइन हैं।।
अमरीका कै बनियागीरी,
हमरे ठाँव बुलाइन हैं।
डालर के हाथन माँ सौंपिन,
हमका बेंच बहाइन हैं।।

हम तौ उनका वोट न देबै,
जो हमका बधियाइन हैं।

1. इस कविता में कुल 15 बंद हैं। यहाँ केवल 07 बंद दिये जा रहे हैं।

122 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

फौज पुलिस माँ रुपिया मेलिन,
खूनी बजट बनाइन हैं।।
सिच्छा के कोपीन लगाइन,
लौका हाथ थमाइन हैं।
विद्या का लावारिस कीन्हिन,
मूरख मंत्र रटाइन हैं।
हम तौ उनका वोट न दैबै,
जो हमका बधियाइन हैं।
हमरी खलरी खैंचि खसोटिन,
रोओं बहुत सताइन हैं।।
नोन मिरिच ऊपर से बूँकिन,
कद्दू अस कटवाइन हैं।
थानेदार कलट्टर, हँके,
बाँदर नाच नचाइन हैं।

हम तौ उनका वोट न दैबै,
जो हमका बधियाइन हैं।
नानी के आगे नाना की,
जो पगरी उतराइन हैं।।
भौजी के आगे भैया की,
जो पसरी पिसवाइन हैं।
हमरे तन का लोहू लैकै,
जो गगरी भरवाइन हैं।।

हम तौ उनका वोट न दैबै,
जो हमका बधियाइन हैं।
पाँच बरिस के भीतर हमका,
नर-कंकाल बनाइन हैं।।
भाषत है “केदार” सुनौ जी,
जालिम भीख न पाइन हैं।
जालिम के बकसन माँ कोरु,
एकौ वोट न डाइन हैं।।

10.9.1951

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 123

चुनाव मोरचे की अन्त्याक्षरी¹

यश अपयश विधि हाथ है,
नहिं नेतन को जोर।
यहै देख बाढ़े बड़े
सेठ महाजन चोर।।

रचना ऐसी रचि रहे,
राम राज के वीर।
सुख धरती व्यापै नहीं,
दिन दिन बाढ़ै पीर।।

राम न ऐसा करि सके,
जैसा नेतन कीन्हि।
लोगन का बनवास दै,
सुख सम्पत्ति हरि लीन्हि।।

मरना है तो आज मर,
कल है दूर अपार।
गोली आँसू गैस की;
कायम है सरकार।।

जहँ लग नेता राज है,
तहँ लग बंटाधार।
पूँजीपति की गोद में,
खेल रही सरकार।।

रसरी बालू की बटौ,
बाँधौ धीरज बैल।
नेता ऐसा कहत हैं,

1. इस कविता में कुल 20 दोहे हैं। यहाँ नमूने के तौर पर पाँच दोहे ही दिये गये हैं।

चलिये तपकी गैल।।
लाज उन्हें आवै जिन्है
लोकतंत्र का ध्यान।
कामनवेल्थी आन में,
टूटी मान-कमान।।

8.11.1451

रोटी

जब रोटी पर संकट आया,
तब भूख ने द्रोह मचाया।
राज पलट कर रोटी लाया,
रोटी ने इतिहास बनाया।।

12.11.1951

किसानी गाना

जमींदारी की नहीं, न राजा की है धरती,
अब है आज हमारी धरती।

जमींदारी ने लूट मचाई हर ली धरती।
राजा ने भी लूट मचाई हर ली धरती।।
हमें किया बेधरतीवाला धर लीं धरती।
डाकू और लुटेरों के घर पहुँची धरती।।

जमींदारी की नहीं, न राजा की है धरती,
अब है आज हमारी धरती।

जमींदार ने खूब दुहा है अब तक धरती।
राजा ने भी खूब दुहा है अब तक धरती।।
कर उगाह कर डाला वृद्धा जर्जर धरती।

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 125

हत्यारों के हाथ गाय-सी तड़पी धरती।।
जमींदार की नहीं न राजा की है धरती,
अब है आज हमारी धरती।

पूर्व पुरातन परम्परा से माता धरती।
पिता पिता के पूर्व पिता की माता धरती।।
हम धरती के पुत्र हमारी माता धरती।
आदिकाल से यह किसान की माता धरती।।

जमींदार की नहीं, न राजा की है धरती,
अब है आज हमारी धरती।

हम जोतें कोमल बन जाए माता धरती।
हम बोयें अंकुर उपजाए माता धरती।।
हम सींचें श्रम-जल लहराए माता धरती।
अन्न अन्न ही हमें लुटाए माता धरती।।

जमींदार की नहीं, न राजा की है धरती,
अब है आज हमारी धरती।।

29.1.1952

नव जागरण

न मारे मरा है न मारे मरेगा
नए जागरण में शुभाशा भरी है।
कई बार सूखी कई बार उजड़ी
मगर दूब फिर भी हरी की हरी है।।

नदी का किनारा बहुत है पुराना,
मगर जिंदगी की रवानी नई है।
जमाना बहुत हो चुका है पुराना
मगर आदमी की कहानी नई है।।

126 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

सबेरा अँधेरे से लड़ने लगा है
हमारे घरों में उजाला भरेगा।

1.11.1952

मुक्त युवती

जब अदालत पर चढ़ी
युवती चली बाहर निकलकर,
दुष्ट भ्रष्टाचारी पति के मित्र दौड़े
अपहरण के हेतु बल के बोंग लेकर।
किंतु युवती का युवक-प्रेमी गठीला नौजवान,
आठ साथी साथ लेकर,
लाठियाँ बरसा चला बौछार जैसी,
हो गया संग्राम खासा।
धूर्त पति को चोट आई
और उसके मित्र भू पर गिरे घायल।
खून खच्चर से गई मर लोकनिंदा।
ब्याह टूटा,
ब्याह का व्यभिचार टूटा,
दुष्ट भ्रष्टाचार का सिर हाथ टूटा।
प्रेमिका ने प्रेम का वर वक्ष जीता।
आततायी पति गया आहत हृदय घर!

26.11.1952

साथी

झूठ नहीं सच होगा साथी!
गढ़ने को जो चाहे गढ़ ले
मढ़ने को जो चाहे मढ़ ले
शासन के सौ रूप बदल ले

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 127

राम बना रावण सा चल ले
झूठ नहीं सच होगा साथी!
करने को जो चाहे कर ले
चलनी पर चढ़ सागर तर ले
चिउँटी पर चढ़ चाँद पकड़ ले
लड़ ले ऐटम बम से लड़ ले
झूठ नहीं सच होगा साथी!

27.11.1952

आह! नहीं तुम आ पाती हो

जब सेमल का पेड़ अकेला

बाट जोह कर थक जाता है
तब बेचारे का हर पत्ता
आहत होकर झर जाता है
आह! नहीं तुम आ पाती हो
सेमल को अपना पाती हो!

9.2.1953

दरोगा की दुलहिन

दरोगा की दुलहिन को आया बुखार
कि जैसे पयोनिधि में आया हो ज्वार
दरोगिन का काँपा कुन्दन शरीर
कि जैसे कपोतिन हो कँपती अधीर

दरोगा जी दौड़े दरोगिन के पास
दरोगिन को देखा तड़पते उदास
बड़ी जोर से वे मचाते पुकार

128 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

जनाने से दौड़े कि जैसे बयार
सिपाही को भेजा कि जा अस्पताल
लिवा लाओ डाक्टर को बीते न काल
दरोगिन की हालत थी बिल्कुल खराब
दया के भिखारी थे जालिम जनाब

चले आए डाक्टर, था पैसे का जोर—
कि खींचा हो जैसे दरोगा ने डोर
दवा दी गई और उतरा बुखार
कि जैसे उतरता है सागर का ज्वार

कमाए थे पैसे कई सौ हजार
भरा था तिजोरी में धन बेशुमार
दरोगा ने दौलत से मारा बुखार
दरोगिन को तज के सिधारा बुखार

8.7.1953

आँखों से हँसती है जैसे किरातनी

फूले हैं फूल
और गाती है कामिनी।
यमुना को चूमती है
पूनम की चाँदनी!!
उत्सव में डूबी है
यौवन की यामिनी!
आँखों से हँसती है
जैसे किरातिनी!!

12.7.1953

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 129

अभिशाप जग का

एक जोते
और बोए, ताक कर फसलें उगाए,
दूसरा अधरात में काटे उन्हें अपनी बनाए,
मैं इसे विधि का नहीं, अभिशाप जग का जानता हूँ।

एक रोटी
के लिए तड़पे सदा अधपेट खाए,
दूसरा घी-दूध-शक्कर का मजा भरपेट पाए,
मैं इसे विधि का नहीं, अभिशाप जग का जानता हूँ।

एक बल्कल
वस्त्र पहने लाज अपनी को गँवाए,
दूसरा बहु वस्त्र पहने छिद्र अपने सौ छिपाए,
मैं इसे विधि का नहीं, अभिशाप जग का जानता हूँ।

एक विद्या
के लिए व्याकुल रहे, पुस्तक न पाए
दूसरी विद्या पढ़े, छल-छंद से सोना कमाए,
मैं इस विधि का नहीं, अभिशाप जग का जानता हूँ।

मैं नया इंसान हूँ अभिशाप को खंडित करूँगा।
शाप के प्रतिपालकों को न्याय से दंडित करूँगा।।

8.11.1953

सूर्योदय

भानु हो रहा उदय,
कृशानु बो रहा।

130 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

भूमि का किसान आज
भानु हो रहा!!

ज्योति से जुती हुई—
उदार है धरा।
एक-एक बीज का
भविष्य है हरा!!

भोर हा रहा नया,
निहोर हो रहा।
मोरपंख खोल के
विभोर हो रहा!!

17.11.1953

आँख दुखों से आँज रही है

बारह बरस व्यथा में बीते
तेरहवें में पाँव धरे है।
पीर हृदय में, नीर नयन में,
साँसों में संताप भरे है।।
दम्भक ताड़ित और प्रताड़ित
शैशव का अभिशाप लिए है।
फूलों के नादान अधर से
शूलों के अपमान लिए है।।
माता और पिता से वंचित
घर घर बरतन माँज रही है।
सात बरस से साँझ-सकारे
आँख दुखों से आँज रही है।।

11.12.1953

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 131

घर का अनुभव

नौ पेटों के पलने वाले टूटे घर में
जब सनेह से सजी स्वामिनी किसी एक दिन
गेहूँ का आटा परात—भर गूँथ—गूँथकर
गोल लोइयों की गुदार रोटियाँ बेलती,

जब वे बेली-अलबेली सुकुमार रोटियाँ
एक-एक कर तप्त तवे के ऊपर चढ़कर
धीरज धारे अंग उघारे तप में तपतीं,
फिर अंगारों के सिंहासन पर विराजकर
पास हमारे आ जाती हैं चूल्हा तजकर:
जब बटलोई के पेटे में दाल खौलती
खौल-खौल कर बुद-बुद-बुद-बुद आग्रह करती
और स्वाद के बोल—बोलकर स्वाद खोलती :

जब अदहन में चाउर पड़ता और उबलता
राम करोनी चिन्नावर की महक उमड़ती
और हमारी नाकों के नथुने में आती
कई दिनों के भूखे दिल को छू जाती है
गोभी कटने लगती है आलू के संग जब
दोनों का सम्बन्ध परस्पर हो जाता है :
और सिसकते हैं जब दोनों गरम आँच में,
हमें क्षुधातुर देख-देखकर कई दिनों से,
तब हम नौ की भूख समस्या मिट जाती है
और हमें यह टूटा घर भी प्रिय लगता है
तब हमको मालुम होता है हम भी कुछ हैं
हमको भी निर्मित करना है टूटे घर को!

12.1.1954

132 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

कर्जे की मार

यह उधार खाते का जीवन
बढ़े ब्याज का बोझा लादे
राम-राज्य की नई सड़क पर
पाँव उठाए डगमग चलता।

कागज के कर्जे का कौरव
पाँच हाथ की लाठी ताने
बीच सड़क में राह रोककर
इंसानों को दंडित करता!
सच कहता हूँ यह हालत है
खूनी लाठी के लबेद से
बिना खून की हिंसा होती
कर्जे से जन भारत मरता!

24.1.1954

बार बार प्यार दो

आँख से उठाओं और बाँह से
सँवार दो
अंतरंग मेरा रूप रंग से
उबार लो
बार-बार चूमो और बार-बार
प्यार दो

2.2.1954

वास्तव में

पंचवर्षी योजना की रीढ़ ऋण की शृङ्खला है,
पेट भारतवर्ष का है और चाकू डालरी है।

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 133

संधियाँ व्यापार की अपमान की कटु ग्रंथियाँ हैं,
हाथ युग के सारथी हैं, भाग्य-रेखा चाकरी हैं।।

26.4.1954

मजदूर का जन्म

एक हथौड़ेवाला घर में और हुआ!
हाथी-सा बलवान,
जहाजी हाथों वाला और हुआ!
सूरज-सा इंसान,
तरेरी आँखों वाला और हुआ!!
एक हथौड़े वाला घर में और हुआ
माता रही विचार:
अंधेरा हरने वाला और हुआ!
दादा रहे निहार :
सबेरा करनेवाला और हुआ!!
एक हथौड़ेवाला घर में और हुआ!
जनता रही पुकार :
सलामत लाने वाला और हुआ!
सुन ले री सरकार!
कयामत ढानेवाला और हुआ!!
एक हथौड़ेवाला घर में और हुआ!

3.10.1954

धनाभाव में

वी० पी० का रुपया देना है।
खड़ा डाकिया देख सामने परेशान हूँ,
टका नहीं है!
चारों जेबों में खंडहर का सूनापन है,

134 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

पड़े हुए हैं पूरे पिचके,
मोटर के पहिए के नीचे जैसे दब के!!

कहा डाकिए से कल आना;
लेकिन कहने में ऐसा ज्यादा शरमाया,
सिमिट गया अपने में जैसे कोई केचुआ!!

साढ़े तेइस के अभाव में,
दिल गुलाब-सा मुरझ गया है,
हाथ-पाँव से लुंज हुआ हूँ;
सुस्त पड़ा हूँ,
जैसे कोई रक्त पी गया मेरे तन का!!

मैं मनुष्य हूँ,
लेकिन रुपयों के अभाव में
महामूर्ख हूँ;
मेरी विद्या काम न आई!
मेरा जीवन निष्फल लगता!!
अपने घर में
मैं ही अपना दुश्मन बनता!

घर के बाहर,
बीच सड़क में,
हाट और मेलों-ठेलों में
गुदड़ी का चील्हर लगता हूँ!!
मैं स्वराज्य के न्यायालय का
पंडित शुक हूँ,
नई-पुरानी बहुत नजीरों मुझे याद हैं,
लेकिन आज टके से टूटा
मैं शिव का टूटा पिनाक हूँ।।
मेरा बस्ता उलट गया है।
हवा धूल भर गई बहुत-सी

मिस्लें लेटी हैं मूर्छा में!
बेचारा मुंशी परास्त है।
अर्थ-युद्ध में मैं हारा हूँ—
बुरी तरह से!!

मैं वकील हूँ!
रात सरीखी काली अचकन
मैं पहने हूँ!
अन्धकार मुझसे लिपटा है!!
केवल पैरों में पाजामा
लंकलाट के—दिन-सा पहने,
टहल रहा हूँ आधा उजला,
आधा काला!!
सच पूछो तो,
धनाभाव में,
फटे जूते में गड़ी कील हूँ!!

जाने कब दुनिया बदलेगी?
जाने कब मुझको अभाव धन का न रहेगा?
जाने कब मेरी विद्या मुझको फल देगी?
जाने कब मैं जग जीतूँगा?
जाने कब मेरे शरीर में बल आएगा?
जाने कब मेरा, जीवन मुझको भाएगा?
यही सोच है—यही फिकर है!!
यह समाज यदि यही रहेगा,
तब निश्चय है—
साढ़े तेइस नहीं मिलेंगे;
और नहीं वी० पी० छूटेगी;
रोज डाकिया लौट जाएगा;
और एक दिन मैं स्वयं ही
अपनी वी० पी० कर जाऊँगा।
लेकिन अपनी बात छोड़कर,

जब देशों की प्रगति देखता
और सोचता,
जन-समाज में नेह जोड़ता
उन्नति करते हुए—
दौड़ते हुए राज पर लोग देखता,
धनाभाव में भी—
कलियों को खिलते पाता,
तब हुलास से,
जलतरंग-सा बज उठता हूँ,
रुपयों को ठेंगा दिखला कर हँस पड़ता हूँ,
और यही कहने लगता हूँ,
मैं भी इनके साथ जिऊँगा,
मैं भी इनके साथ बढ़ूँगा,
मैं भी दुनिया को बदलूँगा,
कील नहीं, मैं फूल बनूँगा,
इस धरती की जन-संस्कृति का,
एक नया मेमार बनूँगा।

8.10.1954

कंचन किरणें

धीरे से पाँव धरा धरती पर किरनों ने,
मिट्टी पर दौड़ गया लाल रंग तलुवों का।
छोटा-सा गाँव हुआ केसर की क्यारी-सा,
कच्चे घर डूब गये कंचन के पानी में।
डालों की डोली में लज्जा के फूल खिले,
ऊषा ने मस्ती से फूलों को चूम लिया।

गोरी ने गीतों से सरसों की गोद भरी,
भौरों ने गोरी के गालों को चूम लिया।

28.8.1955

जैसी तुम मेरी हो, वैसे रात मेरी है

तुम्हीं तो आती हो
बाल खोल जूड़े के :
कंधों पर रात को
मेरे पास लाती हो
जैसी तुम मेरी हो
वैसे रात मेरी है।

11.9.1955

मानव के अग्रज

पेड़ नहीं,
पृथ्वी के वंशज हैं,
फूल लिये,
फल लिये,
मानव के अग्रज हैं।

18.4.1956

ब्याही-अनब्याही

ब्याही
फिर भी अनब्याही है
पति ने नहीं छुआ :
काम न आयी मान - मनौती,
कोई एक दुआ :
आँखें भर-भर
झर-झर मेघ चुआ
देही नेह विदेह हुआ!

7.5.1956

हवा पहनकर तुम चलती हो

हवा पहनकर तुम चलती हो
इसीलिए यह हवा देह से जब लगती है
मुझे तुम्हारा ही आलिंगन मिल जाता है
और मुझे यह सूनापन भी
बड़ा रुचिर मालूम होता है।

अतः चलो तुम
हवा पहनकर रोज चलो तुम
तरुगन इसमें
लहरें आकर तट को चूमें
मैं भी झूमूँ
तुमको चूमूँ!

19.7.1956

किरन¹ गोद में लिए खड़ी है, वत्स शिशिर को

किरन गोद में लिए खड़ी है वत्स शिशिर को,
जो उसके ही तरुण अंग का अरुण अंग है,
जो उसके सुरधाम सिधारे—
पति महेश की प्रुमदित छवि है,
जो उसके सस्मित शैशव की,
प्रेम—प्रणय की मंदिर महक है,
जो अब उसके पंकिल जीवन का पंकज है!

ऐसा लगा कि जैसे अपनी धूमिल धरती,
पूनम के शशि को लेकर है चमचम चमकी,
और उसे मैं देख रहा हूँ आँखें खोले
ऐसे जैसे देख रहा हूँ जगदम्बा को—
अंक लिये अविकल अविनाशी वर ब्रह्मा को!

1. केदारजी की छोटी बेटी

भूल गया मैं कटु जीवन के चुभते काँटे
भूल गया मैं दूभर दिन के दुखते काँटे,
भूल गया मैं नील नदी सम बहते आँसू
भूल गया मैं चिनगारी सम दहते आँसू।

गोधूली की यह बेला है,
पशु पक्षी सब लौट रहे हैं, अब अपने घर,
पूछ रहा हूँ मैं अब मन से :
लौट सकेंगे क्या महेश भी इसी तरह घर ?
भेंट सकेंगे क्या महेश भी प्रिया किरन को ?
चूम सकेंगे क्या महेश भी वत्स शिशिर को ?
किन्तु नहीं मिलता है उत्तर मुझको मन से,
अस्तु आज मैं बहुत विकल हूँ,
सम्मुख आती हुई रात से भय-कम्पित हूँ,
अस्तु आज मैं किरन-शिशिर को
घबराहट में - पास पहुँचकर - चूम रहा हूँ,
और अँधेरा हर लेने को,
अपनी आत्मा के प्रदीप को जला रहा हूँ।

24.10.1956

मोची

घिसे, चले, मर चुके तलों को
मैं निकालता।
जीने वाले जानदार मैं तले डालता।।
सीकर, पालिश से चमकाकर,
मैं उबारता।
जूतों से बाबू लोगों की
धज सँवारता।।

मैं पथ की पटरी पर बैठा
कला बेचता,

जूतों के चलने में सबका
भला देखता।।
मैं तो उस ऊँची आत्मा को
नहीं जानता।
मानव जिसकी ऊँचाई के
गुन बखानता।।

22.2.1957

मैं नहीं लचा

कंटक जो आए हैं पाँव के तले।
मैंने वे बार-बार बिल्कुल कुचले।।
कोई भी एक नहीं घात से बचा।
संकट सब सबल लचे, मैं नहीं लचा।।

सामने पहाड़ मिले रोकते खड़े।
हो गए—निहार उन्हें—रोंगटे खड़े।।
मैंने भी मल्लयुद्ध मेरु से लड़े।।
जीता मैं, हार गए वे बड़े-बड़े।।

मेघ ने निदाघ ने, मुझे नहीं तजा।
कान के समीप मृत्यु ढोल भी बजा।।
किन्तु मैं निदाघ, मेघ, मृत्यु से कड़ा।
नाचता हुआ प्रसून-पंथ में बढ़ा।।

26.2.1957

वे किशोर नयन

उसके वे नयन जो किशोर हैं,
रूप के विभोर जो चकोर हैं,

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 141

ऐसा कुछ
आज मुझे भा गये—
कि बावरा बना गये।
आह! मुझे
प्यार की पुकार से
निहार गये,
और मुझे
म्लान हुए हार-सा
उतार गये।

28.2.1957

आँखों देखा¹

आज
अभी आँखों से
पर्वतीय निर्जन के
धुन्ध-भरे घेरे में,
कैद खड़े पेड़ों के
मौन पड़े डेरे में,
पातहीन डालों के
आखिरी किनारों पर
पीत पगे फूलों के
आरसी कपोलों पर
दिन में ही
जगर-मगर
दीप जले देखे हैं।

1.4.1957

1. रामविलासजी को लिखे एक पत्र में इसका शीर्षक 'दिन के दिये' दिया गया है।

तिय हैं

तिय हैं तो आकुलित-केश, पटु-नटी-वेश,
कामातुर, मदविह्वल अधीर हैं,
सदियों से पुरुषों की जाँघों पर बैठी करती विहार हैं;
इन्हें नहीं संकोच-शील है,
यह मनोज के मन-लोक के नर-नारी हैं,
आदिकाल से इसी मोद के अधिकारी हैं,
चाहे हम-तुम कहें इन्हें : यह व्यभिचारी है।

13.4.1957

वे उरोज दो

वे उरोज दो
सटे गठे बैठे कपोत से
आकुल हैं
झीने अंचल से उड़ जाने को
मेरे हाथों पर आने को
और मुझे
सुख के पंखों से सहलाने को।

5.6.1957

बालक ने

ताल को कँपा दिया
कंकड़ से बालक ने,
ताल को कँपा दिया,
ताल को नहीं
अनन्त काल को कँपा दिया।

5.10.1957

दौड़ने दो धूप में

मैं तुम्हारी छाँह में छिप-सा गया हूँ
इसलिए तुम छाँह अपनी खींच लो
और मुझको दौड़ने दो धूप में
मैं पसीने में समय को जीत लूँगा।

20.10.1957

फूल-सी कोमल उँगलियाँ

फूल सी कोमल उँगलियाँ
जब समुद्री वासना में
रूप, रस, यौवन, तुम्हारा घोली हैं
और मेरी नींद के परदे हटाकर
मोम-से दिल के दिये को चूमती हैं
तब तुम्हारी लौ हृदय में जागती है
तब तुम्हें मैं भेंटता हूँ
तब तुम्हारी फूल-सी कोमल उँगलियाँ चूमता हूँ।

22.10.1957

एक खिले फूल ने

झाड़ी के एक खिले फूल ने
नीली पंखुरियों के
एक खिले फूल ने
आज मुझे काट लिया
ओंठ से,
और मैं अचेत रहा
धूप में।

24.10.1957

जब तब

जब कलम ने चोट मारी
तब खुली वह खोट सारी
तब लगे तुम वार करने
झूठ से संहार करने

सोचते हो मात दोगे
जुल्म के आघात दोगे
सत्य का सिर काट लोगे
रक्त जीवन चाट लोगे

भूल जाओ यह न होगा
जो हुआ है वह न होगा
लेखनी से वार होगा
वार से ही प्यार होगा

कल नगर गर्जन करेगा
क्रोध विष वर्षन करेगा
सत्य से परदा फटेगा
झूठ का तब सिर कटेगा

27.11.1957

हथौड़े का गीत

मार हथौड़ा
कर कर चोट
लाल हुए काले लोहे को
जैसा चाहे वैसा मोड़।

मार हथौड़ा,
कर कर चोट

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 145

थोड़े नहीं—अनेकों गढ़ ले
फौलादी नरसिंह करोड़।

मार हथौड़ा
कर कर चोट
लोहू और पसीने से ही
बन्धन की दीवारें तोड़।

मार हथौड़ा
कर कर चोट
दुनिया की जाती ताकत हो,
जल्दी छवि से नाता जोड़!

1957

पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा

इसी जन्म में,
इस जीवन में,
हमको तुमको मान मिलेगा।
गीतों की खेती करने को,
पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा।।

क्लेश जहाँ है,
फूल खिलेगा,
हमको तुमको त्रान मिलेगा।
फूलों की खेती करने को,
पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा।

दीप बुझे हैं,
जिन आँखों के;
इन आँखों को ज्ञान मिलेगा।

146 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

विद्या की खेती करने को,
पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा।।

मैं कहता हूँ,
फिर कहता हूँ;
हमको तुमको प्रान मिलेगा।
मोरों-सा नर्तन करने को,
पूरा हिन्दुस्तान मिलेगा।

1957

झंडा नहीं ऊपर उठा है

जिन्दगी थक कर यहाँ पर चूर है,
हड्डियों का शेर हारा भूख से मजबूर है;
हाथ-पाँवों में जहाजी लंगरों का भार है;
साँस का दरियाव जमकर बर्फ है;
गर्म छाती की धधकती आग
मोमी शीत-सी निष्प्राण है;
रक्त में लिपटा कफन है मृत्यु का।
देह की चमड़ी अँधेरी रात है,
जो छिपाये है बसन्ती फूल-फल की प्रेरणाएँ।
प्रेम का आकाश रूखे बाल में उलझा पड़ा है।
सभ्यता के और संस्कृति के दिवाकर की प्रतीक्षा
मौन है—निस्पन्द है ज्यों प्रेत की छाया बड़ी-सी!
जागरण का क्रान्तिदर्शी साहसी मनु-रूप मानव,
अर्थ के पैशाचिकों से पद-दलित है।—
भूमि पर लुण्ठित पड़ा है!!
क्या हुआ यदि आज अपने देश भाई,
हाथ में झंडा उठाये घूमते हैं!
वास्तव में तो अभी झंडा ऊपर नहीं उठा है,
वह अभी नीचे पड़ा है;

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 147

भूमि से लुण्ठित उठे, तब वह उठेगा,
और फिर कोई झुकाने से रहेगा!!

1957

दोषी हाथ

हाथ जो
चट्टान को
तोड़े नहीं,
वह टूट जाये;
लौह को
मोड़े नहीं,
सौ तार को
जोड़े नहीं
वह टूट जाय!

1957

वह जन मारे नहीं मारेगा

जो जीवन को धूल चाटकर बड़ा हुआ है,
तूफानों से लड़ा और फिर खड़ा हुआ है,
जिसने सोने को खोदा, लोहा मोड़ा है,

जो रवि के रथ का घोड़ा है,
वह जन मारे नहीं मरेगा,
नहीं मरेगा!!

जो जीवन की आग जलाकर आग बना है,
फौलादी पंजे फैलाये नाग बना है,
जिसने शोषण को तोड़ा, शासन मोड़ा है,
जो युग के रथ का घोड़ा है,

148 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

वह जन मारे नहीं मरेगा,
नहीं मरेगा!!

1957

छोटे हाथ

छोटे हाथ

सबेरा होते
लाल कमल से खिल उठते हैं।
करनी करने का उत्सुक हो,
धूप हवा में हिल उठते हैं।।

छोटे हाथ

नहीं रुकते हैं,
और नहीं धीरज धरते हैं।
जड़ को चेतन,
पानी को पय,
मिट्टी को सोना करते हैं।।

छोटे हाथ

किसानी करते—
बीज नये बोया करते हैं।
आने वाले वैभव के दिन,
उँगली से टोया करते हैं।।
फूलों के गुच्छे के गुच्छे,
डालों पर पाला करते हैं।
छोटे-से-छोटे पत्ते का,
मकड़ी का जाला हरते हैं।।

छोटे हाथ

परिश्रम करते,

ईंटों पर ईंटें धरते हैं।।
मधुमक्खी से तन्मय होकर,
मधुकोषों से घर रचते हैं।।
हर घर में आशा रहती है,
आशा के बच्चे पलते हैं।
मुद-मंगल के, नव जीवन के,
जागृति के बाजे बजते हैं।।

छोटे हाथ,

दही मथते हैं,
मथते-मथते कब थकते हैं।
थकते भी हैं तो मथते हैं,
हरदम जीवन को मथते हैं।।
जीवन के उत्तम तत्वों को,
मोती-सा मक्खन गहते हैं।
मक्खन मिश्री साथ मिलाकर,
बच्चों के मुख में रखते हैं।।

छोटे हाथ,

निडर रहते हैं,
जोखिम में घूमा करते हैं।
नागों को नाथा करते हैं—
काँटों को चूमा करते हैं।।
बारूदी बन्दूकें ताने,
पशुओं को मारा करते हैं।
तूफानी सागर से सबको,
साहस से तारा करते हैं।।

छोटे हाथ,

गुनी-ग्यानी हैं,
मौलिक ग्रन्थों को रचते हैं।
जीवन के साथी ग्रन्थों का

हिन्दी में उल्था करते हैं।।
भाषा को झंकृत करते हैं,
जीवन को चित्रित करते हैं।
मानव की सुन्दरतम कृतियां
मानव को अर्पित करते हैं।।

1957

पूँजीपति और श्रमजीवी

पूँजीपति अपने बेटे को,
बेहद काला दिल देता है,
गद्दी पर बैठे रहने को,
भारी-भरकम तन देता है,

सिरहाने रखकर सोने को,
दिन में पैसा ठग लेने को,
रोकड़-खाते सब देता है;
गरदन काट कलम देता है,

काली मसि से काली करनी—
करने का अवसर देता है,
जब तक जीता है, रहता है,
शोषण की शिक्षा देता है,

पूँजीपति अपने बेटे को,
धन देता, दौलत देता है।
रति को भी शरमाने वाली,
रूपवती औरत देता है।

जाने कितना कितना अवगुन
पूँजीपति सुत को देता है।

वह अपने को और जगत को
बेटे को धोखा देता है।।

श्रमजीवी अपने बेटे को
पर उपकारी दिल देता है,
मेहनत करने को जीने को,
हाथों में हल, लोहे का घन,
पावों में हाथी की चालें;
अविजित छाती, ऊँचे कन्धे,
हर आफत से लड़ जाने को,
गति देता है, बल देता है।

जब तक जीता है—रहता है,
उत्पादन की मति देती है;
आशा की खेती करने को
खेतों की धरती देता है;
घर का भार उठाने वाली
श्रमजीवी घरनी देता है।

मरने को वह मर जाता है,
लेकिन जीवन दे जाता है।
श्रमजीवी अपने बेटे को
गोटिल हँसिया दे जाता है।

श्रमजीवी अपने बेटे को,
टूटी कुटिया,
टूटी खटिया,
लोहे का तसला देता है,
बहुतायत चिथड़े देता है,

1957

किसान से

जल्दी-जल्दी हाँक किसनवा!
बैलों को हरियाये जा।
युग की पैनी लौह कुसी को
‘भुँई’ में खूब गड़ाये जा।।
पुरखों की हड्डी के हल को,
आगे आज बढ़ाये जा।
वैभव को सूने खेतों की
छाती चीर दिखाये जा।।

बीजों के धारण करने की,
पूरी साध जगाये जा।
आगामी सन्तति के हित में,
कुड़ की राह बनाये जा।।

अपना प्यारा खून पसीना,
सौ-सौ बार चुआये जा।
आजादी की हर तड़पन को,
बारम्बार जिलाये जा।।

अपनी कुरिया की चिनगी से
सब में आग लगाये जा।
जर्जर दुनिया के ढाँचे को,
‘भभ’ ‘भभ’ आज जलाये जा।।

शोषण की प्रत्येक प्रथा का,
अंधियर गहन मिटाये जा।
नये जनम का नया उजाला,
धरती पर बरसाये जा।।

गाँव-नगर बे-घर वालों के,
लाखों-लाख बसाये जा।
मेहनत वालों के रहने को,
ऊँचे गेह उठाये जा।।

हल-हाँसिया का और हथौड़ा—
का परचम लहराये जा।
अब अपनी सरकार बनाकर,
जीवन में मुसकाये जा।।

1957

110 का अभियुक्त

अभियुक्त ११० का,
बलवान, स्वस्थ,
प्यारी धरती का शक्ति-पुत्र,
चट्टानी छातीवाला,
है खड़ा खम्भ-सा आँधी में
डिप्टी साहब के आगे।

नौकरशाही के गुरगे,
अफसरशाही के मुरगे,
भू-कर उगाहने वाले,
दल्लाल दुष्ट पैसे के,
आना-गंडा के जमींदार;
लाला साहब पटवारी जी।
धरती माता के कुलांगार—
कटु दुःशासन के धूर्तराज;
थाने का चौकीदार नीच,
जो वफादार है, द्वारपाल
इस चरमर करते शासन का;

बनिया जो मालिक है धन का,
जो नफाखोर बन चूस रहा
जन जन का सारा रक्त-राग;
पंडित (धार्मिक कोढ़ी गँवार);
मादक चीजों के विक्रेता
जो नाशराज का है कलार;
आये थे सब के सब गवाह।

झूठी गंगा-तुलसी लेकर,
अन्तर से बोले एक-एक :
“यह चोर, नकबजन आदी है;
इसकी ऐसी ही शोहरत है,
यह चोर टिकाता है घर में।”

अभियुक्त क्रोध से पागल हो;
कर चला जिरह उन लोगों से;
जैसे गयंद चीरे कदली का वन-का-वन,
जैसे जनता सामन्तीगढ़ को करे ध्वस्त;
जैसे समुद्र की बड़ी लहर
मारे छापा,
छोटे जहाज को करे त्रस्त!
दे सका न उत्तर जमींदार,
वह व्यर्थ रहा करता टर-टर!
पटवारी जी भी गये बिगड़,
जैसे बिगड़े कोई मोटर।
चौकीदारी खा गयी हार,
जो सदा जीतती आयी थी।
बनिया रह गया छटंकी भर,
मन, सेर, पसेरी सब भूली।
पंडित खर के अवतार हुए!

विक्रेता मादक चीजों का
बक गया नशे में अर्-बर्!

कर चुका जिरह तब यों बोला :
“मैं चोर नहीं या सेंधमार।
मैं नहीं डकैतों का साथी!
धिक है, इन कोढ़ी कुत्तों को!
ये झूठ गवाही देते हैं!
ये नहीं चाहते : मैं पनपूँ,
इनको मेटूँ,
जनता का जमघट मैं बाँधूँ,
इनको तोड़ूँ,
नौकरशाही—
असफरशाही का सिर फोड़ूँ;
दुःशासन को कमजोर करूँ;
इनकी रोटी,
इनकी रोजी,
इनसे हर कर सबको दे दूँ;
इससे ये मेरे बैरी हैं।”

इस पर भी डिप्टी साहब ने,
अफसरशाही के नायक ने—
नौकरशाही की स्याही से,
लिख दिये चटक काले अक्षर :
“यह भूमि-पुत्र है अपराधी।
यह चोर नकबजन है आदी।
यह चोर टिकाता है घर में
इससे समाज को खतरा है।”

गाँव का महाजन

वह समाज के त्रस्त क्षेत्र का मस्त महाजन,
गौरव के गोबर गनेश-सा मारे आसन,
नारिकेल-से सिर पर बाँधे धर्म-मुरैठा,
ग्राम-बधूटी की गोरी गोदी पर बैठा,
नागमुखी पैतृक सम्पत्ति की थैली खोले,
जीभ निकाले, बात बनाता करुणा घोले,
ब्याज-स्तुति से बाँट रहा है रुपया-पैसा,
सदियों पहले से होता आया है ऐसा!!
सूँड़ लपेटे हैं कर्जे की ग्रामीणों को,
मुक्ति अभी तक नहीं मिली है इन दीनों को,
इन दीनों के ऋण का रोकड़-कांड बड़ा है,
अब भी किन्तु अछूता शोषण-कांड पड़ा है।

1957

प्रात-चित्र

रवि-मोर सुनहरा निकला,
पर खेल सबेरा नाचा,
भू-भार कनक-गिरि पिघला,
भूगोल मही का बदला।
नवजात उजेला दौड़ा,
कन-कन बन गया रुपहला।
मधुगीत पवन ने गाया,
संगीत हुई यह धरती,
हर फूल जगा मुसकाया!

1957

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 157

तेज धार का कर्मठ पानी

तेज धार का कर्मठ पानी,
चट्टानों के ऊपर चढ़ कर,
मार रहा है
घूँसे कस कर
तोड़ रहा है तट चट्टानी!

1957

लेखकों से

हाथ में तलवार लेकर डर रहे हो,
लेखनी-बिजली लिये तुम मर रहे हो!
आग हो, ज्वालामुखी हो, सो रहे हो,
ओस के हिम आँसुओं को बो रहे हो!!
सूर्य हो, लेकिन छिपे हो बादलों में;
क्रान्ति हो, लेकिन पले हो पायलों में!
सिन्धु हो, लेकिन नहीं तूफान लाते;
चाँद की मुसकान में हो प्रान पाते!!
तीर हो, तुम तोड़ सकते हो शिलाएँ,
मूक मन गाओ नहीं अपनी व्यथाएँ!
मेघ-गर्जन है तुम्हारी भावना में,
किन्तु मूर्च्छित हो अँधेरी कामना में!!
गान हो, लेकिन नहीं तुम गूँजते हो,
रात के काले हृदय में डूबते हो!
नाग हो, लेकिन पिटारी में पड़े हो,
काढ़ कर फन तुम नहीं अरि से लड़े हो!!
पंख हो, नभ में नहीं तुम फैलते हो,
आँधियों में तुम नहीं उड़ तैरते हो!
चोट खाते हो, नहीं ललकारते हो,
इंकलाबी घन नहीं तुम मारते हो!!

158 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

मौन बैठे यंत्रणा सब सह रहे हो,
मौत की मुरदा कहानी कह रहे हो!
ऐ दधीचो! शक्ति का डंका बजाओ,
शांति का उल्लासमय सूरज उगाओ!!
लाल सोने का सबेरा चमचमाओ!
लेखनी के लोक में आलोक लाओ!!

1957

लौह का घन गल रहा है

वह थका, हारा, बहुत ऊबा मनुज है!
भूमि उसको प्रिय नहीं है।
वर्ग के संघर्ष से वह काँपता है,
दूर उसके क्षेत्र से ही भागता है।
वह पुरानी सभ्यता के राज-पथ पर
पेट के बल मंद गति से रेंगता है,
श्वान के संग भूख अपनी मेटता है,
शासकों के कटु दमन की यंत्रणा से,
शोषकों के अपहरण की यातना से,
रक्त के कुल्ले उगल कर मर रहा है,
लाश अपनी ढो रहा है।
वह कला के, काव्य के डैने लगा कर,
सान्त्वना की प्राप्ति के हित,
कल्पना के नील नभ में
प्राण अपने खो रहा है।

वह नहीं जग जीत सकता,
वह नहीं इतिहास को—
जीवन-रुधिर से सींच सकता।
मौन मन वह सह रहा है—
जो यहाँ पर हो रहा है,
लौह का घन
मोम के दीपक सदृश ही गल रहा है।

1957

हारा हूँ सौ बार गुनाहों से लड़-लड़ कर

हार हूँ सौ बार
गुनाहों से लड़-लड़ कर,
लेकिन बारम्बार लड़ा हूँ
मैं उठ-उठ कर,
इससे मेरा हर गुनाह भी मुझसे हारा
मैंने अपने जीवन को इस तरह उबारा

डूबा हूँ हर रोज
किनारे तक आ-आ कर
लेकिन मैं हर रोज
उगा हूँ जैसे दिनकर,
इससे मेरी असफलता भी मुझसे हारी
मैंने अपनी सुन्दरता इस तरह सँवारी

1957

शक्ति मेरी बाहु में हैं

शक्ति मेरी बाहु में है,
शक्ति मेरी लेखनी में,
बाहु से, निज लेखनी से
तोड़ दूँगा मैं शिलाएँ!

जागरण है प्राण मेरा,
क्रांति मेरी जीवनी है,
जागरण से क्रांति से मैं
घनघना दूँगा दिशाएँ!

भाव हैं तूफान भारी,
शब्द मेरे आँधियाँ हैं,

आँधिया तूफान द्वारा
मैं उड़ा दूँगा घटाएँ!

रो रही है आज मिट्टी,
फूल की प्रिय पाँत रोती,
चन्द्रमा है ओस रोता,
मैं हँसा दूँगा दिशाएँ!

1957

नागार्जुन के बाँदा आने पर

यह बाँदा है!
सूदखोर आढ़त वालों की इस नगरी में,
जहाँ मार, काबर, कछार, पडुआ की फसलें,
कृषकों के पौरुष से उपजा कन-कन सोना,
लड़ियों में लद-लद कर आकर,
बीच हाट में बिक कर कोठों-गोदामों में,
गहरी खोहों में खो जाता है जा-जा कर
और यहाँ पर
रामपदारथ, रामनिहोरे,
बेनी पण्डित, बासुदेव, बलदेव, विधाता,
चन्दन, चतुरी और चतुर्भुज,
गाँवों से आ-आ कर गहने गिरवी रखते,
बढ़े ब्याज के मुँह में बर-बस बेबस घुसते,
फिर भी घर का खर्च नहीं पूरा कर सकते,
मोटा खाते, फटा पहनते,
लस्टम-पस्टम जैसे-तैसे मरते-खपते,
न्याय यहाँ पर अन्यायों पर विजय न पाता,
सत्य सरल होकर कोरा असत्य रह जाता,
न्यायालय की ड्योढ़ी पर दबकर मर जाता,
यहाँ हमारे भावी राष्ट्र-विधाता,

युग के बच्चे,
विद्यालय में वाणी विद्या-बुद्धि न पाते,
विज्ञानी बनने से वंचित रह जाते,
केवल मिट्टी में मिल जाते।

यह बाँदा है,
और यहाँ पर मैं रहता हूँ,
जीवन-यापन कठिनाई से ही करता हूँ।
कभी काव्य की कई पंक्तियाँ,
कभी आठ-दस-बीस पंक्तियाँ,
और कभी कविताएँ लिख कर,
प्यासे मन की प्यास बुझा लेता हूँ रस से,
शायद ही आता है कोई मित्र यहाँ पर,
शायद ही आती हैं मेरे पास चिट्ठियाँ।
मेरे कवि-मित्रों ने मुझ पर कृपा न की है,
इसीलिए रहता उदास हूँ खोया-खोया,
अपने दुख-दर्दों में डूबा,
जन-साधारण की हालत से ऊबा-ऊबा,
बाण-बिंधे पक्षी-सा घायल,
जल से निकली हुई मीन-सा, विकल तड़पती,
इसीलिए आतुर रहता हूँ,
कभी-कभी तो कोई आये,
छठे-छमाहे चार-पाँच दिन तो रह जाये,
मेरे साथ बिताये,
काव्य, कला, साहित्य-क्षेत्र की छंटा दिखाये,
और मुझे रस से भर जाये, मधुर बनाये
फिर जाए, जीता मुझको कर जाए।

आखिर मैं भी तो मनुष्य हूँ,
और मुझे भी कवि-मित्रों का साथ चाहिए,
लालायित रहता हूँ मैं सबसे मिलने को,
श्याम सलिल के श्वेत कमल-सा खिल उठने को।

सच मानो जब यहाँ निराला जी आये थे,
कई साल हो गये, यहाँ कम रह पाये थे,
उन्हें देख कर मुग्ध हुआ था, धन्य हुआ था,
कविताओं का पाठ उन्हीं के मुख से सुन कर,
गन्धर्वों को भूल गया था,
तानसेन को भूल गया था,
सूरदास, तुलसी, कबीर को भूल गया था,
ऐसी वाणी थी हिन्दी के महाकृता की।

तब यह बाँदा काव्य-कला की पुरी बना था,
और साल पर साल यहाँ मधुमास रहा था,
बम्बेश्वर के पत्थर भी बन गये हृदय थे,
चूनरिया बन गयी हवा थी, गौने वाली,
यह धरती हो गयी वधू थी फूलों, वाली,
और गगन का राजा सूरज दूल्हा बन कर
चूम रहा था प्रिय दुलहन को।

फिर दिन बीते, मधु-घट रीते,
फिर पहले-सा वह नीरस हो गया नगर था,
फिर पहले-सा मैं चिन्तित था,
फिर मेरा मन भी कुण्ठित था,
फिर लालायित था मिलने को कवि-मित्रों से
फिर मैं उनकी बाट जोहता रहा निरन्तर,
जैसे खेतिहर बाट जोहता है बादल की,
जैसे भारत बाट जोहता है सूरज की,
किन्तु न कोई आया,
आने के वादे मित्रों के टूटे,
कई वर्ष फिर बीते,
रंग हुए सब फीके,
और न कोई रही हृदय में आशा।

तभी बन्धुवर शर्मा आये,
महादेव साहा भी आये,
और निराला-पर्व मनाया हम लोगों ने,
मुंशीजी के पुस्तक-घर में,
एक बार फिर मिला सुअवसर मधु पीने का,
कविता का झरना बन कर झर-झर जीने का,
लगातार घण्टों, पहरों तक,
एक साथ साँसें लेने का,
एक साथ दिल की धड़कन से ध्वनि करने का,
ऐसा लगा कि जैसे हम सब,
एक प्राण हैं, एक देह हैं, एक गीत हैं, एक गूँज हैं
इस विराट फैली धरती के,
और हमीं तो वाल्मीकि हैं, कालिदास हैं,
तुलसी हैं, हिन्दी कविता के हरिश्चन्द्र हैं,
और निराला हमीं लोग हैं,

बन्धु! आज भी वह दिन मुझको नहीं भूलता;
उसकी स्मृति अब भी बेले-सी महक रही है,
उस दिन का आनन्द आज भी
कालिदास का छन्द बना मन मोह रहा है,
मुक्त मोर बन श्याम बदरिया भरे हृदय में,
दुपहरिया में, शाम-सबेरे नाच रहा है,
रैन-अँधेरे में चन्दनियाँ बाँह पसारे
हमको, सबको भेंट रहा है।
सम्भवतः उस दिन मेरा नव जन्म हुआ था,
सम्भवतः उस दिन मुझको कविता ने चूमा,
सम्भवतः उस दिन मैंने हिमगिरि को देखा,
गंगा के कूलों की मिट्टी मैंने पार्यी,
उस मिट्टी से उगती फसलें मैंने पार्यी,
और उसी के कारण अब बाँदा में जीवित रहता हूँ,
और उसी के कारण अब तक कविता की रचना करता हूँ,

और तुम्हारे लिए पसारे बाँह खड़ा हूँ,
 आओ साथी गले लगा लूँ,
 तुम्हें, तुम्हारी मिथिला की प्यारी धरती को,
 तुममें व्यापे विद्यापति को,
 और वहाँ की जनवाणी के छन्द चूम लूँ,
 और वहाँ के गढ़-पोखर का पानी छू कर नैन जुड़ा लूँ,
 और वहाँ के दुखमोचन, मोहन माँझी को मित्र बना लूँ,
 और वहाँ के हर चावल को हाथों में ले हृदय लगा लूँ,
 और वहाँ की आबहवा से वह सुख पा लूँ
 जो गीतों में गाया जा कर कभी न चुकता,
 जो नृत्यों में नाचा जा कर कभी न चुकता,
 जो आँखों में आँजा जा कर कभी न चुकता,
 जो ज्वाला में डाला जा कर कभी न जलता,
 जो रोटी में खाया जा कर कभी न कमता,
 जो गोली से मारा जा कर कभी न मरता,
 जो दिन दूना रात चौगुना व्यापक बनता,
 और वहाँ नदियों में बहता,
 नावों को ले आगे बढ़ता,
 और वहाँ फूलों में खिलता,
 बागों को सौरभ से भरता।

अहोभाग्य है जो तुम आये मुझसे मिलने,
 इस बाँदा में चार रोज के लिए ठहरने,
 अहोभाग्य है। मेरा, मेरे घर वालों का,
 जिनको तुम स्वागत से हँसते देख रहे हो।
 अहोभाग्य है इस जीवन के इन कूलों का,
 जिनको तुम अपनी कविता से सींच रहे हो।
 अहोभाग्य है हम दोनों का,
 जिनको आजीवन जीना है काव्य-क्षेत्र में।
 अहोभाग्य है हम दोनों की इन आँखों का,
 जिनमें अनबुझ ज्योति जगी है अपने युग की।
 अहोभाग्य है दो जनकवियों के हृदयों का

जिनकी धड़कन गरज रही है घन-गर्जन-सी।
 अहोभाग्य है कठिनाई में पड़े हुए प्रत्येक व्यक्ति का,
 जिनका साहस-शौर्य न घटता।
 अहोभाग्य है स्वयं उगे इन सब पेड़ों का,
 जिनके द्रुम-दल झरते फिर-फिर नये निकलते।
 अहोभाग्य है हर छोटी चञ्चल चिड़ियों का,
 जिनका नीड़ बिगड़ते-बनते देर न लगती।
 अहोभाग्य है बम्बेश्वर की चौड़ी-चकली चट्टानों का,
 जिनको तुमने प्यार किया है, सहलाया है।
 अहोभाग्य है केन नदी के इस पानी का,
 जिसकी धारा बनी तुम्हारे स्वर की धारा।
 अहोभाग्य है बाँदा की इस कठिन भूमि का,
 जिसको तुमने चरण छुला कर जिला दिया है।

हम

हम लेखक हैं,
 कथाकार हैं,
 हम जीवन के भाष्यकार हैं,
 हम कवि हैं जनवादी।
 चंद, सूर,
 तुलसी, कबीर के,
 संतों के, हरिचन्द्र वीर के
 हम वंशज बड़भागी।
 प्रिय भारत की
 परम्परा के,
 जीवन की संस्कृति-सत्ता के,
 हम कर्मठ युगवादी।
 हम स्रष्टा हैं,
 श्रम-शासन के

मुद मंगल के उत्पादन के,
हम दृष्टा हितवादी।
भूत, भविष्यत्,
वर्तमान के,
समता के शाश्वत विधान के
हम हैं मानववादी।
हम कवि हैं जनवादी।

1957

धीरे उठाओ मेरी पालकी

धीरे उठाओ मेरी पालकी
मैं हूँ सुहागिन गोपाल की
बेला है फूलों के माल की
फूलों के माल की—
धीरे उठाओ मेरी पालकी।

धीरे उठाओ मेरी पालकी
मैं हूँ बँसुरिया गोपाल की
बेला है गीतों के ताल की
गीतों के ताल की—
धीरे उठाओ मेरी पालकी।

धीरे उठाओ मेरी पालकी
मैं हूँ सुरतिया गोपाल की
बेला है मनसिज के ज्वाल की
मनसिज के ज्वाल की—
धीरे उठाओ मेरी पालकी।

1957

नाव मेरी पुरइन के पात की

नाव मेरी पुरइन के पात की,
कोमल है गात की,
व्याकुल है जैसे कि चातकी,
स्वाती के स्वाद की!

लाखों है लहरें आघात की,
पीड़ा है पातकी,
छायी अँधेरी है रात की—
भारी विषाद की।

नाव खेयो पुरइन के पात की,
किरणों से प्रात की,

साहस की उँगली से बात की,
मीढ़ों से नाद की।

1957

माँझी न बजाओ वंशी

माँसी! न बजाओ बंशी मेरा मन डोलता
मेरा मन डोलता है जैसे जल डोलता
जल का जहाज जैसे पल-पल डोलता
माँसी! न बजाओ बंशी मेरा प्रन टूटता
मेरा प्रन टूटता है जैसे तृन टूटता
तृन का निवास जैसे बन-बन टूटता
माँझी! न बजाओ बंशी मेरा तन झूमता
मेरा तन झूमता है तेरा तन झूमता
मेरा तन तेरा तन एक बन झूमता।

1957

धूप का गीत

धूप धरा पर उतरी
जैसे शिव के जटाजूट पर
नभ से गंगा उतरी।
धरती भी कोलाहल करती
तम से ऊपर उभरी!!
धूप धरा पर बिखरी!!

बरसी रवि की गगरी,
जैसे ब्रज की बीच गली में
बरसी गोरस गगरी।
फूल-कटोरो-सी मुसकाती
रूप-भरी है नगरी!!
धूप धरा पर निखरी!!

1957

तू जल गहरी भरी नदी है

तू जल-गहरी भरी नदी है
और पखेरू मैं नभ का हूँ
तूने ज्योंही मुझे पुकारा
मैं आया हूँ,
ओ मेरी प्रिय नदी साँवरी
मैं आया हूँ बड़ी दूर से अरी बावरी!
जी भर अपने श्यामल जल में
पंख दुबा लेने दे मुझको
और नाक की नथ का मोती

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 169

सुधि में ले जाने दे मुझको
लाल चोंच में सुख से दाबे।

9.1.1958

हम न रहेंगे

हम न रहेंगे—
तब भी तो यह खेत रहेंगे;
इन खेतों पर घन घहराते
शेष रहेंगे;
जीवन देते,
प्यास बुझाते,
माटी को मद-मस्त बनाते,
श्याम बदरिया के
लहराते केश रहेंगे!
हम न रहेंगे—
तब भी तो रति-रंग रहेंगे;
लाल कमल के साथ
पुलकते भृङ्ग रहेंगे;
मधु के दानी,
मोद मनाते,
भूतल को रससिक्त बनाते,
लाल चुनरिया में
लहराते अंग रहेंगे।

10.3.1958

केरल

मुझे गर्व है उस केरल पर
पहली बार जहाँ खग्रासी तमचर हारे,
भीति-भार के अंधकार के ढहे कगारे,

170 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

सूर्यमुखी आलोक-गरुण ने पंख पसारे,
दहक उठे दाड़िम-विद्रुम-दृष्टा अंगारे,
उस केरल पर—
वहाँ मुक्ति का केतन फहरा,
धूसर धरती पर सोने का सागर लहरा।

उस केतन-सा लहक रहा है जन-मन-जीवन।
उस सागर-सा लहर रहा है जन-मन-जीवन।।

मुझे गर्व है और हर्ष है उस केरल पर,
आशा के अरविंद खिले हैं जिस केरल पर!!

19.3.1958

आज नदी बिलकुल उदास थी

आज नदी बिलकुल उदास थी,
सोयी थी अपने पानी में,
उसके दर्पण पर
बादल का वस्त्र पड़ा था।

मैंने उसको नहीं जगाया,
दबे पाँव घर वापस आया।

23.3.1958

संगमरमर का सबेरा और हम

संगमरमर का सबेरा!
और
उसकी मूर्तियाँ हम—
मूक, कातर!

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 171

आह! हमको
शस्यश्यामा छुए,
चूमे और भेंटे!!

23.3.1958

लिपट गयी जो धूल पाँव से

लिपट गयी जो धूल पाँव से
वह गोरी है इसी गाँव की
जिसे उठाया नहीं किसी ने
इस कुठाँव से।

23.3.1958

बच्चे की आँखों का काजल

बच्चे की आँखों का काजल
मन पर मेरे फैल गया है
यह कोमल, नादान अँधेरा
मुझको प्रिय है।

24.3.1958

कंकरीला मैदान

कंकरीला मैदान
ज्ञान की तरह जठर-जड़ लम्बा-चौड़ा,
गत वैभव की विकल याद में—
बड़ी दूर तक चला गया है गुमसुम खोया!
जहाँ-तहाँ कुछ-कुछ दूरी पर,
उसके ऊपर,

172 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

पतले से पतले डण्ठल के नाजुक बिरवे
थर-थर हिलते हुए हवा में खड़े हुए हैं
बेहद पीड़ित!

हर बिरवे पर मुंदरी जैसा एक फूल है
अनुपम मनहर हर ऐसी सुन्दर मुँदरी को
मीनों ने चंचल आँखों से,
नीले सागर के रेशम के रश्मि-तार से,
हर पत्ती पर बड़े चाव से बड़ी जतन से,
अपने-अपने प्रेमी जन को देने की

खातिर काढ़ा था

सदियों पहले।

किन्तु नहीं वे प्रेमी आये,
और मछलियाँ—

सूख गयी हैं, कंकड़ हैं अब!

आह! जहाँ मीनों का घर था
वहाँ बड़ा वीरान हो गया।

31.3.1958

धूप नहीं यह

धूप नहीं, यह
बैठा है खरगोश पलंग पर
उजला,

रोएँदार, मुलायम—

इसको छू कर
ज्ञान हो गया है जीने का
फिर से मुझको।

5.6.1958

यह जो नाग

यह जो

नाग दिये के नीचे

चुप बैठा है,

इसने मुझको

काट लिया है

इस काटे का मंत्र

तुम्हारे चुम्बन में है,

तुम चुम्बन से

मुझे जिला दो।

7.6.1958

सुआपंखी घाम पहने पेड़ वन के

सुआपंखी घाम पहने पेड़ वन के,

मोर नाचे तले जिनके;

गीत गाते विहग जिनके;

और झूले में झुलाते हमें-तुमको,

फूल देते,

और फल की भेंट देते,

वे अनूठे पेड़ सूखें नहीं वन के;

अमर हों जैसे अमर कवि सूर-तुलसी!

16.6.1958

जब तुम अपने केश खोलकर

हे मेरी तुम

जब तुम अपने केश खोलकर

तरल ताल में लहराओगी,

और नहाकर

चंदा सी बाहर आओगी
दो कुमुदों को ढँके हाथ से
चकित देखती हुई चतुर्दिक,
तब मैं तुमको
युग्म भुजाओं में भर लूँगा
और चाँदनी में चुमूँगा तुम्हें रात भर
ताल किनारे।
कई जनम तक याद रहेगा
यह दुर्लभ सुख
हम दोनों को।

17.6.1958

दीप की लौ-से दिन

भूल सकता मैं नहीं
ये कुच-खुले दिन,
ओठ से चूमे गये,
उजले, घुले दिन,
जो तुम्हारे साथ बीते
रस-भरे दिन,
बावरे दिन,
दीप की लौ-से
गरम दिन।

25.6.1958

और शीशा मुस्कराया

क्या नहीं कुछ हो गया
जब याद आयी
और परदे फड़फड़ाये :
प्रेम से तस्वीर निकली,

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 175

और शीशा मुस्कराया
वाह! फिर तो फूल बरसे
और मैं तुमसे मिला!
क्या नहीं कुछ हो गया
जब तुम मिलीं!

13.7.1958

सितार-वादन सुनते हुए

वह सितार के तार-तार को बजा रहा था।
बजा रहा था तार-तार को,
मंथन कर सागर से ध्वनियाँ, धूमधाम से उठा रहा था
लहरों को छल-छल उछालकर झुला रहा था
पैजनियाँ पहने-जलपरियाँ नचा रहा था
संसृति को पुष्पक विमान पर उड़ा रहा था
लोक-लोक दिक्देश-काल को भुला रहा था
समर-क्षेत्र में वाण वीर-सा चला रहा था
विजय-वारुणी अधोरत्रि में पिला रहा था
मारुत-सा पर्वत की सत्ता हिला रहा था
उद्गम से उमड़ी नदियों को बुला रहा था
मन-मतंग को कजली-वन में घुमा रहा था
पर्वत के कंधों पर बादल झुमा रहा था
वह सितार के तार-तार को बजा रहा था

गोरी को गोदी में सुख से लिटा रहा था
मुख निहार कर मुख पर चुम्बन लुटा रहा था
खिले कमल को अपने उर से लगा रहा था
बार-बार दीपों की माला जला रहा था
दीपों की माला से सोना गला रहा था
गालों पर लज्जा की लाली लगा रहा था
निंदियायी आँखों में यौवन जगा रहा था

176 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

डालों पर पल्लव-प्रसून को खिला रहा था
मधु-लोभी भौरों का गुंजन गुँजा रहा था
बीती बातों की सुगंध को सुँघा रहा था
तन को तन से मन को मन से मिला रहा था
वह सितार के तार-तार को बजा रहा था

रथ को पथ पर वायु-वेग से चला रहा था
नक्षत्रों से अपना परिचय बढ़ा रहा था
धूल धुएँ-सा पीछे-पीछे उड़ा रहा था
गजमुक्ता से स्वर के छींटे उड़ा रहा था
देवों का पीयूष प्राण को पिला रहा था
मनुज-तत्व को सूक्ष्म बना कर जिला रहा था
जड़-चेतन का भेद मिटाकर मिला रहा था
लय में लय कर प्रलय-काल को मिटा रहा था
देही को सौरभ-सा देही बना रहा था
सौरभ-से रागों को मन में बसा रहा था
वह सितार के तार तार को बजा रहा था

4.11.1958

बच्चे और मैं

छुट्टी का घण्टा बजते ही कक्षाओं से
निकल-निकल आते हैं जीते-जगते बच्चे,
हँसते-गाते चल देते हैं पथ पर ऐसे
जैसे भास्वर भाव वही हों कविताओं के
बन्द किताबों से बाहर छन्दों से निकले
देश-काल में व्याप रही है जिनकी गरिमा
मैं निहारता हूँ उनको, फिर-फिर अपने को
और भूल जाता हूँ अपनी क्षीण आयु को!

28.11.58

वह चिड़िया जो

वह चिड़िया जो—
चोंच मार कर
दूध-भरे जुण्डी के दाने
रुचि से, रस से खा लेती है
वह छोटी संतोषी चिड़िया
नीले पंखों वाली मैं हूँ
मुझे अन्न से बहुत प्यार है।
वह चिड़िया जो—
कण्ठ खोल कर
बूढ़े वन-बाबा की खातिर
रस उँडेल कर गा लेती है
वह छोटी मुँह बोली चिड़िया
नीले पंखों वाली मैं हूँ
मुझे विजन से बहुत प्यार है।

वह चिड़िया जो—
चोंच मार कर
चढ़ी नदी का दिल टटोल कर
जल का मोती ले जाती है
वह छोटी गरबीली चिड़िया
नीले पंखों वाली मैं हूँ
मुझे नदी से बहुत प्यार है।

28.11.1958

रेत मैं हूँ जमुन जल तुम

रेत मैं हूँ—जमुन-जल तुम!
मुझे तुमने
हृदय तल से ढँक लिया है
और अपना कर लिया है

अब मुझे क्या रात—क्या दिन
क्या प्रलय—क्या पुनर्जीवन!

रेत मैं हूँ—जमुन-जल तुम!
मुझे तुमने
सरस रस से कर दिया है
छाप दुख-दव हर लिया है
अब मुझे क्या शोक—क्या दुख
मिल रहा है सुख—महासुख!

28.11.1958

धूप चुराए गेंदा

“धूप चुराए गेंदा फूला है” गरीब के दरवाजे पर;
शाम साँवरी सोने का कण्ठा पहने है बड़े चाव से;
संपादक की आँख देखती है सोने के इस कण्ठे को,
जिसे देखकर धरती का यौवन जीवन में छा जाता है

17.12.1958

ढेर लगा दिये हैं हमने

ढेर लगा दिये हैं हमने
पुलों के—
पहियों के
अपनी सदी के उस पार जाने के लिए
लेकिन पुल टूटे
पहिये टूटे हैं।

26.1.1961

सारंगी सुनकर

योगलीन शिव की मुद्रा में वादक बैठा,
भोग-भवानी की सारंगी लिए गोद में
कला-कुशल हाथों से तन्मय बजा रहा है
आदि भूत को राग-बोध की परिसंज्ञा दे
जो न कभी अब तक उपजे थे भाव भूमि में
वह अणु-अणु से अब उपजे हैं अंकुर जैसे
गजदंती-वैदूर्यमुखी—कलहंस शरीरी
लाखों की संख्या में सोने के प्रकाश में
मैं भी रहा न पिंड पठारी, सिंधु हो गया
सारंगी के स्वरारोह में लहरें लेता
महाकाश की ओर उमड़ता महावेग से
शशिशेखर के अभिनंदन में गूँज उठा हूँ
महाकाल भी द्रवीभूत हो गया स्वरो से,
भूल गया अपनी जघन्य दुर्दम लीलाएँ
कर के छोड़, कुठार, शरद के तरल ताल का
नवजीवन के गंध-राग का कमल हो गया
बजती रहे सुमुखि-सारंगी इसी भाव से
गलती रहे जटिल जड़ता भी इसी भाव से
चेतनता फूले सरसों-सी इसी चाव से
शंभु-भवानी मिलें कंठ से इसी भाव से

30.12.1958

धूप

धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहने
मैंके में आयी बेटी की तरह मगन है
फूली सरसों की छाती से लिपट गयी है
जैसे दो हमजोली सखियाँ गले मिलीं हैं
भैया की बाहों से छूटी भौजाई-सी
लहंगे को लहराती लचती हवा चली है

सारंगी बजती है खेतों की गोदी में
दल के दल पक्षी उड़ते हैं मीठे स्वर के
अनावरण यह प्राकृत छवि की अमर भारती
रंग-बिरंगी पंखुरियों की खोल चेतना
सौरभ से मँह-मँह महकाती है दिगन्त को
मानव मन को भर देती है दिव्य दीप्ति से
शिव के नन्दी-सा नदिया में पानी पीता
निर्मल नभ अवनी के ऊपर बिसुध खड़ा है
काल काग की तरह टूँट पर गुमसुम बैठा
खोयी आँखों देख रहा है दिवास्वप्न को।

17.1.1959

मेरे देश, तुम्हारी छाती की मिट्टी मैं हो जाऊँगा

मर जाऊँगा तब भी तुमसे दूर नहीं मैं हो पाऊँगा
मेरे देश, तुम्हारी छाती की मिट्टी मैं हो जाऊँगा
मिट्टी की नाभी से निकला मैं ब्रह्मा होकर आऊँगा
गेहूँ की मुट्टी बाँधे मैं खेतों-खेतों छा जाऊँगा
और तुम्हारी अनुकम्पा से पककर सोना हो जाऊँगा
मेरे देश, तुम्हारी शोभा मैं सोना से चमकाऊँगा

19.4.1959

किसान स्तवन

तुम जो अपने हाथों में विधि से ज्यादा ताकत रखते हो
मेहनत से रहते हो, खेतों में जाकर खेती करते हो
मेड़ों को ऊँचा करते हो, मेघों का पानी भरते हो
फसलों की उम्दा नसलें हर साल नयी पैदा करते हो
लाठी लेकर रखवाली सबकी करते हो
कजरारी गौओं के थन से पय दुहते हो
फिर भी मूँड़े पर गोबर लेकर मलते हो
तुम जो धन्नासेठों के तलवे गलते हो,

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 181

तुम जो छाती पर पत्थर रक्खे जीने का दम भरते हो
अन्यायों से जोर जुलुम से मुट्टी ताने लड़ मरते हो
तुम जो ठगते नहीं ठगे सब दिन जाते हो
तुम जो सरकारी पेटी में टैक्सों में पैसा भरते हो
अफसर के वेतन को अपने लोहू देकर मोटा करते हो
थाने की ड्योढ़ी पर जाकर बकरे जैसा कट आते हो
मेहनत की मस्ती में ज्ञानी-विज्ञानी को शरमाते हो
तुम जो मेहनत की गेहूँ जौ की रोटी खाते हो
तुम जो मेहनत की भद्र गहरी निंदिया में सो जाते हो
तुम अच्छे हो तुम से भारत का भीतर-बाहर अच्छा है
तुम सच्चे, तुम से भारत का सुन्दर सपना सच्चा है
तुम गाते हो, तुमसे भारत का कोना-कोना गाता है
तुमसे मुझको मेरे भारत को जीवन का बल मिलता है
तुम पर मुझको गर्व बहुत है, भारत को अभिमान बहुत है
यद्यपि शासन तुमको क्षण भर कोई मान नहीं देता है
तुम जो रूसी-चीनी-हिंदी मैत्री के दृढ़ संरक्षक हो
तुम जो तिब्बत-चीन-एकता के विश्वासी अनुमोदक हो
तुम जो युद्धों के अवरोधक शांति समर्थक युगधर्मी हो
मैं तो तुमको मान-मुहब्बत सब देता हूँ
मैं तुम पर कविता लिखता हूँ
कवियों में तुम को लेकर आगे बढ़ता हूँ
असली भारत पुत्र तुम्हीं हो
असली भारत पुत्र तुम्हीं हो,
मैं कहता हूँ।

22.4.1959

मार देखो

मार देखो
मौन टूटेगा न घन से
वह पला है धैर्य बन के
इस हृदय में

182 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

और तन में
साँस में
मेरे नयन में।
मार देखो
गीत टूटेगा न घन से
वह बना है प्राणपन से
दाह-दव में शुद्ध मन से
नेह के
नाते वचन से।

20.8.1959

गाया हुआ गीत

गाया हुआ गीत
शरीर में आए हुए यौवन की तरह
मदांध हो गया
और नदी में नहा रहे हाथी की तरह
सूँड़ से जल की फुहार फेंकने लगा।
गाया हुआ गीत
घोंसलों से निकल आए कपोतों की तरह
हवा में उड़ने लगा
और विराट गहन कानन को छाप कर
मोहिनी माया से गुटर गुँ करने लगा।

गाया हुआ गीत
गुलमोहर के प्रलम्ब पेड़ों की तरह
छतनार हो गया,
और फूल-फूलकर, फगुआरों की तरह,
उदार अवनी से फूलों की होली खेलने लगा।

गाया हुआ गीत
विरही राम की तरह सीता के लिए

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 183

अधीर हो गया
और विशाल कमल-नयनों से बड़े-बड़े
आँसू की तरह,
आवागमन के मार्ग पर, टपाटप टपकने लगा।

गाया हुआ गीत
सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और तरल-से-तरलतर
आकाश हो गया
और आकाश में फैलकर फूलने वाली
चेतना का प्रकाश हो गया।

10.10.1959

नीम के फूल

नीम के फूल
दूध की फुटकियों-से झरे
मुलायम-मुलायम,
कठोर भूमि पर बिखरे;
जैसे कोई
प्यार से शरीर स्पर्श करे;
दुखों से तनी हुई
नसों की थकान हरे।

20.10.1959

वसन्त आया

वसन्त आया :
पलास के बूढ़े वृक्षों ने
टेसू की लाल मौर सिर पर धर ली!

184 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

विकराल वनखण्डी
लजवन्ती दुलहिन बन गयी,
फूलों के आभूषण पहन आकर्षक बन गयी।

अनंग के
धनु-गुण के भौरै गुनगुनाने लगे,
आम के अंग
बौरों की सुगन्ध से महक उठे,
मंगल गान के सब गायक पखेरू चहक उठे।

20.10.1959

हो न हो तुम्हें

हो, न हो तुम्हें,
हमें है हमारी सत्ता का बोध :
कि हम हैं संगमरमर के भीतर जल रहे दिये,
पर्त-पर्त में प्रकाश भर रहे दिये;
कि हम हैं मूर्तियों की अन्तरात्मा के दिये,
दिक्काल को भी जीवित कर रहे दिये;
कि हम हैं सूर्य और चन्द्रमा की आयु के साथी दिये,
अन्धकार के विस्तार को पी रहे दिये।

30.10.1959

तुम मुझे कुछ न दो

तुम मुझे कुछ न दो
न अपनी उँगलियों के स्पर्श की वर्तुल लहरियाँ
न अपनी आँखों की चुम्बकीय बिजलियाँ
न अपने कंधों पर की झुकी हुई मदान्ध सुगन्धित रातें
न अपने उरोजों के उठे हुए कसे आश्वस्त कूल

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 185

न अपने गालों के गुलाबी प्रभात
न अपने ओठों के ललित लालिम चुम्बन
न अपने नितम्बों का चरणों तक बहता हुआ महोल्लास
न अपने फूल झरते बोल
न अपना हिमानी मौन
लेकिन, तुम मुझे दो
मेरा धैर्य-मेरा हीरा
जिसे तुमने अखंडित लिया
और खंडित किया :
जिसे तुमने आभूषणों में जड़ाया
और यौवन का उत्सव मनाया,
अन्यथा असम्भव है मेरा जीना
बिना धैर्य—बिना हीरा!

14.11.1959

समुद्र वह है

समुद्र वह है
जिसका धैर्य छूट गया है
दिक्काल में रहे-रहे!
समुद्र वह है
जिसका मौन टूट गया है,
चोट पर चोट सहे-सहे!

14.11.1959

सबसे आगे

सबसे आगे
हम हैं
पाँव दुखाने में;
सबसे पीछे

186 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

हम हैं
पाँव पुजाने में।
सबसे ऊपर
हम हैं
व्योम झुकाने में;
सबसे नीचे
हम हैं
नींव उठाने में।

15.11.1959

शब्दों की कतार के पीछे

शब्दों की कतार के पीछे,
ओट में खड़ा
मैं बोलता हूँ तुमसे!

सरसों की पाँत के पीछे,
ओट में खड़ा
मैं बोलता हूँ तुमसे!

15.11.1959

तुम्हारे उरोजों का सोना

तुम्हारे उरोजों का सोना
कठोर ही नहीं
दूध की धार से भरा
कोमल भी है।
कठोरता कोमलता का कवच है
तुम जानती हो न?

15.11.1959

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 187

केन किनारे पत्थी मारे

केन किनारे
पत्थी मारे
पत्थर बैठा गुमसुम!
सूरज पत्थर
सैंक रहा है गुमसुम!

साँप हवा में
झूम रहा है गुमसुम!

पानी पत्थर
चाट रहा है गुमसुम!

सहमा राही
ताक रहा है गुमसुम!

17.11.1959

नदी एक नौजवान ढीठ लड़की है

नदी एक नौजवान ढीठ लड़की है
जो पहाड़ से मैदान में आयी है
जिसकी जाँघ खुली
और हंसों से भरी है
जिसने बला की सुन्दरता पायी है!

पेड़ हैं कि इसके पास ही रहते हैं
झुकते, झूमते, चूमते ही रहते हैं
जैसे बड़े मस्त नौजवान लड़के हैं!

नदी म्यान से खिंची एक तलवार है
जो मैदान में लगातार चलती है

188 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

जिसकी धार तेज

और बिजली से भरी है

जिसने बला की चंचलता पायी है!

कूल हैं कि इसको पास ही रखते हैं
जी-जान से इसे प्यार ही करते हैं
जैसे बड़े कुशल समर-शूर सैनिक हैं!

17.11.1959

तुम

दोष तुम्हारा नहीं—हमारा है
जो हमने तुम्हें इंद्रासन दिया :
देश का शासन दिया :
तुम्हारे यश के प्रार्थी हुए हम :
तुम्हारी कृपा के शरणार्थी हुए हम :
और असमर्थ हैं हम
कि उतार दें तुम्हें
इंद्रासन से—देश के शासन से,
अब जब तुम व्यर्थ हो चुके हो—
अपना यश खो चुके हो!

19.11.1959

इकला चाँद

इकला चाँद
असंख्यों तारे
नील गगन के
खुले किवाड़े;
कोई हमको
कहीं पुकारे

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 189

हम आएँगे

बाँह पसारे।

20.11.1959

अकथ्य को हमने कहा नहीं

अकथ्य को हमने कहा नहीं,
असत्य को हमने सहा नहीं।
कथ्य को हमने सँवारा
तब कहा,
सत्य को हमने दुलारा
तब सहा।

22.11.1959

दल बँधा मधुकोष गंधी

दल बँधा मधुकोष गंधी फूल
मन्दिर मौन का है
रूप, जिसकी अंजली से,
काल की साँकल हटा कर खुल गया है।
रश्मियों का राग-रंजित
रथ यहीं पर रुक गया है।
गन्ध पीने के लिए
नभ भी यहाँ पर झुक गया है।

30.11.1959

दिन अब भी गरम और गुदगुदा होता है

दिन अब भी गरम और गुदगुदा होता है,
तुम्हारे वक्षस्थल की तरह;

190 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

सानुराग मेरे दृढ़ वक्षस्थल से सटकर,
मुझे गरमाता और रोमांचित करता है।
हवा अब भी सुखद और कुनमुनी होती है,
तुम्हारे निःश्वास की तरह,
मेरे खुले चेहरे को स्नेह से स्पर्श कर,
मुझे मंद-मंथर स्वभाव से सहलाती है!
लेकिन ये सूर्योदय और सूर्यास्त अब तो
तुम्हारे कुंडलों की तरह
प्रदीप्त होने पर भी, दृष्टि से छूने पर
मेरे तन में शीत का संचार करते हैं।
और अब तो जाड़े की ये साँवली रातें
तुम्हारे कुंतलों की तरह
अधीर, उच्छ्रंखल, मेरे शरीर से लगकर,
मुझे हिमपात-सी बरबस शीतल करती हैं!

31.11.1959

अमृता शेरगिल के चित्र को देखकर

अंधी रात का तुम्हारा तन :
दाहिने हाथ की उठी हथेली :
नग्न कच्चे कुर्चों—
कटि के मध्य देश—
लौह की जाँघों से
आन्तरिक अरुणोदय की झलक मारता है
ओ चित्र में अंकित युवती!
तुम सुन्दर हो!
मौन खड़ी भी तुम विद्रोही शक्ति हो!

9.10.1960

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 191

नदी

नदी है
कि नितम्बिनी वीणा
तट पर धरी
कभी बजती—कभी मौन

12.10.1960

खिला है अग्निम प्रकाश

खिला है अग्निम प्रकाश
संध्याकाश में;
कलम वन की तरह नयनाभिराम,
प्रवाल-पँखुरियों के सम्पुट खोले,
क्षण पर क्षण
बिम्बित-प्रतिबिम्बित होता,
दिगम्बरी दिशाओं के दर्पण में।

19.10.1960

रथ दौड़ते हैं रंगीन फूलों के

रंग नहीं
रथ दौड़ते हैं रंगीन फूलों के
सांध्य गगन में।
देखो—बस—देखो।
रंग नहीं
ध्वज फहरते हैं रंगीन स्वप्नों के
सांध्य गगन में।
झूमो—बस—झूमो!
रंग नहीं

192 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

नट नाचते हैं रंगीन छंदों के
सांध्य गगन में!
नाचो—बस—नाचो!

20.10.1960

आस्था का शिलालेख

मैं हूँ अनास्था पर लिखा
आस्था का शिलालेख
नितान्त मौन,
किन्तु सार्थक और सजीव
कर्म के कृतित्व की सूर्याभिमुखी अभिव्यक्ति;
मृत्यु पर जीवन के जय की घोषणा।

6.1.1961

दिन है कि हंस हलाहल पर

दिन है कि
हंस हलाहल पर
मंद-मधुर तिर रहा है
दिन है कि चरने गयी गाय का
सफेद बछड़ा
माँ की प्रतीक्षा में बैठा है।

9.1.1961

दिन अच्छा है

दिन अच्छा है
नटी नदी के दृढ़ नितम्ब की तरह खुला है

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 193

पानी जिसको परस रहा है मधुर चाव से
उस नितम्ब को खुले दिवस को जी भर देखो

दिन अच्छा है
बीच खेत में बड़े साँड की तरह खड़ा है
गाएँ जिसको निरख रही हैं मुग्ध भाव से
उस मनचीते वृषभ दिवस को जी भर देखो

9.1.1961

रची उषा ने ऋचा दिवा की

रची उषा ने ऋचा दिवा की
निशा सिरानी;
सुख के आमूख खिले कमल-मुख,
पुलके प्रानी;

रूप अनूप धूप के धन के
खिले मुकुल से,
महिमा हुई मही की गोचर,
रज की रोचक;
भूचर के स्वर, खेचर के पर
भास्वर हुलसे:
जल में जगी ज्योति की रम्भा-
तम की मोचक।

12.1.1961

निर्बल और बलीन

कैसे जियें कठिन है चक्कर
निर्बल हम, बलीन हैं मक्कर

194 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

तिलझन ताबड़तोड़ कटाकट
हड्डी की लोहे से टक्कर।

18.1.1961

न टूटो तुम

न टूटो तम
बस झुको यों
कि चूम लो मिट्टी
और फिर उठो।

2.3.1961

अब आयी चंचला शरण में

घन पर घन आ घिरे गगन में
क्षण पर क्षण आ तिरे नयन में
श्याम नील हो गया धरातल
रंग रोर भर उमड़ पड़ा जल।
अब झूमें गजराज बिजन में
छिपे सूर्य के कदली वन में
अब उतरी आँखों में कजरी
रस बरसी बाहों में बदरी।

छूटी कटि की कनक मेखला
टूटी पद की लौह शृंखला
अब आयी चंचला शरण में
पाने को आवास चरण में।।

15.7.1961

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 195

तड़पती केन

रवि के खरतर शर से मारी,
क्षीण हुई तन-मन से हारी,
केन हमारी तड़प रही है
गरम रेत पर, जैसे बिजली
बीच अधर में घन से छूटी
तड़प रही है।

16.7.1961

अब भी है कोई चिड़िया

अब भी है कोई चिड़िया जो सिसक रही है
नील गगन के पंखों में
नील सिंधु के पानी में;
मैं उस चिड़िया की सिसकन से सिहर रहा हूँ
वह चिड़िया मानव का आकुल अमर हृदय है।

16.7.1961

हल चलते हैं फिर खेतों में

हल चलते हैं फिर खेतों में
फटती है फिर काली मिट्टी
बोते हैं फिर बिया किसान
कल के जीवन के वरदान;
फिर उपजेगा उन्नत-मस्तक सिंहअयाली नाज
फिर गरजेगी कष्ट-बिदारक धरती की आवाज।

23.7.1961

196 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

जवान दिन

दायें—बायें
सुबह-शाम : इन
कामरूप दो सुंदरियों के बीच
जवान दिन हैरान
युगों से
भरी दुपहरी में तपता है।

1.8.1961

हम जियें न जियें दोस्त

हम जियें न जियें दोस्त
तुम जियो एक नौजवान की तरह,
खेत में झूम रहे धान की तरह,
मौत को मार रहे बान की तरह।
हम जियें न जियें दोस्त
तुम जियो अजेय इंसान की तरह
मरण के इस रण में अमरण
आकर्ण तनी
कमान की तरह

9.8.1961

चोली फटी

चोली फटी सरस सरसों की
नीचे गिरा फागुनी लहंगा,
ऊपर उड़ी चुनरिया नीली,
देखो हुई पहाड़ी बिबसन
आतप-तप्ता

30.12.1961

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 197

वह कवि था

वह कवि था, कवियों में रवि था;
मन से पंकज, तन से पवि था,
वह अपने युग का युगपति था,
गति के पार गयी वह गति था,
वह मानव का मानी स्वर था,
कालजयी वह धार प्रखर था,
वह जन के जीवन का दल था,
वह आलोकित नेह नवल था,
वह न रहा युग मौन हो गया
वह न रहा छवि गान सो गया
अब किरणों की माल म्लान हैं
खण्डित फूलों की कमान है।
यह भी क्या कटु विधान है
पा न सका कवि मान पान है।
दुर्मुख अन्धों का शासन है
कनबहरों का सिंहासन है।

19.10.1961

वरदवीणा हुई दीना

करण का रण रणव का रण
मरण का रण लड़े क्षण-क्षण
हटे हठ से नहीं ठिठके
कहीं ठहरे नहीं बिक के
गले मिलते रहे गल के
शरण सम्बल रहे बल के
रची रचना रुचिर वचना
नलिन नयना विशद वसना
गये तुम कर गये सूना
भुवन भव है विरस ऊना

198 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

‘समासीना’ वह प्रवीणा
वरदवीणा हुई दीना
बचे घन के बँधे परिकर।।
तरल तम के रूँधे पुष्कर
वयन विदलित भारती है
नयन विगलित भारती है।।
फिर उदय हो सदय दिनकर
किरण चुम्बन करे जी भर
जलज जागें, विमुख मुख पर
बहे ‘परिमल’ गहें सुख स्वर।

10.11.1961

सुभटकाय मेघों का संघट

सुभटकाय मेघों का संघट
कर-निकाय रवि का निगरण कर
जल बल की जय के कोलाहल से दिगंत भर
नीलकाय नभ के मण्डल से
भूमण्डल पर उतरा;
तरल काय रवि की तनया के तनुल तोय में
बिम्बकाय हो पुलकलाय कंजन-सा विचरा

3.8.1962

ओ पिकासो की पुत्रियो

कठोर हैं तुम्हारे कुचों के
मौन मंजीर
ओ पिकासो की पुत्रियो!
सुडौल हैं तुम्हारे नितम्ब के

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 199

दो कूल,
ओ पिकासो की पुत्रियो!

निर्भीक हैं
चरणों तक गयी
कदली-खंभों-सी प्रवाहित
कुमारीत्व की दोनों नदियाँ,
ओ पिकासो की पुत्रियो!

22.8.1962

धूप पिये पानी लेटा है

धूप पिये पानी लेटा है सीना खोले
नौजवान बेटा है युग के श्रमजीवी का।

30.10.1962

चली गयी है कोई श्यामा

चली गयी है कोई श्यामा,
आँख बचा कर, नदी नहा कर
काँप रहा है अब तक व्याकुल
विकल नील जल।

30.10.1962

जल रहा है

जल रहा है
जवान होकर गुलाब,
खोल कर होंठ
जैसे आग
गा रही है फाग।

4.11.1962

200 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

हरी घास का बल्लम

हरी घास का बल्लम
गड़ा भूमि पर
सजग खड़ा है
छह अंगुल से नहीं बड़ा है
मन होता है
मैं उखाड़ कर इसे मार दूँ
कुण्ठा को गढ़ में पछाड़ दूँ
जहाँ गड़े हैं भूले मुरदे
वहाँ गाड़ दूँ।

19.11.1962

मजदूरिन

वह समाज में
न्याय न पाकर,
अन्यायों की चोट दबाकर
भरी देह का
नेह सुखाकर
खाकर ठोकर—
रोम दुखाकर,
अपने सपने
घूल बनाकर
कर से कर पर की मजदूरी,
पग से
हर पल-पल की दूरी,
जीवन जीती है
अनचाहा,
दुख-दारिद पीती अनथाहा।

5.4.1963

मैं पहाड़ हूँ

मैं पहाड़ हूँ
और तुम
मेरी गोद में बह रही नदी हो

26.4.1964

अपने मन की बात

उतार कर
धर दिया है मैंने
अपना बड़प्पन,
वहाँ,
उस मुरदा अजायबघर में,
जहाँ
मरणोपरांत धर दी जाती हैं
बड़े-बड़ों के बड़प्पनों की उतारनें।

हल्का हो गया हूँ मैं,
सहज-साधारण हो गया हूँ मैं,
आदमियों के साथ
जीने के लिए
तैयार हो गया हूँ मैं।

न चाहिये मुझे
ऐरावत की सवारी।
न चाहिये मुझे
इंद्रासन,
न चाहिये मुझे
पारिजात।

बस,
अब,

बहुत काफी है मुझे,
मेरे लिए लोकतंत्र की जमीन
जो हो रही है
दिनों दिन
मानववाद से हसीन,
यही तो है मेरे काव्य की,
परम प्रेरक-प्राण से प्यारी
जन्मभूमि,
यही तो है
मेरी मनोभूमि।

मई, 1964

चम्मचों से नहीं

चम्मचों से नहीं
आकंठ डूब कर पिया जाता है
दुख को दुख की नदी में
और तब जिया जाता है
आदमी की तरह आदमी के साथ
आदमी के लिए

17.7.1965

‘फूल नहीं रंग बोलते हैं’ के प्रकाशानोत्सव पर

प्रिय डाक्टर¹
पाई चिट्ठी
हुआ, प्रसन्न
तुमने तोड़ा मौन

1. डॉ० रामविलास शर्मा
2. श्री कृष्ण दास
3. अमृत राय

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 203

मैंने खाई खीर
स्वाद बन गया
वक्ष तन गया
गया इलाहाबाद
पुस्तक देखी
आँखें चमकीं
बहुत समय पर मेरी कविता बाहर आई
छपने पर वह और हो गयी
सबको भायी
समारोह भी रहा सुहाना
सबने सुना मुझको, मैंने सबको जाना
मन गाता था गाना
मैं पहने था माला
चलता था चौताला
लेख पढ़े लोगों ने डटकर
सबने काव्य सराहा
पंत, महादेवी के भाषण भाव भरे थे
दास² हुलास भरे थे
अमरित³ ने अमरित बरसाया—

अब फिर बाँदा—
वही कचहरी
वही वकालत
वही कटाकट!

13.10.1965

सदेह सौंदर्य का समारोह

तुम एक
सदेह सौंदर्य का समारोह हो
मेरे मंच पर बज रहे हैं अब
तुम्हारे अंग-प्रत्यंग
जैसे वाद्य-यंत्र

14.10.1965

204 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

मैं उसे खोजता हूँ

मैं उसे खोजता हूँ
जो आदमी है
और
अब भी आदमी है
तबाह होकर भी आदमी है
चरित्र पर खड़ा
देवदार की तरह बड़ा।

31.10.1966

पेड़ का हाथ

आग लेने गया है
पेड़ का हाथ आदमी के लिए
टूटी डाल नहीं टूटी

29.12.1967

एक बच्चा हँसा

मर गया हूँ मैं,
पड़ोस की बूढ़ी औरत के मरने पर
जनाजा उठने के बाद
एक बच्चा हँसा
और फिर रोया
मरा हुआ मैं.....जी उठा
और फिर उसे गोद में उठा लिया
लगा, कि कोई नहीं मरा
सूरज अब भी चल रहा था
रिक्शे पर दुनिया दौड़ रही थी
वह सड़क जो कभी नहीं उठी थी

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 205

उठ बैठी
और उसने मुझे लपेट लिया
मुझे प्रतीत हुआ कि मैं
खिले हुए गुलाब के बाग में हँस रहा हूँ
मेरी बाहों में जिंदगी दौड़ती हुई हरहराने लगी
मैंने बुढ़िया के दरवाजे झूमते बादल का हाथी बाँध दिया
और उसका घंटा बजने लगा
शून्य के उड़ते हुए गोले फट गये
और वियतनाम की लड़ती हुई जनता
मौत को मारने लगी।
मेरी गोद का बच्चा सूरज के रथ पर बैठकर
दुनिया की सैर करने लगा
और वाशिंगटन पहुँचकर उसने जान्सन के सिर पर
एक टीप मारी
गैलपपोल में जनता ने तालियाँ बजादीं
और कासीगन ने
माओ की ओर मुँह बिरा दिया
तभी मैंने पढ़ा
कि लोहिया बीमार हैं
इंदिरा गांधी तीमारदार हैं
कविता ने कहा 'अब बस करो'
थोड़ा कहा बहुत समझना

1967

डॉ० रामविलास शर्मा के बाँदा आने पर

न देखा था
मैंने
देवदार
तुम

206 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

आये
और दिख गया मुझे
दृढ़ स्तम्भ पेड़
मेरी आँखों में खड़ा
अटूट आस्था से
हो गया
बड़ा
दिन
हो गया
इन्द्रियों के अन्दर
सिन्धु पा गया
सूर्य को
पानी के अस्तित्व में
मैं और कविता
जी भर बटोरते रहे
धूप का घन
एक साथ
एक साथ जीने के लिए
खुल कर बंद हो गयी
चिरौंटे की लाल चोंच
और तुम
आये और गये हो गये

19.3.1968

न बुझी आग की गाँठ है सूरज

न बुझी
आग की गाँठ है
सूरज :
हरेक को दे रहा रोशनी—

हरेक के लिए जल रहा—
ढल रहा—
रोज सुबह निकल रहा—
देश और काल को बदल रहा।

2.4.1968

झूठ मरे तो कैसे

सच ने
जीभ नहीं पायी है
वह बोले तो कैसे
असली बात कहे तो कैसे

सच की बात
गवाही कहते
जीभ उलटते और पलटते
सच कहने में असफल रहते
सच साबित हो कैसे
दिन में दिन हो कैसे
न्यायी बैठे
जीभ पकड़ते
जब वादी-प्रतिवादी लड़ते
सच के पाँव उखड़ते
झूठे के जब झंडे गड़ते
सच जीते तो कैसे
न्याय मिले तो कैसे
असली का नकली हो जाता
नकली का असली हो जाता
न्याय नहीं हंसा कर पाता
नीर-क्षीर विलगे तो कैसे
सच की साख जमे तो कैसे

कागज का पेटा भर जाता
पेटे में पड़ सच मर जाता

झूठे को डिगरी मिल जाती
जीते की बाछें खिल जातीं

झूठ मरे तो कैसे
कष्ट हरे तो कैसे

20.4.1968

खफ्त है मुझे आदमी होने का

खफ्त है मुझे
आदमी होने का
बेखफ्त आदमी
साँड़ है
सियार है
पेट भर लेता है
नेता है

19.7.1968

बजी रूप-रस की शहनाई

हे मेरी तुम!
मैंने देखा :
शहंशाह सूर्य ने झुक कर
मेरे आँगन की क्यारी के
खिले-खुले दिल के
गरबीले लाल गुलाब
बड़े प्यार से चूमे।

हे मेरी तुम!
मैंने देखा :

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 209

धूप हँसी दूधिया दीप्ति से,
खूशबू ने
खुश दिल से
खुशखबरी फैलायी,
बजी रूप-रस की शहनाई।

है मेरी तुम!
मैंने देखा :
राग-पराग-भरी पंखुरियाँ
मेरे भीतर
मेरे बाहर
रस से छलकीं :
मेरे उन्मादी यौवन की
सोयी—खोई सुधियाँ महकीं

16.10.1968

मिट मिट कर मैं सीख रहा हूँ

दूर कटा कवि
मैं जनता का,
कच-कच करता
कचर रहा हूँ अपनी माटी;

मिट-मिट कर
मैं सीख रहा हूँ
प्रतिपल जीने की परिपाटी
कानूनी करतब से मारा
जितना जीता उतना हारा
न्याय-नेह सब समय खा गया
भीतर बाहर धुआँ छा गया
धन भी पैदा नहीं कर सका

210 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

पेट-खलीसा नहीं भर सका
लूट खसोट जहाँ होती है
मेरी ताव वहाँ खोटी है
मिली कचहरी इज्जत थोपी
पहना चोंगा उतरी टोपी
लिये हृदय में कविता थाती
मैं ताने हूँ अपनी छाती

1969

सच

अब नहीं जाता
अदालत में,
खाल खिंचवाने
मुँड़ मुँड़वाने
हाड़ तोड़वाने
खून चुसवाने।
सच,
अब झाँक नहीं पाता
अदालत में
न्याय नहीं पाता
अदालत में!

जून 1970

कनबहरे

कोई नहीं सुनता
झरी पत्तियों की झिरझिरी
न पत्तियों के पिता पेड़
न पेड़ों के मूलाधार पहाड़
न आग का दौड़ता प्रकाश

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 211

न समय का उड़ता शाश्वत विहंग
न सिंधु का अतल जल-ज्वार
सब हैं—
सब एक दूसरे से अधिक
कनबहरे
अपने आप में बंद, ठहरे!

मार्च, 1971

जी के काम किये जीने में

जी के काम
किये जीने में,
सम्प्रति
साँग लिये सीने में;
रुचि की
रचना
रची मरम से,
बाँध
नहीं बाँधे
कुकरम के

जून, 1971

मीनाकुमारी की मृत्यु पर

रेत में
खो गयी नदी,
सागर पछाड़ खाता है इंतजार में,
अदृश्य में
उड़ गयी रोशनी
'हुआ-हुआ' करता है अंधकार का सियार,
अंगुलियाँ सहलाती हैं समय का सितार

212 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

संगीत नहीं बजता—

बिना तार और प्यार के,
हवा का रुक गया है जुलूस
प्यार के मजार के पास,
झुक गयी है नकाब ओढ़े दर्द की डाल

न आग है, न आग का नाच
सपाट है बर्फ की सड़क
बिना पदचाप के,
अनंत को चली गयी, मौन हुई।

अप्रैल, 1972

अहिंसा

मारा गया
लूमर लठैत
पुलिस की गोली से
किया था उसने कतल
उसे मिली मौत
किया था कतल पुलिस ने
उसे मिला इनाम

प्रवचन अहिंसा का
हो गया नाकाम।

22.6.1972

चिड़ीमार ने चिड़िया मारी

हे मेरी तुम!
चिड़ीमार ने चिड़िया मारी;
नन्ही-मुन्नी तड़प गई
प्यारी बेचारी।

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 213

हे मेरी तुम!

सहम गई पौधों की सेना;
पाहन-पाथर हुए उदास;
हवा हाय कर
ठिठकी ठहरी;
पीली पड़ी धूप की देही।

हे मेरी तुम!

अब भी वह चिड़िया जिन्दा है

मेरे भीतर,
नीड़ बनाये मेरे दिल में,
सुबुक-सुबुक कर
चूँ-चूँ करती
चिड़ीमार से डरी-डरी-सी।

28.2.73

काल कलूटा बड़ा क्रूर है

हे मेरी तुम!
काल कलूटा बड़ा क्रूर है—
उससे ज्यादा।

लेकिन अपना प्रेम प्रबल है।
हम जीतेंगे काल क्रूर को :
उसका चाकू हम तोड़ेंगे :
और जियेंगे :
सुख-दुख दोनों

साथ पियेंगे :

काल क्रूर से नहीं डरेंगे—
नहीं डरेंगे—

नहीं डरेंगे।

28.3.1973

214 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

अपनी बात

देखे दाँव
पैंतरे झेले :
खायी मार
मोर के मुँह की,
आँख न फूटी
मत्त मयंदी
पदाघात से
कमर न टूटी:
नरम जीभ से
हमने
दिग्गज-पर्वत
ठेले।

मई, 1973

चढ़ी जवानी

हे मेरी तुम!
चढ़ी जवानी—
बरसा पानी;
झूमी-झूली डाल—
काल के खड़े पेड़ पर
डाले झूला।
हे मेरी तुम!
ऊपर बाग—हर्ष का फूला;
नीचे
यम का पड़ा बसूला।

29.7.1973

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 215

सब चलता है लोकतंत्र में

हे मेरी तुम!
सब चलता है
लोकतन्त्र में,
चाकू-जूता-मुक्का-मूसल
और बहाना।

हे मेरी तुम!
भूल-भटक कर भ्रम फैलाये,
गलत दिशा में
दौड़ रहा है बुरा जमाना।

हे मेरी तुम!
खेल-खेल में खेल न जीते,
जीवन के दिन रीते बीते,
हारे बाजी लगातार हम,
अपनी गोट नहीं पक पाई,
मात मुहम्बत ने भी खाई।

हे मेरी तुम!
आओ बैठो इसी रेत पर,
हमने-तुमने जिस पर चलकर
उमर गाँवाई।

30.7.1973

देश की राजनीति

न आग है,
न पानी
देश की राजनीति

216 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

बिना आग-पानी के
खिचड़ी पकाती है
जनता हवा खाती है।

जुलाई, 1973

मँहगाई

जमीन से उठकर
ऊपर,
अंतरिक्ष में
चली गयीं कीमतें,
आकाश गंगा में
डुबकी लगाने,
पुण्य कमाने।
नजर से बाहर,
नायाब हो गयी वस्तुएँ
पाताल में धँसकर।
शाह हो गये चोर।

शहर में चालू है
चोर बाजारी,
फरेब-मक्कारी।

चोर के घर
नाचता है मोर,
मुग्ध है लक्ष्मी आत्म-विभोर।

असमर्थ है राजतंत्र
मँहगाई घटाने में।

जुलाई, 1973

महोबे की बोली

दूध दूध की यह बोली है
दूध-दूध के
स्वर व्यंजन है,
दूध-दूध की इस बोली में
नहा गया मैं
दूध-दूध हो गया दूध में,

फूल-फूल की यह बोली है
पंखुरियों की
रंग बिरंगे रूप रंग की
अमराई है
इस बोली की अमराई में
समा गया मैं
बिला गया मैं
फूल-फूल हो गया फूल में।

अगस्त, 1973

हम और लोग

हम—
बड़े नहीं—
फिर भी बड़े हैं
इसलिए कि
लोग जहाँ गिर पड़े हैं
हम वहाँ तने खड़े हैं,
द्वन्द्व की
लड़ाई भी
साहस से लड़े हैं;
न दुख से डरे,
न सुख से मरे हैं;

काल की मार में
जहाँ दूसरे झरे हैं,
हम वहाँ अब भी
हरे-के-हरे हैं।

नवम्बर, 1974

धूप की तलवार

खिले हैं
खुले दिल के
कमल के फूल,
आकाश का
विश्वाधार
पंखुरियों पर उठायें,
हवा का
हिलता है दुकूल,
न कोई टंटा है—
न कोई शूल,
नदी में
चमकती है
धूप की धार-धरी
तलवार।

मई, 1975

दिन, नदी और आदमी

दिन ने नदी को—
नदी ने दिन को—
प्यार किया।

दोनों ने
एक दूसरे को जिया,
एक दूसरे को जी भर कर पिया।

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 219

आदमी ने
दिन को काटा
नदी के पानी को बाँटा।

नवम्बर, 1975

संत कवीश्वर तिरुवल्लुवार के प्रति

हे कवि पुंगव।
आज तुम्हारे स्मारक का उद्घाटन होगा,
वायुयान से उड़कर आये
'भारत-भाग्य-विधाता' द्वारा
वह नत—मस्तक होंगे उन्नत गिरि के आगे—
'वाणी बोधमयं नित्यम' के आगे
'सिद्ध यशस्वी काव्य-व्रती' के आगे।
काल-जयी
शब्दार्थ निरूपित - पूर्णकाय-
आसनस्थ-महीधर-
महारथी के पाद-पद्म पर,
पूरे भारत की श्रद्धा का
माल्यार्पण वह आज करेंगे,
प्रांत-प्रांत की जन-जन वाणी से अभिनंदन समुद करेंगे।

आज बड़े गौरव का दिन है 'तमिलनाडु' का,
'तमिलनाडु' के माध्यम से
पूरे भारत का,
भारत के माध्यम से पूरे जन-जीवन का
जिसको तुमने
बड़े चाव से—बड़े प्यार से—
वर विवेक से साधा
मनोयोग से तिरुक्कुरल¹ की पंक्ति पंक्ति में बाँधा

1. दोहे की तरह का छंद

यह माल्यार्पण - यह अभिनन्दन याद रहेगा,
 समय-पटल पर लिखा रहेगा,
 क्योंकि देश की राजनीति के राज-पुरुष ने
 -काव्य - पुरुष के प्रति कृतज्ञ हो—
 साहित्यिक सांस्कृतिक चेतना की वरीयता स्वीकारी है,
 'तिरुक्कुरल' की भाव-भूमि पर
 मानव को खोजा-पाया है,
 राजनीति के कंधों पर कवि को आसीन किया है।
 मुझे ज्ञात है : कवि श्री तुमको
 सत्तर लाखी 'कोट्टम'¹ की दरकार नहीं है
 क्योंकि तुम्हारे छंद-छंद के एक-एक 'कोट्टम' की कीमत
 ऐसे नये बने 'कोट्टम' की लागत से भी
 लाखों लाख गुना ज्यादा है।
 'यह कोट्टम' तो नश्वरता की पार्थिव कृति है
 और तुम्हारी कृति के 'कोट्टम'
 अमर अपार्थिव दिग्विजयी हैं।

मैंने पार्थिव 'कोट्टम' देखा
 इसे देखकर मैंने तुमको सचमुच देखा,
 तुम्हें देखकर
 अमर तुम्हारी कविता के 'कोट्टम' भी देखे।
 मैंने पाया
 राशि राशि मणियों में भूषित काव्य-मूर्तियाँ
 'कुरल-कुरल'² में मुस्काती हैं
 हृदय-हृदय के संवेदन स्वर
 -मानव-जीवन के प्रति अर्पित-
 पर विवेक की संतोषी साँसें भरते हैं,

1. मंदिर
2. दोहे जैसे छंद

धर्म अर्थ के और काम के वरदानी चित्रण करते हैं।

युग बीता
 पर एक बूँद से भी तो अब तक हुआ न रीता
 महावेग से पूर्ण प्रवाहित 'तिरुक्कुरल' का सागर।
 नये बने 'कोट्टम' के भीतर
 अब यह सागर पहुँच गया है,

मैंने देखे :
 जग-जीवन में अब लहराते दो-दो सागर,
 'तमिलनाडु' को सिंचित करते दो-दो सागर,
 खारे सागर को शरमाते दो-दो सागर,
 मैं उत्तर भारत का वासी
 दक्षिण भारत में आया तो धन्य हो गया,
 'तिरुक्कुरल' के रस-सागर की लहर हो गया।

संत कवीश्वर।
 मैं तुमको अर्पित करता हूँ
 हिन्दी की यह अपनी कविता।

अप्रैल, 1976

अहंखोजी

मैंने
 उसे देखा है
 अपनी इन आँखों से,
 धूल के बवंडर में उड़ते-खोजते अपनी दुनिया,
 दूर-बहुत दूर हमारी दुनिया से—
 दूरातिदूर शून्य की दुनिया में विला¹ जाते।
 मैंने
 उसे देखा है

1. विला = विलय होना = गायब होना

अपनी इन आँखों से,
काल के तलातल में डूबते-उतराते—
खोजते अपना अहं,
दूर-बहुत दूर समष्टि के अहं से—
दूरतिदूर पाताल के अहं में समा जाते।

मई, 1976

कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह

कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह
पंचम स्वर में चढ़कर बोला सन्नाटे में नेह
अधजागी पलकें अकुलायीं
खुले नैन के द्वार
मंत्र-मारती-हृदय-देश में-
पहुँची पिकी पुकार
कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह ॥पंचम....॥

छू मंतर हो गया
सिसकता सरपीला संदेह
एक साथ मधु पर्व मनाते
गेही और अगेह
कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह ॥पंचम...॥

ताप तीर-तलवार चलाता
बीत गया है जेठ
कोकिलकंठी बना चलाता
जीत गया है जेठ
कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह ॥पंचम...॥

आज अयाचित मिला मनुज को
मनचाहा संगीत
प्रकृति पुरुष को, जिला रही है

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 223

पिला रही है प्रीत
कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह ॥ पंचम....॥

5.6.1976

और का, और मेरा दिन

दिन है किसी और का
सोने का हिरन :
मेरा है
भैंस की खाल का
मेरा दिन।
यही कहता है,
वृद्ध रामदहिन,
यही कहती है
उसकी घरैतिन
जब से
चल बसा
उसका लाडला

जुलाई, 1976

पिता मेरु और बेटी सरिता

हे मेरी तुम!
पिता - मेरु को
काट रही है
पिता-मेरु की
बेटी सरिता;
यह क्रम कभी न टूटा,
प्यार पिता का
कभी न छूटा।

18.8.1976

224 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

लोगों का जीवन

छाया मेघों की,
मयूर का नाच,
सिर के ऊपर उड़ते कौए,
पाँव तले की घास,
रेत काटती
नदी नवेली,
बातूनी
बातास बहकती,
कठघोड़े पर चढ़े समय की
बिना चले की चाल,
ऐसा जीवन
जीता है मैदान।
ऐसा ही
जीवन जीते हैं
आज देश के लोग।

सितम्बर, 1976

फिर से मुक्त हुआ जन-मानस

फिर से
मुक्त हुआ
जन-मानस;
फिर से
लाल अनार
हृदय में फूला;
फिर से
समय-सिंधु लहराया—
उमँडा;
अब जब

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 225

ढील मिली जनता को
दुर्दम अंकुश के हटने से।

फिर से
हिमवानी
ओठों पर
बिजली दौड़ी;
फिर से
वाणी और विचार
प्रवाहित हुए
पवन-से
और नदी से।

फिर से
उमँड़ी
मोद निनादित
तरुण तरंगें।

दिग्बधुओं ने
अपने घूँघट खोले;
फिर से
धूप धरा पर
उतरी

और
भरत-नाट्यम् नाची;
फिर से
पाया प्रकृति-पुरुष ने
लोकतंत्र का
जीवन-दर्शन।

3.2.1977

226 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

वसंत में

सिर से पैर तक
फूल-फूल हो गयी उसकी देह,
नाचते-नाचते हवा का
वसंती नाच।

हर्ष का ढिंढोरा
पीटते-पीटते, हरहराते रहे
काल के कगार पर खड़े पेड़
तरंगित,
उफनाती-गाती रही
धूप में धुपायी नदी
काव्यातुर भाव से।

जून, 1977

प्यार का प्रवाल द्वीप

तुम,
बस तुम,
जीती हो अपना लावण्य
अपने मांसल-द्वीप में
अभिषेकित किये हैं जिसे
दिन और रात के
दो महासिंधु
एक, उल्लास और प्रकाश से :
दूसरा, स्वप्न
और स्वप्न के
प्रेमालाप से।
तुम बस तुम हो
जैसे उन्हीं का अपना
प्यार का प्रवाल द्वीप।

जून, 1977

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 227

देश में लगी आग को

देश में लगी आग को
लफ्फाजी नेता
शब्दों से बुझाते हैं;
वाग्धारा से
ऊसर को उर्वर
और देश को
आत्म-निर्भर बनाते हैं;
लोकतंत्र का शासन
भाषण-तंत्र से
चलाते हैं।

9.12.1977

सूरज जनमा

सूरज जनमा,
सुबह हुई।

सूरज डूबा,
शाम हुई।

रात,
अँधेरे की
संगत में,
बुरी तरह
बदनाम हुई।

14.1.1978

228 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

आयोग

चलनी चालते हैं छोटे-बड़े आयोग।
छेद-छेद से झराझर झरता है
तथाकथित यशस्वियों का भ्रष्टाचार
आतताइयों का अत्याचार।
काँच-काँच के करकते टुकड़ों का
लग गया है भारी-भरकम अम्बार।

देखता है मेरा देश
दाँत तले उँगली दबाये—
आश्चर्य-चकित आँखें उधारे;
दर्द दर्द से कराहता-खाँसता :
बर्फ की टोपी सिर पर लगाये
पाँव में पहले सागर का जूता :
पेट पीठ में
सरकार के पोस्टर चिपकाये।

20.2.1978

अंडे पर अंडा

अंडे पर अंडा
और अंडे पर अंडा
देती है
जैसे मुर्गी
रोज-ब-रोज
सरकार भी देती है इसी तरह
आयोग पर आयोग
और आयोग पर आयोग
रोज-ब-रोज

26.2.1978

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 229

मारुत मन के बहके

पाटल
कपोल के अरुणोदय के,
मुखर-मौन की
पंखुरियों को खोले,
तन्वी-तन की
तरुणार्ई के
मधु-पराग से पूरित,
गंध-गंध हो महकें,
मदन-मोद से
नर्तन में पद
मारुत-मन के बहके।¹

7.6.1978

लड़ गये

लड़ गये
बड़े-बूढ़े जवान गिरगिटान,
दूसरी क्रांति के प्रवर्तक कापालिक महान,
कुर्सी के लिए
कुर्सियों के दण्डकारण्य में।

खुल गई राजघाट में
पुश्त-दरपुश्त की पंडा-बही;
चाव से पढ़ने लगे लोग
पिता-पुत्र के
गलत-सही साबिक और हाल के
कागजी इन्दरजाल।

1. 'अमेरिकन सिनोमेटोग्राफर' के दिसम्बर', 77 के अंक के आवरण-पृष्ठ की
बैले-नर्तकी को देख कर। मद्रास।

ढमाढम बजते हैं गाल के बड़े बोल
और ढोंग के ढोल।

सत्य सोता है
अराल केशी अवनी की बाहों में;
असत्य नाचता है
मयूर-नाच इन्द्रधनुष के साथ,
मुग्ध देखती है
भ्रम में भूली दुनिया।

कीचड़ में सनी राजपथ में पिटी पड़ी हैं
राज-रथ से
नाजुक, नौजवान, दिशा-दृष्टि-हीन
सुखियाँ।

अलभ्य हो गई
आदमी को आदमी की पहचान।

मासूम जिंदगी
छोटी हो गई सिकुड़ते-सिकुड़ते—
छिंगुली की तरह,

मौत के माहौल में—
पेट-पीठ मार व्यापार के मखौल में
खचाखच भरे हैं
बरजोर बेईमानियों के तहखाने;
खाली पड़े हैं यथास्थान
खपरैल छाये-बरसों पुराने
ईमान के हाथों उठाये मकान।

नायाब बजाते हैं
नरक का सितार नेकनाम नारद।

देवता और देवराज
जागती जमीन की तपस्या से
चौंकते-थरते हैं
आज भी-अब भी।,
प्रान और पानी का पोलो खेलते हैं
कुशल-क्षेम से,
दाँव-पेंच के पचड़े में पड़े
राजघाट की राजनीति के 'नुमाइन्दे';
डूबते आदमी को डूबते नहीं देखते,
हर्ष के हौसले में मस्त
फर्ज की दुनिया से आँख चुराये।

टूटती,
टकराती,
पछाड़ खाती झनझनाती हैं
उठी लहरें;
समर जीतने का स्वप्न देखते-देखते
बात-की-बात में
हार-हार जाती हैं।

धैर्य के तट पर टिके
आराम फरमाते हैं धुरंधरी जहाज;
न पिंड छोड़ते हैं—
न मुँह मोड़ते हैं;
खड़े-खड़े वहीं कोयला खाते—
तेल पीते,
मालामाल हुए मौज मारते हैं,
ऐश्वर्य की चिमनी से
भीतरी धुआँ बाहर उछालते हैं।

आकाश पीता है
सामने खड़े कारखाने का
चिमनी-छाप सिगार।

धूप का धोखा
शहर के सिर पर,
छाता ताने तना है।

आत्मलीन हैं दोनों,
बलीन बादल और बिजली
समाधिस्थ शिव की
उपासना में विसर्जित,
चारों ओर चालू है
यंत्र और तंत्र का नियंत्रण।

चेतन चित्त
और चरित्र के चतुरानन,
भूँजी भाँग खाते
और पहाड़ फोड़ कर आया
पानी पीते हैं,
मक्कर की दुनिया में
टक्कर खाये-बिना जीते हैं।

जब भी—जहाँ भी, कोई परदा
जरा-सा ऊपर उठा,
आदमियों के बजाय—
शैतानों का समूह वहाँ संसार को
लूटते-खसोटते दिखा।

समाज को जकड़े पड़े हैं
जबरजंग—

भभूतिया भूसुरों के चिमटे;
त्राहिमाम्-त्राहिमाम् करता है आदमी
मुक्ति पाने के लिए।

खड़े हैं
बड़ी-बड़ी परिकल्पनाओं के
बड़े-बड़े ऊँचे मूँगिया पहाड़;
पहाड़ों से

बहती चली आती हैं
झमाझम पतित-पावन नदियाँ
अलौकिक उन्माद का
प्रवचन करतीं।

कीर्तन करते हैं
हम और हमारे वंशज,
देवी-देवताओं को
समर्पित किये तन और मन।

न आदमी बचता है—
न मसान बुझता है।

खनाखन बजाते हैं मन के मजीरे,
समय की साख को झनझनाते।

न देह को गरीबी छोड़ती है;
न ज्ञान की आँख को
अमीरी खोलती है।

हड़ताल में लगे लोग
सूखे हाड़ बजाते हैं

फिलहाल
खून के धारदार आँसू बहाते हैं।
बाजार में

सिर कटाये बिकते हैं
नमक-मिर्च और नींबू लगे खीरे।
पाँव के ठप्पे
मत-पत्र पर लगाये
गाँव के गरियार गोरू
बरियार बैताल को पीठ पर चढ़ाये
निर्द्वन्द्व पगुराते हैं;
दूसरों के सताये,
दूसरों के लिये मरे जाते हैं।

शहर की शोभा
शरीफजादे लूटते हैं,
देखते-देखते मानवीय मर्यादाओं को
पाँवों के तले खूँदते हैं।
जब भी—जहाँ भी
कोई आग जली—
जमीन से जरा ऊपर लपक उठी,
हमने और हमारे हमदर्दों ने—
लपक कर,
आग और लपक को
पाँव से कुचला
और दिवंगत बनाया।

यही है
इस देश का हाल,
लोकतंत्र में जिसे, मैंने,
सब जगह पिटते—
तड़पते-कराहते—
खून-खून होते देखा।

13.8.1978

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 235

पानी

पानी
पड़ा भँवर में नाचे;
नाव किनारे थर-थर काँपे;
चिड़िया पार गई;
नदिया हार गई।

पाथर पड़े
अगिन' दहकाये,
संज्ञा-शून्य
समाधि लगाये;
दुपहर मार गई,
एँठ उतार गई।

26.8.1978

न घास है

न घास है—
न घास की सुवास;
खूँटे से बँधा घोड़ा
अस्तबल में हिनहिनाता है;
नथुने फुलाये—
दाँत निपोर—
ठोकर² जमीन को ठकठकाता है;
काल की काया को
चोट-पर-चोट पहुँचाता है;
मुक्त होने और
दिग्विजय पर जाने के लिए
अकुलाता है;

1. 'रामविलास शर्मा जी के पत्र में 'देह' है।

2. 'ठोकर' की जगह या तो 'कठोर' होना चाहिए या फिर 'ठोकर से'।

236 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

खूँटे को उखाड़ फेंकने के लिए
शक्ति और साहस के झटके
बारम्बार लगाता है।

1.9.1978

हम मिलते हैं बिना मिले ही

हे मेरी तुम!
हम मिलते हैं
बिना मिले ही
मिलने के एहसास में
जैसे दुख के भीतर
सुख की दबी याद में।

हे मेरी तुम!
हम जीते हैं
बिना जिये ही
जीने के एहसास में
जैसे फल के भीतर
फल के पके स्वाद में।

28.6.1979

आयें दिन

आयें दिन
जैसे भी आयें,
लायें दुख जैसे भी लायें।

वे सब मेरे पाहुन होंगे,
मैं उनका सत्कार करूँगा,
नवाचार से

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 237

उनका-अपना
लोकमुखी उद्धार करूँगा।

6.7.1979

भीतर की लौ साधे

हे मेरी तुम!
हम दोनों अब भोग रहे हैं
दीन देह को;
प्यार-प्यार से बाँधे;
ढले-ढले
दिल से ढकेलते
दिन का ठेला;
और रात को
काट रहे हैं
भीतर की लौ साधे।

20.7.1979

माली कैंची लिए

हे मेरी तुम!
माली कैंची लिये
कतरता है गुलाब की डालें,
डाले नहीं—
कतरता है जैसे मेरी ही बाहें;
मैं भरता हूँ आहें।
लेकिन, कटते-कटते, चुप-चुप
कहते मुझसे पेड़ :
वह निश्चय ही कल फूलेंगे—
अच्छे-अच्छे देंगे

238 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

लाल गुलाब;
तन महकेगा—
मन महकेगा—
महकेगा घरबार—
हम चूमेंगे पंखुरियों को—
पहनेंगे गलहार।

12.9.1979

दहका खड़ा है सेमल का पुरनिया पेड़

हे मेरी तुम!
दहका खड़ा है
सेमल का पुरनिया पेड़
टपाटप टपकाता जमीन पर
लाल-लाल फूली आग,
कचहरी के सामने
क्रांति का माहौल बनाये;
राजनीति से
ताल-मेल बैठाये।

18.3.1980

पछाड़ते-पछाड़ते

पछाड़ते-पछाड़ते
सफेद हो गई जिंदगी
जैसे कफन।
मौत का मसान
अब मुझे बुलाता है
नदी किनारे।

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 239

फूला खड़ा है
इस उम्र में, अब भी,
राह रोके
प्यार का पुष्पित पौधा।
न जाऊँगा अब
मसान जगाने,
जिऊँगा जिंदगी अभी और अभी और
जानदार पौधे के तले
रंग-रूप को लगाये गले।

10.5.1980

मुझे न मारो मान-पान से

मुझे न मारो
मान-पान से,
माल्यार्पण से
यशोगान से,
मिट्टी के घर से
निकाल कर
धरती से ऊपर उछाल कर।

मुझे न तोड़ो
कमल-नाल से,
तुहिन-माल से,
अश्रु-माल से,
लड़ लूँगा मैं
कुपित काल से,
अह-रह जलती
नरक-ज्वाल से।

240 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

मेरे साथी।
बंधु—घराती!
मेरी कविता
मुझे बताती :
खड़ी रहे लौ—
बुझे न बाती—
दण्ड-दमन से फटे न छाती

5.7.1980

वाक्य पूरा कर रहा हूँ

हे मेरी तुम!
जी रहा हूँ

जिन्दगी अपनी
और तुम्हारी;
एक साथ,
हाथ में लिये हाथ।

एक 'मैं' में
द्वैत से अद्वैत होकर,
वाक्य पूरा कर रहा हूँ,
क्रिया-कर्ता-कर्म से
भव भर रहा हूँ।

9.8.1980

गठरी-चोरों की दुनिया में

हे मेरी तुम!
'गठरी-चोरों' की दुनिया में
मैंने गठरी नहीं चुरायी;

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 241

इसीलिए कंगाल हूँ;

भुक्खड़ शाहंशाह हूँ;
और तुम्हारा यार हूँ;
तुमसे पाता प्यार हूँ।

1.9.1980

मैं समय की धार में धँस कर खड़ा हूँ

मैं—
समय की
धार में
धँस कर खड़ा हूँ।

मैं
छपाछप
छापते
छल से
लड़ा हूँ
क्योंकि मैं
सत् से सधा हूँ—
जी रहा हूँ;
टूटने वाला नहीं
कच्चा घड़ा हूँ।

3.9.1980

फूलों की बौछार

हे मेरी तुम!
फूलों की बौछार से—
रंग-बिरंगे प्यार से—
हार गया करतार कलाकर,

242 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

अपने ही दरबार में,
अपना मुकुट उतार के
मुक्त हुआ भव -भार से।

23.9.1980

जीने का दुख

जीने का दुख
न जीने के सुख से बेहतर है
इसलिए कि
दुख में तपा आदमी
आदमी-आदमी के लिए तड़पता है
सुख से सजा आदमी
आदमी-आदमी के लिए
आदमी नहीं रहता है।

20.10.1980

गुलाब

झरने
झरने को
गुलाब है झुका हुआ,
केवल
अनुमोदन पाने को
रुका हुआ।

4.6.1981

इनको घमंड है

इनको घमंड है
पहाड़ खोद कर

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 243

चुहिया निकाल लाने का :
रामायनी भूमि पर
भटकटैया उगाने का :
करछुल भर लिख कर ही
कालिदास होने का—
करछुल भर खाने पर
फौरन बिक जाने का
इसीलिए अक्षम हैं
अच्छा लिख पाने में,
कविता को कंठ से लगाने में।

18.8.1981

खड़ा पहाड़ चढ़ा मैं

खड़ा पहाड़ चढ़ा मैं
अपने बल पर।
ऊपर पहुँचा
मैं नीचे से चल कर।
पकड़ी ऊँचाई तो आँख उठाई,
कठिनाई अब
नहीं रही कठिनाई।

देखा :
छल-छल पानी
नीचे जाता,
ऊँचाई पर टिका नहीं रह पाता।

जड़ता
झरती है
ऐसे ही नीचे,
चेतन का पौरुष
जब उठता ऊँचे।

10.11.1981

244 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

मैंने आँख लड़ाई गगन विराजे राजे रवि से

मैंने आँख लड़ाई
गगन विराजे राजे रवि से, शौर्य में;
धरती की ममता के बल पर।
मैंने ऐसी क्षमता पाई।

मैंने आँख लड़ाई
शेषनाग से, अंधकार के द्रोह में;
जीवन की प्रभुता के बल पर
मैंने ऐसी दृढ़ता पाई।

मैंने आँख लड़ाई
महाकाल से, मृत्युंजय के मोद में;
अजर अमर कविता के बल पर
मैंने ऐसी विभुता पाई।

12.11.1981

फटा अँधेरा फूहड़ फैला

फटा अँधेरा फूहड़ फैला,
फटी
काल की झिल्ली।
धूमधाम से
निकला सूरज,
चेतन—
प्रतिभावान—
विजेता।

15.11.1981

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 245

भूखोद्धार का मंत्रोच्चार

आग पर चढ़ी 'बटुई',
खुदुर-खुद
खुदबुद करती है
भाफ है
कि ठेलती-ठालती
कटोरी को
बारम्बार उठाती बैठाती है
बटुई के मुँह पर
जलती-जागती
लकड़ियों की धधक में
चूल्हे पर चढ़ा चावल चुरता है
धुँआई बिटिया
अँसुआई बैठी
कोठे में, देखती है
पेट के पालने का
हो रहा आतुर उपचार :
सुनती हुई
भूखोद्धार का मंत्रोच्चार!

26.11.1981

अल्हड़ गिलहरी

नीम के पेड़ पर
चढ़ी बैठी
आज
अपना जन्म-दिन
मनाती है
सखी-सहेलियों के साथ
अल्हड़ गिलहरी
जैसे कोई

246 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

राजकुमारी
राजमहल के अंतरंग में
मनाये अपना जन्म-दिन
राज परिवार के साथ

7.2.1982

ढूँढ़ते लोग कचहरी में ढूँढ़ते हैं मुझे

ढूँढ़ते लोग

कचहरी में ढूँढ़ते हैं मुझे!
जिरह-बहस करते में वहीं ढूँढ़ते हैं मुझे!
हार-जीत के हुए फैसलों में ढूँढ़ते हैं मुझे!

ढूँढ़ते-ढूँढ़ते, मुझे नहीं,
अपने हितों को ढूँढ़ते हैं लोग;
हितों के यज्ञ में हविष्य हो रहे मुझको नहीं—
मेरे बेलौस आदमी को नहीं—
दाम के अपने गुलाम को ढूँढ़ते हैं,
न पा कर उसे, छोड़ कर चल देते हैं मुझे;
और मैं,
हविष्य हो कर भी उन्हीं के लिए जीता हूँ—
उन्हें आदमी बनाने के लिए—

सत्य-संज्ञान की रचनाएँ सुनाने के लिए—
उनकी चेतना में मानवीय बोध की गरिमा जगाने के लिए—
उनको विवेकी बनाने के लिए।
ढूँढ़ते लोग नहीं ढूँढ़ पाते मुझे,
मैंने ही उन्हें ढूँढ़ा और पाया—
और उन्हीं के लिए
अपने को हविष्य बनाया।

21.4.1982

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 247

गुलमोहर

धूप में खड़ा

हँसता है फूला गुलमोहर,

फूल हैं

कि पेड़ पर बैठी पंख खोले
झुंड-की-झुंड तितलियाँ हैं
रसराज की रंगीन अभिव्यक्तियाँ हैं।

भंग हो गई

महाराज सूर्य की
न हँसने की अज्ञापित निषेधाज्ञा।

झकाझोर

झूमता झूलता है
मैदान का बेटा गुलमोहर,
हर्ष की हिलोर में
हवा का हिंडोला।

डाल से-डाल पर

चहकती फुदकती हैं

चुनमुन चिड़ियाएँ।

चिक-चिक करतीं

बहुत बतियाती हैं
गिलहरियाँ,

स्वर्ग से जैसे उतर आईं

पेड़ पर अप्सरियाँ।

मुग्ध है

मई के महीने का
धूल धूसरित मैदान

248 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

लौट आई देख कर
गुलमोहर में जीवंत जवानी।

6.5.1982

मेरे मन की नदी

मेरे मन की नदी
सदी के वृहत् सूर्य से चमक रही है
मेरे पौरुष का यह पानी दृढ़ पहाड़ से टकराता है
टूट-टूट जाता है फिर भी बूँद-बूँद से घहराता है
नृत्य-नाद की नटी तरंगों के छन्दों की
जय का ज्वार भरे गाती है कलहंसों से।

7.9.1982

मैं ही गुरु—मैं ही चेला हूँ

बियाबान में नहीं
शहर में रहता हूँ,
जहाँ आदमी को
आदमी खाये जाता है
शान-शौकत का भूगोल बनाने में
पूँजी का पुंजीभूत आतंक जमाने में,
तभी तो अकेला हूँ,
मैं ही गुरु
और मैं ही चेला हूँ।

3.4.1983

देश के भीतर

देश के भीतर दहन और दाह है,
अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर
वाह-वाह है!

7.5.1984

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 249

बूढ़ा पेड़ बयार बसंती

बूढ़ा पेड़,
बयार बसंती,
मिले मगन मन-
पतझर के उपरांत :
कुहकी कोयल,
देख देख दोनों का प्यार
नैसर्गिक सम्भ्रान्त :
पुलक उठा संसार।

21.5.1984

जग सोया जागी गंधाली

जग सोया
जागी गंधाली
प्राणसार प्रज्ञा पतिपाली,
मूलाकर्षित
तत्त्वज्ञान की—
प्रस्फुट प्रमुद विधान ध्यान की,
मुक्त मानसी तरु अम्लान की,
आत्म-बोध-विद् वाली
द्रव्य-द्रवण की मंदित धारा,
प्रवहमान हो परम उदारा,
गंधवान करती भवसारा,
मौन मोहिनी चिद्वाली।

22.5.1984

250 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

सूर्य नहीं डूबता साहब!

सूर्य नहीं डूबता साहब!
घूमती दुनिया
स्वयं सूर्य से मुँह मोड़ लेती है :
उजाला उतारकर
अँधेरा लपेट लेती है :
तभी तो आदमी
यथास्थिति में पड़े-पड़े
अंधे हुए हैं :
सुबह से पहले
अंधेर नगरी में
खोये हुए हैं
सूर्य नहीं
आदमी डूबता है साहब।

27.7.1984

आये हो तो

आये हो तो
उमड़-धुमड़ कर,
नीचे आकर,
और निकट से
इन धनहा खेतों के ऊपर,
अनुकम्पा का झला मार कर,
जी उँडेल कर,
झम-झम-झम-झम बरसो;
गिरे दौंगरा गद-गद-गद-गद
लिये हौसला,
झड़ी न टूटे,
भरे खेत, उफनायें, लहरें,

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 251

हरसें, हहरें;
रोपे धान बढ़ें,
बल पायें,
पौरुष पायें;
हरी-भरी खेती हो जाये,
सुख सरसाये।

1.8.1984

टिके टेक पर स्वाँग सँवारे

टिके टेक पर, स्वाँग सँवारे
आग-पीछा बिना बिचारे
जीते हैं जो अपना चिंतन
मारे मौलिक बौद्धिक आसन,

वे
नितांत एकाकी प्राणी
अपनी वाणी के वरदानी
व्यक्तिवाद के प्रस्तोता हैं
स्रष्टा है—
अपने श्रोता हैं,

इनसे
कभी न जनहित होगा
होगा तो बस अनहित होगा,
इनका
अपना घाट-किनारा
प्यारा है, दुनिया से न्यारा,
इनको मिली न शिव की काशी,
मिली इन्हें भ्रम-भूमि प्रवासी
ये हैं परम अलौकिक भोगी
इनसे हारे लौकिक योगी।

17.5.85

252 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

शब्दों का अतिक्रमण करो

शब्दों का अतिक्रमण करो

कहे के बाद जो अनकहा है उसे वरो

यह कुछ और नहीं—

आयातित कमजोरी है—

कल्पना कोरी है

इसके चक्कर में जो पड़ा

महान होने के बजाय—

जमीन में जिन्दा गड़ा।

28.5.1985

तन टूटा मन टूटा लेकिन

तन टूटा,

मन टूटा,

लेकिन आन न टूटी,

चाल-चलन की

पहले वाली बान न छूटी,

बूढ़े कंधों पर

साधे हूँ सिर का बोझा,

नहीं चाहिए

मदद तुम्हारी औघड़ ओझा।

28.5.1985

मेरी कविताएँ गायेगी जनता सस्वर

नहीं सहारा रहा

धरम का और करम का;

एक सहारा है

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 253

बस मुझको नेक कलम का,

जरा-मरण से हार न सकते

मेरे अक्षर

मेरी कविताएँ गायेगी

जनता सस्वर।

25.5.1985

छोड़ो परम अलौकिक छोड़ो

जी कहता है

इस दुनिया को सत्य समझकर

जी भर इसे जियो,

इसके नखरे—

इसकी रूठन—

इसकी तेजी—

इसकी गर्मी—

इसकी धधकन—

इसकी तड़पन—

इसकी विमुखन?

असहनीय हों चाहे जितनी,

इसको परम उदार समझकर

जी भर इसे जियो,

इससे कभी न मुँह मोड़ो;

जोड़ो तो, बस, गहरा नाता इससे जोड़ो;

छोड़ो

परम अलौकिक छोड़ो,

लेकिन इसको कभी न छोड़ो,

जी कहता है

इसे प्यार दो प्रिया समझकर

254 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

प्यार प्यार से इसे जियो,
जी भर इसे जियो।

10.6.1985

दुख ने मुझको जब जब तोड़ा

दुख ने मुझको
जब-जब तोड़ा,
मैंने
अपने टूटेपन को
कविता की ममता से जोड़ा,

जहाँ गिरा मैं,
कविताओं ने मुझे उठाया,
हम दोनों ने
वहाँ प्रात का सूर्य उगाया।

16.6.1985

मौन पड़ी हैं प्रिया प्रियम्बद

मौन पड़ी हैं प्रिया प्रियम्बद,
बिना बोल का मुँह खोले :
प्यार पुलक की आँखें मीचे,
दुख में डूबी साँसें लेती।

पास खड़ा मैं
महाकाल को
रोक रहा हूँ :
कविताओं का घेरा डाले
यहाँ न आये
उनको लेने :

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 255

जीवन की जय
प्रेम योगिनी पायें

25.12.1985

खम्भ फाड़कर जीना है

जितने दिन जीना है
अपने इस जीने को,
खम्भ फाड़कर जीना है

देह ढले
या उठे उसाँसें,
इस जीने को
सौ-सौ मन से जीना है

खून गिरे
या चुए पसीना
इस जीने को
मौत मारकर जीना है

5.5.1986

मैं समय को साधता हूँ

मैं
समय को साधता हूँ
जिंदगी से बाँधता हूँ

मैं नयन में
सूर्य की आलोक आभा
आँजता हूँ

256 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

ब्याल जैसे काल को मैं
चेतना से
नाथता हूँ

काल की
मउहर बजाते,
लोक-लय में नाचता हूँ
द्वन्द्व में निर्वन्द्व रहकर
मैं निरन्तर जागता हूँ।

7.5.1989

आई माँ की याद

आई माँ की याद
और आँखें भर आयीं
उन्हें गये हो गये बहुत दिन, बरसों बीते!
होती तो वह जर्जर होती :
मुँह में दाँत न होते,
हाथ-पाँव सिर हिलते;
बिना सहारा बैठ न सकतीं,
सिकुड़ी सिमटी रहतीं
बुद-बुद करतीं
बोल न सकतीं;
अपनी बूढ़ी देह टोहतीं;
रो-रो पड़तीं;

इनके आँसू मुझे पोंछने पड़ते;
पाँव दबाता-दर्द मिटाता-
मैं समझाता, धैर्य बँधाता;
सिर पर मेरे हाथ फेरतीं;

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 257

मुझ बूढ़े को बूढ़ी अम्मा
गले लगातीं-
चूम-चूम कर मुझे प्यार से
बलि-बलि जातीं

आज याद में उन्हें जिलाये
उनकी पद-रज शीश चढ़ाये,
रोते-रोते
मैं हँसता हूँ
अपनी आयु भुलाये

19.5.1986

जाओ लेकिन आत्मगंध दे जाओ

जाओ
लेकिन आत्मगंध
दे जाओ,
जाते जाते फिर मुस्काओ,
कुंद-हास का
सुख दे जाओ

जाओ
लेकिन दृष्टि-दीप्ति
दे जाओ
जाते-जाते द्वैत मिटाओ,
प्रेम-लीन
अद्वैत बनाओ

जाओ
लेकिन व्याप्ति-बोध
दे जाओ,

258 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

जाते जाते मृत्यु विजेता
चुम्बन देकर
लेकर जाओ

25.5.1986

चिता जली तो मैंने देखा

चिता जली
तो मैंने देखा
दहन दाह में
कंचन वर्णी पंखुरियों का
कुबलय
प्रमुद खिला
रज को
राग पराग मिला

6.10.1986

चेतना मेरी जिलाये है तुम्हें

चेतना मेरी जिलाये है तुम्हें,
पास-तुम-बैठी हुई हो
मैं मगनमन देखता हूँ
केश में सेंदुर अभय है—
माँग में अरुणाभ टीका दमदमाता—
नाचता है
बड़ी आँखों में उजाला
आंतरिक आह्लाद से उत्फुल्ल—
राग-रंजित मंद मुसकाते अधर
जग जीतते हैं—
वक्ष में

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 259

धीरज धरा का गूँजता है—
अंक में आलोक
चिंता-मुक्त बैठा
प्रिय पवन से खेलता है—
क्षीण कटि है
आयु की अवशेष जैसी—
चल चुके पद देह को साथे हुए हैं

जय-विजय की
जिंदगी तुम जी रही हो
मौत तुमको देखती है भवें ताने,
क्षुब्ध मन से
हर न सकती अब तुम्हें
हारकर कुंठित कुपित है

मैं उसे ललकारता हूँ

रुक न पायी,
गयी, ओझल हो गयी
रह गयी
गाती तरंगित-
दिग्विजयिनी चेतना की काम्य कविता
तुम्हें मेरी प्रिय बनाये
प्यार से मुझको रिझाये

मैं तुम्हारे साथ जीवन जी रहा हूँ
शक्ति से
सामर्थ्य से
आनंद से

26.10.1986

260 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

ऊटी

नीलगिरी पर्वत प्रदेश के
मोद मंच की
प्रकृति-पुरस्कृत प्रमदा ऊटी
मैंने देखा
मेरे मन में उसी उसी का वास हो गया
उसी-उसी का मेरा इंद्रिय-बोध हो गया
अब पाया मैंने अनपाया रूप विलास
पत्थर हँसते मिले कमल का हास

14.3.1989

लिली

सहज
सजीली
पंखुरियों की
लिली खिली

मौन बजी
दुन्दुभी देह की,
गूँज उठी
ध्वनियाँ सनेह की
प्राकृत
सत्ता के प्रहर्ष से
तृप्ति मिली

23.9.1989

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 261

उनको महल मकानी

उनको
महल मकानी
हमको छप्पर छानी

उनको
दाम-दुकानी
हमको कौड़ी कानी

सच है
यही कहानी
सबकी जानी-मानी

11.1.1980 से 11.6.1990

आदमी की चाँदमारी

अब
पहरुये

आदमी की
चाँदमारी
करते हैं,
सत्ता का कुण्ड
आदमियों के रक्त से भरते हैं।

2.9.1990

फूलों की होली

फूलों ने
होली

262 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

फूलों से खेली

लाल

गुलाबी

पीत-परागी

रंगों की रँगरेली पे ली

काम्य कपोली

कुंज किलोली

अंगों की अठखेली ठेली

मत्त मतंगी

मोद मृदंगी

प्राकृत कंठ कुलेली रेली

4.3.1991

कैद होकर भी नहीं मैं कैद हूँ

कैद होकर भी

नहीं मैं कैद हूँ

मुक्त हूँ मैं

चेतना की

पारदर्शी

सत्यदर्शी

चाँदनी में!

जी रहा हूँ

बज रहा हूँ

काव्य-कंठी

रागिनी में

प्राणपन से!

मर्त्य होकर भी

नहीं मैं मर्त्य हूँ।

8.2.1993

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 263

बागी घोड़ा

मैंने बागी घोड़ा देखा

उछल कूद करता दहलाता

जोरदार हड़कम्प मचाता

गुस्से की बिजली चमकाता

लपलप करती देह घुमाता

पट पट अगली टाँग पटकता

खट-खट पिछली टाँग पटकता

कड़ी सड़क की

कड़ी देह को

कुपित कुचलता

मुरछल जैसी पूँछ घुमाता

बड़ी-बड़ी क्रोधी आँखों से

आग उगलता

ऊपर नीचे के जबड़ों के

लम्बे पैने दाँत निपोरे

व्यंग्य भाव से, ऐसे हँसता

अट्टहास करता हो जैसे!

पशु होकर भी नहीं चाहता पशुवत् जीना,

मानववादी मुक्ति चाहता मानव से अब,

चकित चमत्कृत सब को करता!

मैंने बागी घोड़ा देखा

आज सबेरे चौराहे पर!

3.4.1993

आँख खुली, कर उठा

आँख खुली,

कर उठा

करेजा कड़का।

264 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

धूल झाड़ कर
सोता मानव
फड़का।

रात ढली
दिन हुआ
उजेला दौड़ा।
ताबड़तोड़
चला, बज उठा
हथौड़ा।

(तिथिहीन)

मैं गया हूँ डूब

मैं गया हूँ डूब
इतना डूब
तेरे बाहुओं में,
लोचनों में,
कुन्तलों में,
गिरि गया है डूब
जितना

सिंधु में सम्पूर्ण
सदियों पूर्व
और अब भी
मग्न है बेऊब

(तिथिहीन)

कल कमीज में बटन नहीं थे

हे मेरी तुम!
कल कमीज में बटन नहीं थे;
कुरता देखा तो आगे से फटा हुआ था;
धोती में कुछ दागे पड़े थे;
बक्स और अलमारी देखी,
नहीं एक भी मिला तौलिया,
मैंने एक रुमाल निकाला
वह था मैला;
सोपकेस में सोप नहीं था;
एक बूँद भी तेल नहीं था;
कंधा परसों टूट चुका था;
मेजपोश पर धूल जमी थी;
पुस्तक पर प्याला बैठा था;
कापी पर औंधा गिलास था;
पैसे की डिबिया में पैसा एक नहीं था;
आलू और अनाज खत्म था;
लालटेन अन्धी जलती थी;
हाय राम! मेरी आफत थी;
अब बोलो तुम अब आओगी,
घर सँवारने?

(तिथिहीन)

गाने के लिए गया

पक्षी जो
एक अभी-अभी उड़ा
और एक बोलती लकीर सा
अभी-अभी
नील व्योम-वक्ष में समा गया

गीत वहाँ
गाने के लिए गया
गायेगा
और लौट आयेगा
पक्षी जो
एक अभी-अभी उड़ा

(तिथिहीन)

उदास दिन

यह उदास दिन
पेंसन पाये चपरासी-सा
और जुए में हारे जन-सा
आपे में खोये गदहे-सा
मौन खड़ा है।
रवि रोता है
माँ से बिछुड़े हुए पुत्र-सा।
धूप पड़ी है
परित्यक्त पत्नी-सी कातर।
पाँव कटाये
हवा लढ़ी पर लेटे लेटे,
धीरे-धीरे
अस्पताल की ओर चली है,
सुबुक रही है।
एक टाँग पर खड़े
देह का भार उठाये,
ऊँचे-ऊँचे पेड़ पुरातन
वनस्थली में तप करते हैं
जटा बढ़ाये।

(तिथिहीन)

रात

दिन हिरन-सा चौकड़ी भरता चला,
धूप की चादर सिमटकर खो गयी,
खेत, घर, वन, गाँव का
दर्पण किसी ने तोड़ डाला,
शाम की सोना चिरैया
नीड़ में जा सो गयी,
पेड़-पौधे बुत गये जैसे दिये,
केन ने भी जाँघ अपनी ढाँक ली,
रात है यह रात - अंधी रात,
और कोई कुछ नहीं है बात

P

गद्य-खण्ड

पत्र

चिंतन

पुस्तक समीक्षा

प्रतिक्रिया

उपन्यास-अंश

यात्रा-वृत्तांत अंश

साक्षात्कार

पत्र

प्रिय शर्मा,

मैंने तो तुम्हें लम्बा पत्र लिखा और भेजा, तुमने एक छोटा-सा “टुटरू टू” पोस्टकार्ड ही मेरी खिदमत में पेश किया। मैं नहीं जानता कि सिवाय साहित्यिक जवान में तुम्हें गाली दूं और क्या कहूँ। कविताएँ नहीं अच्छी रहीं जाने भी दो। दोस्त खत को तो बसन्त की बहार से भर देते। लिखनेवाले साले लिखा ही करते हैं, पर बेचारों की दो ही तीन चीजें पूरी उतरती हैं। मैं तो कलम पकड़ना सीख रहा हूँ। मुझे तुम्हारे [विचार] बिल्कुल बुरे नहीं लगते। हाँ, इतना जरूर कहूँगा कि इन कविताओं को भी एक प्रकार के पाठक बेहद पसंद करते हैं। मैं उन्हीं का कवि हूँ—सबका कवि नहीं। दो रचनाएँ और भेजता हूँ चाहे जिसमें छाप लो, पर राय देना जरूर।

रही बात Free Verse की—यह मुझे मेरी जान ही मालूम होती है।¹ जो चाहता हूँ वही उन शब्दों में कह लेता हूँ—ऐसा नहीं होता कि लिखने कुछ बैटूँ और तुकांत के दांवपेंच में पड़कर कुछ दूसरा लिख डालूँ। मेरा ऐसा अनुभव है कि तुकांत में यही होता है। उसमें मेरी हत्या होती है। Free Verse में मैं पनपता हूँ। मुझे तुम्हारी सलाह तुकांत में लिखने की पसन्द है, पर ग्राह्य नहीं है। मैं उसे ग्रहण तो तब करूँ जब वह मुझे धोखा न दे। वह दगाबाज है। वह केदार को नहीं साहित्यिक मानव के पुरातन भावों को ही शब्दों के गर्भित अर्थ गौरव से प्रकट करना जानती है। मुझे Free Verse का माध्यम जानदार और जोरदार मिला है। यह पिटाघिसा नहीं है। न इसमें पंक्ति के अन्तिम भाग का एक-सा अवसान है। यहां प्रवाह है, रोज़ की बोली का सजीव रूप है। शर्मा मेरी राय मानो तो तुम मुझे तुकांत लिखने की यह सलाह न दो। मैं तुम्हारा केदार हूँ। वैसे तो मैं मानूँगा ही पर तनिक और सोच लो। लोग गधे होते हैं—हरामजादे होते हैं, उन्हें तो तुम जितने घूंट जैसा पानी पिलाओगे, वह उतने घूंट वैसा पानी पियेंगे। उनका [की]² खुद की रुचि ही क्या है। वह लेखक की कलम के साथ नाचते हैं। ताब भर हो मेरी कलम में मैं तो उन्हें ऊबने न दूँगा। ऐसे तरीके से लिखूँगा जो नई होंगी। मैं पुराना तरीका आने ही नहीं देता। सांस का जोर पंक्तियों में आवे, मेरी यह साधना है। जिन लोगों को तुम कहते हो कि ऊब गये हैं Free Verse से वे लोग ही कौन हैं? तुम्हारे घनचक्कर साहित्यिक होंगे।

1. रामविलासजी द्वारा केदारजी को मुक्त छन्द की जगह छन्द बद्ध कविताएँ लिखने की सलाह पर केदारजी की प्रतिक्रिया।
2. जो वाक्यांश या शब्द [] कोष्ठक में पत्रों में दिये गये हैं वह संपादक ने अपनी तरफ से दिये हैं। वे मूल पत्र में नहीं हैं।

नए साहित्य की सृष्टि अतुकांत मुक्त छन्दों के प्रवाह में है, मैं यही देख रहा हूँ। जब दुनियावाले तुकांत छन्दों को युगों से घोखते रहने पर भी आज तक नहीं ऊबे, तब भला वे इस कुछ काल की अतुकांत Free Verse से कैसे ऊब सकते हैं। वह जब इसी के आदी हो जावेंगे, तब इसका स्वागत करेंगे, अभी उनकी सब भावनाओं का प्रकटीकरण नहीं है। इसी से इस Free Verse से बिचकते हैं, जैसे मेरा बूढ़ा बैल नेता लोगों को देख कर बिचकता है। फिर यह तो Free Verse की मुठभेड़ है, तुकांत की जीत नहीं हो सकती, नहीं हो सकती। अपनी लम्बी चौड़ी टांगों और मजबूत कलाइयों का पूरा जोर Free Verse गोलमटोल तुकांत के शरीर पर अजमावेगा और खून निकाल लेगा। Free Verse की कविता नए दृष्टिकोण की कविता है। वह केवल कल्पना की परी के उरोजों पर चढ़ी चोली अथवा भावुक नायिका की नाक पर बैठे हुए श्रम बिन्दु का प्रतिबिम्ब नहीं है। वह अनपढ़ लोगों के जमात की, टाट पर बैठनेवालों की सोहबत में रहने वालों की, ऊबड़-खाबड़ देह की एकमात्र मजदूरिन है। उसे नफासत की उंगलियाँ कैसे छू सकती हैं? सभ्य समाज के पोषक उसे कैसे पास बुला कर निहार सकते हैं? वह साहित्य में ‘भदेस [पन]’ लाई है, किंतु उस ‘भदेस [पन]’ में खून की लाली है, गरमी है ताकत है। शर्मा तुम न ऊबो और सालों को ऊबने दो। मैं गाली इससे देता हूँ कि वे तुम्हारा स्वाद बिगाड़ रहे हैं। तुम पूरे ‘साधु’ [साहित्यिक] होते जा रहे हो, यह प्रगति बहका रही है। जानते हो दुनिया उसी की है जिसका हथियार [चाहे वह जिस प्रकार का हो] गहरा घाव करता है। मैं सोचता हूँ तुकांत काम कर चुकी। नई दुनिया के बाशिन्दों की (को) वह चीज़ नहीं दे सकती—वह निकम्मी और कायर है। तुम कहोगे संसार की तुकांत कविता ने ही संसार बदला है, रंग जमाया है, खून तक बहाया है। बहुत अंशों में यह सत्य है। किन्तु यह भूतकाल का सत्य है। सत्य मैंने गलत कहा भूतकाल का अनुभव मात्र है। जब सम्पूर्ण राज्य व्यवस्था ही उलट-पलट रही है, हंसिया-हथौड़ा की हड्डी पसलियाँ नवनिर्माण कर रही हैं तब क्या यह सम्भव नहीं है कि पुरानी कविता की ‘तरकीबें’ भी रद्द कर दी जाएँ और नई निकाली जाएँ। तुकांत कविता एक फल के चाकू जैसी है। अतुकांत Free Verse सौ लाख फलों जैसी है।

दोस्त, तुम यह न सोचना कि मैंने यह सब अपनी कविता के Defence में लिखा है। यह मेरे साथ अन्याय होगा। क्योंकि मैं तुम्हारे साथ यह ‘कपट’ नहीं कर सकता। मैं अपनी कविताओं की कमजोरियाँ मानता हूँ—मैं प्रयत्न करता हूँ कि जोरदार चीजें दूँ। तुम्हें कायल कर दूँ। पर यह जरूर है कि जहाँ सब उस तरह लिखते हैं, मुझे मेरी तरह ही लिखने दो। मेरा यह Experiment है। इसे बीच में 274 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

ही न बन्द करने को कहो। यदि सफल हुआ तो हिन्दी का फायदा है। यदि न हुआ तो नुकसान नहीं है। तुम्हारी बात मान जाऊंगा।

शायद तुमने देखा होगा कि छन्दवाली कविता ग्राम्य कंठ से नहीं निकलती। उसमें Free Verse ही रहता है। मैं शहरी गवैये या गजल गानेवालों की बात नहीं कहता, न आल्हा या ब्रजवासी गानेवालों की बात कहता हूँ। ये कवियों की कृतियों के मौखिक अनुकरण हैं। जब पिसनहारी गाती है, तो सांसें लम्बी-छोटी चलती हैं Free Verse में खैर.....

कहो क्या बड़े दिन में इधर आओगे? सख्त जरूरत है तुम्हारी। मैं कोशिश करने पर भी शायद प्रयाग न आ सकूँ। यदि तुम न आओगे तो सूचित करने पर फिर मैं ही प्रयत्न करूँगा। तुमसे मिलना है। नागर ने लिखा है कि तुम प्रयाग आओगे। कृपया, मुझे भी इतला दो सही-सही। तुम नियत तिथि पर नहीं पहुँचते।

मैं कोई Controversy नहीं raise कर रहा। किन्तु तुमसे अपने विचारों पर प्रकाश चाहता हूँ। केवल उनकी कमजोरी या मज़बूती नापना चाहता हूँ। मेहरबानी करके मुझे Convince कर दो।

तुम्हारा नाटक¹ पढ़ा। खूब पसन्द आया। उसे एक दिन बड़े दिन में घर में खेल कर देखूँगा। अशोक साहब², कुछ कविताएं तो आपकी जमीं।

केदार

Banda

8-3-45

प्रिय शर्मा,

तुम्हारा पोस्टकार्ड अभी-अभी 6 बजे शाम को जब मैं कचहरी से आया मिला। तुम नहीं सोच सकते कि मुझे कितनी अपार खुशी हुई यह पढ़ कर कि निराला जी तुम्हारे पास पहुंच गए। मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा है जैसे तुमने एक बड़ा समर जीत लिया है। कृपया, उन्हें वहां से न जाने देना। उनकी जिन्दगी regulate करवाओ और लिखने को कहो। उन्हें किसी वस्तु का अभाव नहीं होना चाहिए। वह हृदय सम्राट हैं करोड़ों के।

मैं इस शनीचर को तब ही पहुंच सकता हूँ जब कल रात को चल दूँ। कल

1. जनयुग में प्रकाशित डॉ. रामविलास शर्मा का नाटक।
2. डॉ. रामविलास शर्मा ने इस नाम से कुछ कविताएं लिखी थीं।

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 275

चलना यों असम्भव है कि जो सेशन मुझे आज करना था वह नहीं शुरू हुआ; कल से शुरू होगा वह भी दूसरे पहर से और परसों तक जरूर चलना है। मैं इसे छोड़ कर नहीं आ सकता, पर मेरा वही हाल हो रहा है जो बिंधे पक्षी का। भग कर पहुंचना चाहता हूँ, पर पक्षाघात जो एक तरह का हो गया है। साली वकालत भी बेड़ियों की तरह पैर में पड़ी है। रोटियां क्या देती है मुझे खरीद लिया है। मुझे अपनी गुलामी पर खीझ होती है। ऐसा लगता है जैसे अपने ही जूते अपने सर पर मार कर खून निकाल लूं। छोड़ कर जाता हूँ तो मुअक्किल मरता हूँ। नहीं मालूम क्या-क्या मेरे मन में इस समय गुजर रहा है। मैं हूँ तो यहां पर तुम्हारे कमरे में मच्छड़ की तरह ही भनभना रहा हूँ जब तक दो-तीन दिन न बीत जायेंगे। सुमन से भी मुलाकात हो जाती, पर वाह रे अभाग्य!

देखो भाई ३०, ३१ मार्च १ और २ अप्रैल को ईस्टर की छुट्टियां हैं। कृपया या तो यह लिखो कि तुम यहां आ रहे हो चित्रकूट चलने को या मैं ही वहां आऊँ? निराला जी भी रहेंगे। कह देना। सुमन को भी लाना है। खूब मिलने का अवसर है। पहले ही से तय करके लिखो, ताकि चित्रकूट में खूब बढ़िया इन्तजाम कराऊँ। धर्मशाला (ऊपरी भाग) ठीक करा लूं। महन्तों से सामान वगैरह का प्रबन्ध करा लूं। भूलना नहीं तय करके जवाब देने में।

तुम्हारे पत्र की दो लाइनें समझ ही में नहीं आतीं। क्या लिखा है, कहां जाओगे? न जाने क्या लिख मारा है? बीच में लिखा है Come if possible बाद में और अन्त में लिखा है Do come. दोनों एक-दूसरे का गला घोट रहे हैं। मेरा बन्धन बुरा है। वरना उछलकर ट्रेन में बैठ कर आगरे पहुंच जाता और तुम्हारा गला घोटता।

मैं इस समय इतना प्रसन्न हूँ जैसे नई जिन्दगी पाई है। वह भी तुम्हारे कारन। पत्र क्या है जान है। निराला जी से मेरा भी नमस्कार कहना वही....।

इधर वीरेश्वर ने दो कविताएं लिखी हैं। खूब हैं। एक होली पर दूसरी हिन्दी उर्दू पर। दूसरी प्रारम्भ होती है—

कोयल ने किया कू

कबूतर ने गुटरगूं

अब तुम ही बताओ कि

यह हिन्दी है या उर्दू।

कुछ ऐसी ही है।

मैंने भी कुछ कलम चलाई है। भेजूंगा। दूसरा पत्र पाओगे तब पढ़ना। उपन्यास भी वकालत ने रोक रखा है। कुछ कम लिखने का कारण श्रीमती जी भी हैं। वह 276 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

जबर नहीं करतीं सिर्फ पलंग पर आ विराजती हैं। कलम भवानी रुक जाती हैं। मेरी तो अजीब छीछालेदर है। तुम ही अच्छे हो। अच्छा होता यदि बेब्याहा होता और फटेहाल होता। इस गरीबी-अमीरी के खच्चड़पने ने मुझे भी खच्चर बना रखा है। न हिन्दू हूँ, न मुसलमान। रामै राखै मोरी लाज।

भाई माफ़ करना ग़ैर हाज़िरी से। ईस्टर का प्रोग्राम लिखो। मैं उसके लिए बेकार हूँ। नरोत्तम को भी लिख रहा हूँ। उसका हाल सुना ही होगा। “अभ्युदय” इंडियन प्रेस से मालवीय के पास जा रहा है। वह [नागर] वहाँ न जायेगा। अब उसकी भी रोटी मारी जायगी। हर तरफ चोट है। पता नहीं वह क्या सोच रहा है? दशा हम सबकी ख़राब है।

निराला जी को प्रणाम।
सुमन आये तो उसे भी

तुम्हारा
केदार

पुनश्च :—बाँदा से २००००/- प्रयाग गये हैं। झा साहब ले गये हैं इसका चिट्ठा मिलने पर बताऊंगा। यह अन्याय हुआ है। बाँदा की जनता और उसके बच्चों के साथ। यहाँ का डी० ए० वी० स्कूल मोहताज है। एक Govt. High School है। बच्चे कुत्ते से पूंछ हिलाते फिरते हैं। पढ़ाई का प्रबन्ध नहीं है। विश्वविद्यालय में Guest House बना है। राम! राम! यह हैं राव साहब।¹

केदार

Kedar Nath Agarwal
B.A. LL.B
Advocate

Banda (u.p.)
Date 15-3-1946

प्रिय भाई,

कल खत मिला मेरी ज़िन्दगी में चौगुनी खुशी आ गई। सोचा था कि लिफाफा है, हालचाल लम्बा लिखा होगा। पर कलम कम ही चली थी फिर भी कुछ न आने से, कुछ आया यही क्या कम है।

तार से फौरन ही २५/ निराला जी वाले हिसाब में भेज रहा हूँ। पहुंच लिखना। अधिक भेजता पर है नहीं। यही मेरी थाती है। इससे छुटकारा पाने में बेहद खुशी

1. श्री बालकृष्ण राव—उन दिनों बाँदा के जिलाधीश थे।

हो रही है। मुरदा पैदा जिन्दा हो रहा है इसी कारण से। अपने त्याग से नहीं। यह मेरा कर्तव्य है।

निराला जी की हालत तो लिखते कैसी है? Short Cut न हुआ करो। मुझे चिन्ता हो गई है। लिखो क्या हाल है? प्रयाग से नागर का पत्र भी नहीं आया कि कुछ जान सकूँ। तुम बिना हवा के पेड़ जैसे आगरे में गड़े हो। इधर हिलते तक नहीं। इसी से बड़ी बेचैनी रहती है।

एक तो बहुत कम लिखता हूँ। फिर पत्र न आने पर और भी पत्थर हो जाता हूँ।

जो कुछ लिखा है वह सब हँस [हंस] व नया साहित्य में देख ही चुके हो। शायद तुम्हें पसन्द नहीं आया वरना, मेरी पीठ ठोंकते ही स्याही के अक्षरों से। पर विश्वास है कि उम्दा लगा होगा। बुरा होता तो तुम तड़ाक से कागज़ी चपत जमा देते।

१—“नया साहित्य” में कई बहुत उम्दा लेख थे। डा. मोती चंद का नया था। तुम्हारा आदि काव्य भी। जन नाट्य पर रमेश का। सीपियाई की (पहली) सिनेमा वाली आलोचना। कविताओं में मेरी ही मुझे रुची। सफ़दर का आल्हा था तो बढ़िया, पर अधिक प्रिय न लगा। वजह न समझ में आई।

२—“नया साहित्य” भी अच्छा है। बहुत तो नहीं पर कुछ कम। आल्हा की सिरीज़ चली है। उम्दा है। कविताओं में माथुर की कविता “जनयुगीय” नहीं है। वैसे बढ़िया है। नया साहित्य में जीवन चाहिए। केवल कल्पना नहीं। वीरेश्वर बाजी मार ले गए हैं। “बोल अरी ओ धरती बोल” भी खूब है। अब की तुम्हारा, “उषः काल” भाषा का लोहा लंगड़ ले कर पढ़ते-पढ़ते भेजा खौंद देता है। यह डिशकशन भी ज्यादा Scholarly हो गया है। मालूम होता है कि पहले का लिखा धरा था। और भी सामग्री बेहतरीन है।

कुछ चित्तप्रसाद के व अन्य चित्रकारों के powerful sketches (दैनिक जनजीवन के) निकलवाओ। इसकी कमी महसूस होती है।

कहानियां अभी नहीं जंची। वैसे अच्छी हैं।

तीसरा ‘नया साहित्य’ कब तक छपेगा? शमशेर की चोट कैसी है? अब वह कहां है? पत्र दिए पर जवाब नहीं आया।

“टीटो का आल्हा” देस की आगा खा गयी है। दुख हुआ। कापी देखने को उत्सुक हूँ। पांडुलिपि एक दूसरी तो होगी ही।

मजदूर सभा का आल्हा पास है। बड़ा मज़े का है।

यहां Peoples age की प्रति लेता हूँ। बहुत ही लाजवाब निकल रहा है। Local agency हो गयी है। sale अभी सब १० तक है।

अगिया बैताल तुम्हीं हो न।
किताबें वही पढ़ता हूं जो तुम मुझे पढ़ाना चाहते। भई खूब निकलती हैं।
कहो कब बांदा आओगे। मलिकिन कहां हैं? नमस्कार। बच्चे अच्छे होंगे।
प्यार। खूब लम्बा पत्र लिखना।

तुम्हारा
केदार

बांदा
१.३.५६

प्रिय डाक्टर!

“रूप तरंग” की प्रति प्राप्त हुई। तब से अबतक साथ लिये-लिये जब जहां मौका लगता है, पढ़ता हूं और गुनता हूं एक-एक पंक्ति।

यदि अपनी प्रशंसा न समझो तो कहूंगा कि तुम्हारी यह प्रथम काव्य पुस्तिका काव्य और कला-दोनों की दृष्टि से नये युग के साहित्य में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इतनी सबल काव्यमय जीवनाभूति शायद ही किसी अन्य पुस्तक में मिलेगी। दृष्टिकोण युगान्तरकारी है। यदि आज्ञा हो तो कहूं कि प्रत्येक पंक्ति साहसी के माथे की चमकती रेखा है और प्रत्येक कविता पनघट से लौटती हुई सुन्दरी के सिर पर धरी कनक-कलसी है-जिसमें नीर नहीं रस और राग ही राग भरा है। बधाई स्वीकार हो।

वाह! क्या स्वर्ग सुन्दर रचना-क्रम का निर्वाह करते हो कि भाषा में क्लासिकल, रोमांटिक तथा प्रगतिशील तत्वों का एक साथ पूरा-पूरा आनंद मिल जाता है। “कुहरे के बादल” की सादगी लामिसाल है। “चांदनी” की कलाकारिता अपनी ओर अद्वितीय है। “अमर सरस्वती” का स्वर देश की अमर आत्मवाणी की गुंजार है। ‘बंजर’ के बजाय “बज्जर” का प्रयोग करते तो जान पड़ जाती। परन्तु मेरे बांदा को वह स्थान कहां दोगे। मजदूर पर लिखी कविता लासानी है। निरालावाली की बात करना ही बेकार है। “श्रेष्ठियों के देवता”—वाह क्या व्यंग [व्यंग्य] है धार धरा! चिदम्बरम् छोटी है परन्तु चित्र अनुपमेय है। “काल बँध गया है चरणों के छन्दों में”। धन्य है मित्र! “बंदिनी कोकिला” कौन हैं ये? मैं नहीं जानता। क्या सरसता है प्रवाह में—“पुरवाई पर उड़ते मेघों से हैं कुन्तल”। “भ्रूभंगों से शान्त करे सागर की लहरें।” न भूलेगी यह पंक्ति। “महाबलिपुरम् का समुद्र तट”—यह “चिदम्बरम्” का ही स्वरूप है। देखो न : “बूढ़े द्रोण अभी तक समर भूमि

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 279

में धनुष चढ़ाये हैं।” “आजाद पताका” की कला “चांदनी” की कला ही है। हम लिखते तो इसे चौपट कर देते। तुमने खूब सम्हाला है इस पताका को। फिर देखो यह पंक्ति : तड़प-तड़प कर टूट रही हैं जाँघों से मोटी शहतीरें। यह तुम्हीं लिख सकते हो। मैं भी पूछता हूं तुम्हारे ही स्वर में—

क्या होगा ऐसा भी मानव,
कमलपत्र की छाहीं में बैठा गाता हो!

“ऋतुसंहार” का प्रथमांश अधिक प्रिय है।

धुआं भी तुमने खूब देखा है। “उठा छान से धुआं, कुंडली खोले फन-सा छाया डसा हुआ-सा गांव”—इत्यादि! कमाल है इस कवित्व को।

“किसान कवि और उसका पुत्र” अत्यन्त मार्मिक है। पहले भी द्रवित कर चुकी थी।

अभी इतना ही। न लिखता लेकिन कलम न रोक सका। पास होते तो तुम्हें इन्हें सुनाता और तुम्हारा जादू तुम्हें ही दिखाता। पर पारखी बड़े कच्चे हैं। न जाने क्या कहें?

साधारणजन के लिए तो है, परन्तु असाधारण काव्य-प्रतिभा का स्वरूप सर्वसाधारण न पकड़ पायेगा। यह उन लोगों के लिए है जो ४० के पार पहुंच कर गम्भीर हो गये हैं। मैं झूठ तो नहीं कह रहा? तुम जानते हो।

मुंशी चुप हो गए न? बहुत-बहुत प्यार सबको।

तु0
केदार

बांदा
१९-१०-५६

प्रिय डाक्टर,

“नागा बाबा” बांदा आये और यहां ४ दिन रह कर फिर प्रयाग चले गये २४-१-५६ को। हम लोगों ने खूब घुल-मिल कर बातें की। बार-बार तुम याद आते रहे। काश साथ होते।

बांदा से वापिस जा कर “नागा बाबा” ने “मैंने तुमको पहचाना” शीर्षक [से] एक लम्बी-सी १५ पंक्तियों की बड़ी शानदार प्यारी कविता लिखी है। नकल भेजूंगा। उन्होंने बांदा को चमचमा दिया है। हम सब उनके कृतज्ञ हैं। फिर मेरे लिए तो उन्होंने कलम ही तोड़ दी है। इतना गौरव अब शायद मुझे कभी न मिलेगा।

280 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

कभी-कभी उसे पढ़ कर यह अनुभव करता हूँ कि हम जन-कवियों सा इतना अटूट प्रेम शायद ही पिछले कवियों में रहा होगा। फिर इस कविता का स्वर इतना सरल और स्वाभाविक है कि मुग्ध हो गया मैं स्वयं ही अपने इस वर्णन पर? कुछ पंक्तियाँ हैं।

“श्याम सलिल सरवर है बांदा!

नीलम की घाटी में उजला श्वेत कमल-कानन है बांदा!

.....

बांदा नहीं, अरे यह तो गंधर्व नगर है!

.....

केनकूल की काली मिट्टी, वह भी तुम हो

कालिंजर का चौड़ा सीना, वह भी तुम हो

ग्राम वधू की दबी हुई कजरारी चितवन, वह भी तुम हो

कुपित कृषक की टेढ़ी भौहें, वह भी तुम हो

खड़ी सुनहली फसलों की छवि-छटा निराली, वह भी तुम हो

लाठी लेकर काल-रात्रि में करता जो उनकी रखवाली वह भी तुम हो।”

आदि.....

मेरा ख्याल है कि वह अब तक आगरा पहुंच गये होंगे। उन्होंने कविता जरूर सुनाई होगी। कहो कैसी पसन्द आयी। प्यारे! बड़ा मजा रहा। अविस्मरणीय थी हम दोनों की यह भेंट।

लिफाफा नहीं है शाम हो गई है। इसलिए अपने भाव मजबूर होकर P.C. पर लिख रहा हूँ।

तु0 केदार

बांदा

२४-४-५७

रात्रि ८ बजे, गरम कमरे के अंदर बैठकर

रेडियो की संगीत-लहरी में नहाया हुआ

पसीने के [की] बूंदों से अलंकृत होकर

प्रिय डाक्टर,

पोस्टकार्ड अभी मेरे छोटे भाई ने दिया। पढ़ कर प्रसन्न हो गया। दिन-भर धूप में तपने के बाद इस बचकानी चिट्ठी ने वही काम किया जो एक सावनी घटा

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 281

करती है—यानी प्यार से इसने नहला दिया। मैं तो राह ही देखता रह गया तुम्हारे यहां आने की। तुम लखनऊ आए थे—फिर झांसी से भी तुम्हारा एक वक्तव्य छपा था। ख्याल यही था—हालांकि वह गलत निकला—कि तुम शायद मेरे नगर भी आओगे। परंतु तुम्हें आगरा लौट जाने की जल्दी थी, इसीलिए नहीं आ सके। कोई बात नहीं है।

इधर केरल सरकार को लेकर खूब उछल-कूद की खबरें छप रही हैं। कभी-कभी पार्टी के प्रमुख व्यक्ति ऐसे वक्तव्य दे देते हैं कि लोग भड़क जाते हैं। जरा धीरज के साथ काम करने की ज़रूरत है। आज का अजय घोष का बयान पढ़ कर तसकीन हुआ कि उन्होंने वैसे वक्तव्य देने वालों के कान उमेटे थे। यही attitude इस वक्त कारगर साबित होगा। मेरा यही विचार है। हमारे वे ख्याल गलत निकले कि इस बार खुश्चेव के कारण पार्टी पीछे ढकिल जायेगी। पार्टी तो ऊपर उभरी है। दरअसल में इस दिशा में सम्हल कर काम करना ज़रूरी है। ख़ैर, यह तो हमारी धारणा है। पता नहीं कि बड़े लोग क्या सोचते हैं?

अपने पिछले पत्र का विस्तृत उत्तर मिलने की आशा लगाए बैठा हूँ। जी न माना इसलिए यह दूसरा लम्बा पत्र भी लिख कर भेज दे रहा हूँ कि इसका भी जवाब दोगे। कुछ कविताएं लिखी हैं। वे भी नीचे दे रहा हूँ। पढ़ कर टिप्पणी लिख भेजना।

दिन के दिए

आज अभी आंखों से

पर्वतीय निर्जन के धुंध-भरे घेरे में

कैद खड़े पड़ों के मौन पड़े डेरे में

पात हीन डालों के आखिरी किनारों पर

पीत पगे फूलों के आरसी-कपोलों पर

दिन में ही जगर मगर दीप जले देखे हैं।

१-४-५७

यह कविता मैंने प्रयाग जाते समय रेल के डिब्बे में उस समय लिखी थी जब मानिकपुर स्टेशन १ किमी. रह गया था और मैंने मानिकपुर की पहाड़ियों पर मौन खड़े नंगे पेड़ों की डालों के आखिरी किनारों पर ये फूल देखे थे। हम डिब्बे में ही रससिक्त हो गए थे। कहो, कैसी रही यह छोटी-सी कविता? Dandelion से किसी कदर कम नहीं है। बल्कि कुछ ऊँची ही है।

अभी १३-४-५७ को खजुराहो गया था। उसे देख कर भी एक कविता लिख सका हूँ। लो उसे भी पढ़ो।

282 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

खजुराहो के मंदिर

चंदेलों के कला-प्रेम की देन देवताओं के मंदिर,
बने हुए अब भी अनिद्य जो खड़े हुए हैं खजुराहो में,
याद दिलाते हैं हमको उस गये समय की
जब पुरुषों ने उमड़-उमड़ रोमांचित हो हो कर समुद्र-सा
कुच-कटाक्ष वैभव-विलास की कला-केलि की कामिनियों को
बाहुपाश में बांध लिया था
और भोग-सम्भोग सुरा का सरस पान कर
देश काल को—जरा मरण को भुला दिया था!
चले गए वे काम-कंठ-आभरण पुरुष-जन;
चली गयीं वे रूप-दीप-दीपित बालाएं;
लुप्त हुईं वह मदन-महोत्सव की लीलाएं;
शेष नहीं रह गयीं हृदय की वह स्वर ध्वनियां!
किंतु मूर्तियां पुरुष-जनों की—
और मूर्तियां कामिनियों की
ज्यों-की-त्यों निस्पंद खड़ी हैं उसी तरह से
देव मंदिरों की दीवारों पर विलास के हाव भाव से।
काल नहीं कर सका उन्हें खंडित कृपाण से,
किंतु किसी दुर्द्धर मनुष्य ने
गदा मार कर कहीं-कहीं पर तनिक-तनिक-सा तोड़ दिया है
और आज तक इसीलिए वे उसे कोसती हैं क्षण-प्रतिक्षण!
नर हैं तो आजानबाहु, उन्नत ललाट
रागनुराग-रंजित शरीर हैं!
तिय हैं तो आकुलित केश, पटु नटी-वेश,
कामातुर मद विह्वल अधीर हैं
सदियों से पुरुषों की जांघों पर बैठी करती विहार हैं;
इन्हें नहीं संकोच-शील है या कि लाज है,
यह मनोज के मनःलोक के नर-नारी हैं,
आदिकाल से इसी मोद के अधिकारी हैं;
चाहे हम-तुम कहें इन्हें : यह व्यभिचारी हैं।

मुझे पहली बार प्रयाग से रेडियो कवि-सम्मेलन में बुलाया गया था। ३/४ को था। मैंने केवल 'दिन के दिए' व एक अन्य ६ पंक्तियों की कविताएं सुनाई थीं। पहले तो उस Hostile वातावरण में—परिमलियों के बीच—मुझे घुटन मालुम हो रही थी। परंतु फिर जब मैंने जम कर सुना दिया और वाह-वाह हुई तो उनके मुंह देख कर खुश हो गया। वे चेहरे पत्थर के पुराने से हो गए थे। मज़ा तो यह था कि P.C. gupta व भैरवप्रसाद गुप्त और २/३ साथी बिना बुलाए ही वहां मेरे कविता पाठ तक बैठे रहे। फिर चले गए। उनकी उपस्थिति भी मेरे लिए प्रोत्साहन का काम कर रही थी। मैं उनका अवश्य ही कृतज्ञ हूं। अज्ञेय महोदय भी थे। उनसे मैंने नमस्कार मारी, पर चेहरा—उनका-विकृत हो गया; मगर जवाब देना इस सभ्यता का तकाजा था इसीलिए उन्होंने बरफ के ठंडे गिलास से अपना मुंह निकाल उसका उत्तर दिया। फिर न बोले एक शब्द। और उन बड़े “भारती” का हाल सुनो। यार मेरा जान कर भी अनजान बना रहा। देख कर भी आंख मूंदे रहा। मैंने उन्हें देखा व उनके अंदर जा कर उनकी परेशानी पहचानी। वह जूनियर कवि थे, इसलिए मैंने अपना सलाम नहीं दिया। भला वह कैसे इस अ-कवि को नमस्कार करते? मैं इसे समझ कर खूब खुश हुआ। वाह रे घमंड-घटोत्कच! वैसे तो हमें दोष देते रहे हैं कि हम बड़े बदतमीज हैं। पर इन सियारों को कोई नहीं कहता। बहरहाल, मजमे में मैंने उनके धुएं देखे। नयी चीज थी मेरी। ताजा रंग था। पंत जी ने भी प्रशंसा की। परंतु बड़ी छोटी थी। यही शिकायत थी सबकी। परंतु तुम जानते हो कि मैं देर तक पढ़ता तो उखड़ जाता। कविताएं लम्बी नहीं जमतीं, जबतक कि निराला का-सा पाठ करना न आता हो। वह तो मेरे वश का नहीं है। न आदत ही है।

मेरी “लोक और आलोक” का संस्करण छप ही गया होगा अब तो। परंतु कुछ समाचार नहीं मिला। प्रति तो भेजूंगा ही मिलते ही।

मैंने Leave of Grass प्रयाग में खरीद लिया है। उम्दा है। साधारण जन की जबान में कविताएं निकली हैं। मार्मिक हैं। जड़ाऊ काम नहीं है इनमें। सादगी और सफाई के साथ हृदय धड़कता है। तुमने अधिकांश को सपाट कहा है। हो सकता हो ठीक हो तुम्हारा यह विश्लेषण। पर अभी मैं कुछ नहीं कह सकता। मुझे तो वह बहा ले जाता है अपने बहाव में।

मुंशी का पत्र आया था। मैंने जवाब दे दिया है। शायद Walt Whitman की कविताओं का अनुवाद छापने के क्रम पर विचार हो रहा है वहां। वही श्री चंद्रबली के अनुवाद को। मैंने लिखा है कि ज़रूर छापो।

बांदा के गदर के गीत मांगे हैं, पर यहां तो पत्थर गदरा जाते हैं। गीत मिलते ही नहीं। बहुत पूछता हूं, पर कोई नहीं बताता कि कहां पड़े हैं? खोज जारी है।

घर में सब मजे में हैं। तुम सब लोग मजे में होंगे। बेटियों को प्यार। बेटों को सलाम। तुम दोनों को नमस्कार। ललित का ख्याल है। सेक्रेटरी महोदय से फिर बात कर ली है। मई में दरखास्त दे दूंगा। विज्ञान के स्नातकों की भी आवश्यकता है। कोई हो तो लिखना।

सस्नेह तु0 केदार

बांदा

22-10-57

जनाबमन,

राम के आगे विलास लगा कर अब हर-हर महादेव यानी शिव बनने की साध पूरी कर रहे हो। कर लो, ऐसी भी क्या बात है। मगर याद रखो कि पहले जड़ जटाजूट बांधो, फिर कोपीन धारो, फिर कमंडल गहो, और भूत-प्रेतों की जमात जोड़ो तब जा कर कहीं उस शिव का रूप बना पाओगे। यह तो बहुत सादी-सी बातें हैं जिन्हें तुम कर भी सकते हो। लेकिन जब शिलाखंड पर नंगधड़ंग बैठ कर बनावटी आंख मुंदौवल करना [करनी] पड़ेगा [पड़ेंगी] और वह भी बरसों तक तब सारी साध काफूर हो जायेगी। मियां, जब इन्द्र महाराज का सारा “मालखाना” तपस्या भंग करने आयेगा तब बरबस ललचा कर टप्प से निहार दोगे। याद रखो कि इस शिव के रूप में कुछ नहीं रक्खा। तुम तो सूर्यवंशी राम हो। राम ने विलास न किया था—दूसरे शब्दों में कुल की रीति के विपरीत आचरण करते थे, तभी तो सीता हरण हुआ और जब फिर मिलीं भी तो राम उन्हें न रख सके—तुमने राम के आगे पुरुषत्व का चिह्न “विलास” लगा कर उनके पुल्लिंग होने का सबूत तो दे दिया। बधाई है हजरत आपको। इसीलिए मुहम्मद साहब के पुंसकत्व की याद करके तुम्हें जनाबमन सम्बोधित कर रहा हूँ।

पर डर है कि इस असमय के परिहास को कोई दूसरा न पढ़ ले और मुझे और तुम्हें दोनों को पक्का बदमाश न समझ ले। इसीलिए जितना कहा, कम कहा, उसी को ज्यादा समझ लेना।

तुम्हारी मालकन को मेरा गद्य काव्य पसंद आया। मेरा अहोभाग्य। यह जान कर खुशी हुई कि अब अच्छी हो रही हैं। जरा गिरस्ती की चक्की में उन्हें फिर जल्दी न जोत देना। बीमारी के बाद तो बीमार की लोग सेवा खूब करते हैं। तुम्हें चाहिए कि तुम अपना शैवासन त्याग कर, तप-भंग करके उनकी ओर उन्मुख हो कर सहज

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 285

स्वभाव से उनका ताप हरो। भगवन आप तो बरफ पर बैठे रह कर भी मदन महाराज तथा रति के कुसुमों से आहत होते रहते हैं। मैं केवल याद दिला रहा हूँ कि दुर्बल को न सताइये।

इधर खूब लिखने जा रहे हो। जरूर लिखो। यशपाल साहब को जवाब की जरूरत है। वह कब्ज के मरीज हो गए हैं शायद! न जमालगोटा सही, हल्की सनाय की फंकी करा दो न।

चन्द्रवली का लेख देखने की लालसा है। रूपतरंग पर मैं भी लिखूंगा। तब से अधूरा पड़ा है मेरा लेख।

चित्रकूट चाहे जब आओ। चल दूंगा। दशहरे में सही। वैसे कचहरी तो सदा चालू रहती है। चंचला जो है। फिर बूढ़ों की घरैतन भी तो है। क्यों न सदा दरवाजा खोले बैठी रहे।

मिल्टन का पाठ रुक-रुक जाता है। कभी किसी वजह से कभी कचहरी के काम की वजह से। जी भर कर रस नहीं ले पाता, तन्मयता से। बहुत बखेड़े घेरे रहते हैं। फिर भी समय निकाल कर पढ़ता ही रहता हूँ। अभी इस काबिल नहीं हूँ कि उसके सम्बंध में कुछ लिख भेजूं। उसमें अभी मन नहीं भीजा। देखो वह कब हृदय को छू लें। यह जरूर लिखना कि कितना-कितना अंश अवश्य पढ़ लूं?

बस तु0 केदार

बांदा

22-10-57

जी, सम्पादक जी महाराज,
जै आलौ'चना की!

‘समालोचक’ निकलने जा रहा है। आलोचक जब सम पर पहुंचता है तो वह सिर के बल चलने लगता है। तभी तो वह दूसरों को सही चलते-फिरते देखता है। खुद धीमे चलने लगता है। देहात में सिर के बल चलने को “बीछी” चलना भी कहते हैं। हां, अगर बिच्छू की चाल चले तो जरूर कहीं-न-कहीं ज़हर चढ़ेगा। लेकिन कुछ भी हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि हमारे रामविलास का कवि अपने आलोचक से मात खा गया। बेचारा कवि, पहलवान से कैसे जीत सकता था? मुझे

286 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

उस हारे कवि के प्रति बहुत हमदर्दी है और इस जीते हुए आलोचक के प्रति उसकी ताकत पर नाज़ है। ऐसा संजोग कहीं न मिलेगा जैसा तुममें मिलता है : एक साथ कवि और आलोचक। मुंशी ने लिखा था कि अब तुम कविताएं लिखने पर जुट जाओगे पर वादा कुछ था और हुआ कुछ। चन्द्रबली ने लिखा था कि मैं तुम्हें मजबूर करूँ कि तुम कविताएं लिखो और जवाब दो, परन्तु इतनी दूर हूँ कि सिवाय काले अक्षरों के द्वारा तुम्हें उकसाऊँ और कोई चारा मेरे पास नहीं है।

चन्द्रबली का लेख—जो उसने भेजा था—“आज” में पढ़ा। वह तुम पर था। दो लेख थे। तुमने पढ़े ही होंगे। तारीफ हो गई है इसी से सन्न बैठे हो और एक लाइन भी खत भेज कर, नहीं पढ़वाते।

‘जै आलोचना’ में जो ल पर ओ की मात्रा है उसपर apostrophe लगा है। उस ल में ऊ की मात्रा भी लगी है। चाहे तो ‘ओ’ को लोप समझना और ‘ऊ’ को लगा देखना। भूखे में आलू-चना अच्छा लगता है।

मैंने “हंस” में कमलेश्वर का “एक सड़क सत्तावन गलियाँ” पढ़ा। मुझे बेहद पसन्द आया है। यथार्थ और जीवन दोनों गले मिल कर तमाम तरह से चल फिर कर सामने आ जाते हैं। चरित्र-बिगड़ कर बनते चले जाते हैं और सबसे खूबी तो यह है कि इस उपन्यास के युवक-लेखक ने बड़ी संजीदगी से शब्दों पर आधिपत्य रख कर व कथानक पर आधिपत्य रख कर, जीवन को अंकित किया है। पहले जरूर कथानक पर वर्णन का भार महसूस होता है। शुरू के पृष्ठों में यही कमी खलती है। बक्रीया तो बहुत उम्दा चला है।

कविताएं जो “हंस” में हैं, वह सब अच्छी नहीं हैं। दुष्यंत की सूझ बढ़िया है। यह प्रयोग नहीं, जीवन का स्वर है जो बोल उठा है। बड़ी प्रिय लगी। वंशीधर पंडा की बुंदेली कविताएं गेय हैं, मगर इस बार सिर पर चढ़ कर नहीं बोलती। गजानन मुक्तिबोध आदि की रचनाएं मेरे पल्ले नहीं पड़ीं। न जाने क्यों जब कविताएं बड़ी बात करने लगती हैं तब वह अपनी सहज सुन्दरता और आत्मप्रियता खो देती है। वैसे वे बड़े कलाकारों की कृतियां हैं, जरूर उम्दा होंगी। मेरी मोटी अक्ल पर कुछ भी असर नहीं पड़ता। केदारनाथ सिंह की रचना समझ में आती है, परन्तु वह पास आ कर, गले से लग कर नहीं बैठती। जैसे वह कोई बड़ी चीज हो जो मुझ से अलग खड़ी रहती है। इस बार श्रीकांत वर्मा की कविता अपना स्वभाव-गुण त्याग कर सयानी बन कर सामने आई है।

—तु0 केदार

प्रिय डाक्टर,

पत्र मिला। हाथ में आते ही जैसे गुलाब खिल गया। क्या खूबसूरत लिखावट है। लेकिन गुलाब की महक नहीं है। तुमने अपना दिल तो खोला ही नहीं। केवल शब्दों के पंख खुले हैं। भीतरी रंग और राग बोलते ही नहीं। अच्छा तो लो मैं ही कुछ काव्य-रस प्रवाहित करता हूँ।

मुझे गर्व है उस केरल पर

पहली बार जहां खग्रासी तमचर हारे

भीति भार के अंधकार के ढहे कगारे

सूर्यमुखी आलोक-गरुण ने पंख पसारे

दहक उठे दाड़िम-विद्रुम-द्रष्टा अंगारे

उस केरल पर

वहां मुक्ति का केतन फहरा

धूसर धरती पर सोने का सागर लहरा

उस केतन-सा लहक रहा है जन-मन-जीवन

उस सागर-सा लहर रहा है जन-मन-जीवन

मुझे गर्व है और हर्ष है उस केरल पर

आशा के अरविंद खिले हैं जिस केरल पर

तुम कहोगे ही कि कविता बोझिल है। डियर, बोझिल है जरूर है। लेकिन शिल्प में विषय-वस्तु जो भरपूर है। भाषा भी दुभाषिये द्वारा समझ में आने वाली है। पर यह तो मेरे संस्कारों का स्वरूप है। मैं करूँ तो क्या करूँ!

अब दूसरी चीज लो। यह तो बहुत सरल भाषा की कृति है।

तुम मेरी आवाज छीन लो

चाहे मेरा हृदय छीन लो

लेकिन इस धरती के

मेरे फूल न छीनो

जिन्हें देख कर मैं मनुष्य हूँ

और चूम कर मैं आत्मा हूँ—

खिली चांदनी रातों के

भीतर से निकली,

धुली, नहाई

हंसती, गाती और बोलती।

बस, हो गई। बहुत छोटी है। तुम भी कहोगे कि यह भी कोई कविता है। न हो, मेरी बला से। लेकिन ऐसा कोई अनुभव तो करे। मैं समझता हूँ कि यह सीधी सादी कुदरती कविता है। जी हां आपको एतराज न होना चाहिए। जरा प्यार से इसे पढ़ो और फिर कुछ कहो-सुनो।

अच्छा लो एक तीसरी रचना। तुम भूखे होओगे। रोटी की ही बात सुनो।

रोटी के पैदा होते ही

बुझी बांख में जुगनू चमके

और थका दिल

फिर से हुलसा;

जी हाथों में आया,

और होठ मुसकाये,

घर मेरा वीरान वीरान पड़ा¹

आबाद हो गया

कैसी है रोटी? बड़ी मजेदार है न! अब भी पेट न भरा होगा। अच्छा तो लो चौथी सुनो—

तुम भी कुछ हो

लेकिन जो हो

वह प्रकाश में लगी गांठ हो

जिसको कलियां खोल रही हैं

पेड़ों के भीतर से निकलीं।

यह तुम्हें पसन्द न आई होगी। प्रकाश में गांठ लगने की बात गले से न धंसेगी। कलियां भी गांठ कैसे खोलेंगी? सब ठीक है। पर हम इसका उत्तर न देंगे। हम कवि हैं न? तुम लोगों ने सिर पर चढ़ा दिया है न? अब हमारी बेवकूफी भी देख लो। मगर जनाब समालोचक जी यह सच्ची कविता है। यह रोटी खाने के बाद,

1. यह 'वीरान' असावधानी लिख गया प्रतीत होता है।

भरे पेट से निकली है। इसमें यह कविता है जो किसी कवि की कविता में नहीं है। और अगर यह कूड़ा भी हो तो हमें दाद दीजिये कि हम ऐसी चीजों की भी खूब सराहना करा लेते हैं और नयी कविता वालों के सिर झुकवा लेते हैं।

मैं भूल गया कि तुम अवकाश से हो। इस समय तो empty mind is devil's workshop की कहावत के शिकार होंगे। मैं तुम्हें इसी devil's workshop की कविता भेज रहा हूँ। वह है—

कितना प्रिय है शशि का दर्पण

जो गिरि गन पर—

वन पर गिर कर,

और हवा के झोंके खा कर

कभी न टूटा

बना हुआ है पूर्ण अनूठा—

लिये हुए तसवीर हमारी

और तुम्हारी!

कैसा बचकाना ख्याल है। रोमांटिक भी नहीं है। केवल कुलबुलाहट है। लेकिन देखो तो यार। अभी हम जवान हैं। इस अधेड़ उम्र में भी २४ के हैं। अगर यह भी बुरी लगे तो गाली न देकर अपने इस बिगड़े दोस्त को सही रास्ता दिखा देना। क्या करूं, कलम तो है। बेक्राबू हो जाती है।

अच्छा तो चलते-चलते एक और बेवकूफी देख लो। वह यों है—

हंस है आकाश

धरती सेब है,

और यह दोनों सनातन सत्य हैं

आदि में थे और अब भी आज हैं

और आगे भी रहेंगे

शेष चाहे कुछ नहीं बाकी रहे।

यह बुद्धि विपरीत हंस और सेब हैं। इन्हें देख कर, छू कर मजा लो। मगर ज्यादा अर्थ न भरना, वरना हंस कुछ और हो जायगा और सेब मिल्टन का सेब हो जायेगा—पतन का कारण।

अब मज़ाक हो चुका।

अब बताओ कि यह कविताएं हैं भी या नहीं? और अगर है तो क्यों और अगर नहीं तो क्यों नहीं? फिर ऐसी कविताओं का मूल्य क्या है हमारे इस युगीन जीवन

में? मुझे ये प्रश्न बहुत सताते हैं। जवाब दे लेता हूँ परन्तु फिर भी यही प्रश्न उठते रहते हैं? सविस्तार उत्तर दोगे? बीबी [बीवी] प्रयाग गयी हैं। अकेले हैं। कचहरी है और कविता का चरखा है। जय हो विरस और सरस का यह योग और भोग।

समालोचक मिल गया है। लोगों की शिकायत है कि गेटअप नहीं सुन्दर। कुछ इन लोगों का भी ख्याल रखो। त्रिलोचन पर लेख चन्द्रबली ने भेजने को कहा था। न भेजा क्या? अभी तक नहीं निकला। क्या कारण है?

अपने राम अमृतलाल नागर का व्यंग (व्यंग्य) विनोद enjoy नहीं कर सके। न जाने हममें कुछ कमी है या उनमें। क्या घटिया माल ला कर सामने पटक दिया है। वह तो जानदार आदमी हैं। उन्हें लिखो कि कुछ करतबिया पैतरे दिखायें। इस घिसिर-पिसिर [से] कुछ काम न चलेगा। इस बार तुम्हारा भी कोई ठोस लेख नहीं है। 'कला का माध्यम' जैसा देते चलो। मैं पढ़ कर अपनी अकल दुरुस्त करता चलता हूँ। पता नहीं वह दुरुस्त अकल मेरी कविताओं से भी झलकती है या नहीं?

दिल्ली घूम आये। चलो अच्छा किया तुमने। हम तो भाड़ के चने हैं और उसी के लिए बने हैं। यहां कहां सैर-सपाटा बदा है। घर से कचहरी कचहरी से घर। फिर बिस्तर। यह भी खूब सेट जीवन है। जरा भी तबदीली नहीं है। मगर यह, कोई अच्छा जीवन नहीं है। शायद इस तरह पड़े-पड़े में पुराना न पड़ जाऊँ? पर किया भी क्या जाए? हम तो कील हैं कुरसी में लगे हैं। जब वह टूटेगी तब शायद फेंक दिये जायें। अभी तो भाग्य पलटने की कोई सूचना नहीं है।

'हाईपीरियन' के आगे कुछ नहीं सुहाता। बड़ी गजब की कविता है। वाह रे कीट्स! हजारों वर्ष तक यह दकदकाती रहेगी। कभी भी मैली न पड़ेगी। 'रामकी शक्तिपूजा' कहीं नहीं ठहरती। यह अन्तर्द्वन्द्व और यह उसका निरूपण कमाल का है। निराला जी 'तुलसीदास' में कुछ टक्कर लेते हैं मगर कल्पना के बल पर।

तु0 केदार

बांदा

७-५-५८

प्रिय डाक्टर,

पोस्ट कार्ड मिला। यह मालूम हुआ कि श्रीमान लखनऊ आ रहे हैं १३/५ को। मैंने अपनी डायरी देखी तो उसने अपने सीने पर चढ़े तीन केस दिखा दिए। मैं धक्क से रह गया। मजबूरी है। हां, इतने निकट आकर यदि एक दिन को बांदा

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 291

चले आओ तो भेंट-मुलाकात हो जायेगी, फिर जैसी तुम्हारी सनक। बनारस भी जून के महीने में जाऊंगा। अभी नहीं। बांदा से तबियत ऊब रही है। यही कारण है।

यहां गरमी रानी दिन में धूप की जलेबी बनाने लगी हैं। खूब मरण है। प्रयाग गया था। वहां भी नरेन्द्र शर्मा से भेंट हुई थी। पंत जी के वहां ठहरे थे। पंत जी भी थे। तुम्हारा भी नाम आया था।

सस्नेह तु0

केदार

बांदा

२७-५-५८

डियर,

पोस्ट कार्ड मिला। "गदर के फूल" पढ़ूंगा जब इलाहाबाद जाऊंगा और वहां से खरीद लाऊंगा। यहां मिलना असम्भव है। तुम्हारी सलाह न मानूंगा तो क्या गधा बना रहूंगा।

जरूर लिखिए सन् सत्तावन की कहानियां। वह पी0 पी0 एच0 से प्रकाशित होगी, यह भी अजूबा अचरज है। क्या वह ऐसा जरूरी काम करने पर तत्पर हैं? पिछला इतिहास तो कुछ और ही कहता है। खैर, बुद्धि आयी तो।

ज्यादा खर्च है। मास्को न जाओ, कोई बात नहीं है। यह तो फिर कभी भी हो जायेगा। जेब कतर कर केवल पत्नी ही, आज के युग में पायजेब पहनती हैं। हम कठिन कमाई करने के बाद यह ऐयाशी नहीं कर सकते कि घूमें। वह तो लेख लिख कर भी अपने विचार प्रकट कर लगे। अल्मोड़ा तो जा ही सकते हो। वहां न जाना कंजूसी होगी। मगर हिस्टारिकल मैटीरियलिज्म लिखने पर उतारू हो तो जरूर न जाओ। पुस्तक दोगे तो समझ का मसाला सबको पढ़ने को मिलेगा।

प्रिय ललित पास हो गए मैंने अखबार में देखा था। तुमने तो सूचना भी न दी। अपने पत्नी वाले गृह में अभी विरह जटायु है, इससे उनका दर्शन दुर्लभ है। बेटा भी प्रयाग है। हम नहीं लिख रहे।

तु0 केदार

1. गदर के फूल—अमृतलाल नागर की पुस्तक

292 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

प्रिय डाक्टर,

याद कर सके यही क्या कम है। मुझे विश्वास था और है कि तुम पत्र भेजोगे—चाहे देर हो या अबेर। आज मैं तुम्हारे पास कुछ अपनी कविताएं भेजता हूं। लो देखो कैसी हैं?

1. संगमरमर का सबेरा!—

और उसकी मूर्तियां हम
मूक जड़वत!
आह! हमको
शस्य श्यामा छुए, चूमे,
और भेंटे!

2. मैं बादल हूँ—

आषाढी जामुन के रंग का,
लेकिन तप कर
मैं बादल हो गया कनक का,
और तुम्हारा क्षत्र हो गया।

3. यह जो नाग

दिये के नीचे
चुप बैठा है,
इसने मुझको काट लिया है;
इसे काटे का मंत्र
तुम्हारे चुम्बन में है;
तुम चुम्बन से मुझे जिलाओ!

4. लिपट गयी जो धूल पांव से
वह गोरी है इसी गांव की
जिसे उठाया नहीं किसी ने
इस कुठांव से

5. मिट्टी का यह श्याम-हरित तन
तरुवर!

इस पर बैठी नीले रंग की चिड़िया
गाती है नीले समुद्र का गाना।
मैं इस गाने में रहता हूँ डूबा।
दुनिया ऊबी, मैं तो कभी न ऊबा!!

6. न दिन-न रात

आठों पहर

आयी याद जैसे लहर
और उस आड़ने को
—जिसमें तुम जरूर हो—
लेती है आह! ऐसे छाप
जैसे हम दोनों का
होता है मिलाप!

7. मेरे मन का सुआ घुमक्कड़ बागीचों का,

.....—टूठ पर आ बैठा है,—
जैसे पत्ता एक बचा हो गिर जाने से
पतझर में जो बोध कराता है सावन का
हरियाली जब फूट निकलती है पेड़ों से
बूढ़े वन में भी तरुणाई की उमंग से।
क्यों बैठा है?—क्या बिसूरता सुधि में खोया?
नहीं जानता है दुनिया का पंडित कोई।

उसके पंख हरे पत्ते हैं नहीं पेड़ के।
बाहर से वह सावन, भीतर से पतझर है!!

8. हे मेरी तुम!

बिना तुम्हारे—

जलता तो है दीपक मेरा

लेकिन ऐसे

जैसे आंसू की यमुना पर

छोटा-सा खद्योत टिमकता!

9. हे मेरी तुम!

इसी सड़क पर हम चलते हैं रोज सबेरे!

इसी सड़क पर चलते-चलते

हमें साल के साल हो गए,

तले हमारे जूते के बेहाल हो गए;

लेकिन चलना नहीं छूटता,

चलने का क्रम नहीं टूटता;

क्यों कि यहां के पेड़ वही—

पर फूल-पात की बनक नयी है

क्योंकि यहां की वायु वही—

पर बार-बार की छुअन नयी है!

10. धूप नहीं, यह—

बैठा है खरगोश पलंग पर

उजला,

रोएंदार, मुलायम—

जिसको छू कर

ज्ञान हो गया है जीने का।

यह तो हुई कविताएं!

अब आप पढ़िये और अपने विचार लिखिये।

इधर इसी तरह की अन्य कविताएं भी लिखता रहा हूं। आज दांत में दर्द है। फिर भी जी नहीं माना। तुमसे बात करने को ललक उठा हूं। तभी कविताओं से तुम्हें वाक्-मुखर करने बैठा हूं। याद रहे कि पत्र का जवाब देने में चूक न हो। मैं ज़रा मोटी अकल का हूं इससे खूब समझा कर लिखना। तुम्हारे निशाने अचूक हैं। अपनी कमजोरियों को जान कर उत्साह होता है कि उन्हें दूर करूं। लेकिन यह सब होते हुए भी बार-बार गलती कर ही बैठता हूं। कविता आती है तो जैसे रहा नहीं जाता। फिर जो लिख लो वही कई दिनों तक बहुत अच्छा लगता है। अपने मुंह मियांमिट्टू बना रहता हूं। मगर काव्य के गुण दोष इतने अधिक हैं और इतने सूक्ष्म हैं कि सहज ही क्या, घूर-घूर कर खोजने पर भी मुझ अंधे को नहीं दिखते। तभी तुम्हारी शरण लेता हूं कि पारखी महोदय! मेरी चीजें भी परख कर राय दो।

मौसम ऐसा है कि धूप नहीं है। आसमान एक ही श्याम रंग से ढंका है। बादलों के हाथी-घोड़े, और बनते-बिगड़ते चित्र नदारद हैं। वह लोचदार लपक भी नहीं है जो कटाक्ष की तरह गजब ढा देती है प्रेमियों पर। अभी-अभी कुछ बूदें झरी हैं। आंगन के पत्थरों पर उनके गीले स्वभाव व्यक्त हो गये हैं। वह छमाछम भी नहीं है। सामने नल चल रहा है। बालटी भर रही है। पानी बोल रहा है। आंगन के कच्चे कोने में पहले की कटी, रातरानी ने पत्तियां निकाल दी हैं। वह जरूर जियेगी और महकेगी। तुलसी थाले की तुलसी लम्बी हो गयी है, जैसे सयानी कन्या। तार पर उतारे हुए कपड़े-ओलौती के नीचे-टंगे हैं। कोई काला है। कोई सफेद। कोई अचकन है। कोई पाजामा है। हां 'बनियाइनें' भी हैं—धुली, साफ, गोरी-गोरी। झड़झर पर गिलास उल्टाया है। पता नहीं कि पानी ठंडा है या नहीं। अखबार में पढ़ा था कि सबेरे कि रूसी बालिंटियर्स तैयार हैं नासिर के आदेश पर जाने को। क्या जाने क्या हो रहा है। स्वेज नहर के मामले में U.S.A. व U.K. चूक गये—मात खा गये थे। अब इस बार पहले ही पड़ाव डाल चुके हैं दोनों चौधरी। हम साधारण जन इसे देख कर गांव के लट्ठमारों की दलबंदी की याद करने लगते हैं। वहां भी विरोधी अपने पालतू शेरों को बुला कर खून चटाते हैं और मौके पर जान लेते हैं। क्या यही है न तरीका। कल युद्ध के समय लिखी गयी पहले की अंग्रेजी कविताएं पढ़ रहा था। खूब हैं। मगर क्या उनका कुछ भी असर पड़ा वहां के तथाकथित सभ्य राजनीति के रहनुमों [रहनुमाओं] पर? शायद उन्होंने उन्हें पढ़ा भी नहीं। पढ़ते ही क्यों? वह ऐसी रचनाओं को देखते ही नहीं। शायद वे समझते हैं कि कविताएं तो बच्चों को अक्षर ज्ञान कराने के लिए तथा तीव्र बुद्धि बनाने के लिए पढ़ाई जाती हैं। वह आदमी को अच्छा आदमी बनाने के लिए नहीं पढ़वाते। क्या मूल्य है उन अमर रचनाओं का? बड़ा ही अफसोस होता है जब फिर युद्ध की 296 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

आवाज गूँजने लगती है। सभ्यता और संस्कृति का सम्बंध राजनीति से अलग कर दिया गया है। प्रयास ज़रूर हो रहा है कि राजनीति छिनाला न करे पर बहुत ही कमजोरियाँ हैं इस प्रयास में। अच्छा तो सलाम।

तु0 केदार

बांदा

१७-१२-५८

हे प्रथम—प्रिय; पुनः—निर्मम सम्पादक!

पत्र मिला। देर से। मैंने सोचा था कि लड़का गया था उसी के द्वारा पत्रोत्तर आयेगा। वह इलाहाबाद रह गया। पत्र पहले आ गया। बाद को बेटेराम खाली हाथ आते ही। मालूम हुआ कि वह मिल तो आया है।

झांसी २४/१२ को रहूँगा कमिश्नरी में। फिर अगर मौका लगा तो आगरा एक दिन को—पचीस के कुछ घंटे को या तो पुनः बांदा। इन्तज़ार कर सकते हो।

मेरा लेख बढ़िया था ही। छपने पर तो वह टाइप के हरूफों में स्वच्छ जरूर हो गया है। मैं तो अभी लेख लिखना सीख रहा हूँ। मुझे कटाई-पिटाई बुरी नहीं लगती। न कभी लगी थी। तुम्हारी बात दूसरी है। दिग्गज हो फिर सम्पादक हो। पहलवान भी हो शास्त्रार्थ करने में और शास्त्र में पूरे पारंगत हो कौन नहीं थरथराया तुमसे। एक हमी हैं जो नहीं डरते। डियर हो न! बड़ी उदारता बरती है तुमने कि मुझे, सम्पादकीय रूप से, कलम के धनी श्री चन्द्रबली से श्रेष्ठ लेखक घोषित कर दिया है। मैं जाति का बनिया जरूर हूँ, पर फूल कर 'घी का कुप्पा' नहीं हो गया। इस प्रमाण-पत्र को पा कर कलेजा दहल गया है कि राम आगे बड़ी मेहनत करना [करनी] पड़ेगी। सारी मस्ती हर जायेगी। ऐसे वाक्य तो केवल उन्हीं को 'मगद का लड्डू' बनाते हैं, जो कुछ भी नहीं करते और 'खामखाह' यशः प्रार्थी होते हैं। मैं तो अपने को खोजता रहा हूँ कि कहां हूँ और क्या सच है और मैं उसे पकड़ कर जी रहा हूँ अथवा नहीं। मुझे काठ हो कर या रह कर मरने में दुःख होगा। मरो तो इस शान से कि मौत भी एक ऐसे फूले-फले पेड़ को कंधे पर रख कर चले कि जिधर से निकले-रूप-रस और गंध बरस पड़े, हमें यश न चाहिए। हमें चाहिए पूर्ण विकसित मनुष्य की मौत।

हरजन¹ पढ़ रहा हूँ। विचार स्पष्ट होते ही कुछ-न-कुछ लिखूँगा। लेकिन केंचुए की चाल चलता हूँ, देर लगेगी। कच्ची कलियाँ कैसे किसी को भेंट दूँ? फिर तुम

1. उन्नसवीं सदी के रूसी जनवादी लेखक।

तो गले में बेला के खिले फूलों का और गेंदे का गजरा पहनते हो—भला मैं कैसे हिम्मत करूँ कि नहीं कच्ची कलियों की माला पहनाऊँ जनाब को अपने लेख के द्वारा। यकीन रखो ज़रूर लिखूँगा।

'धूप चुराये गेंदा फूला है' गरीब के दरवाजे पर; / शाम सांवरी सोने का कंठा पहने है बड़े चाव से; / सम्पादक की आंख देखती है सोने के इस कंठे को, / जिसे देख कर धरती का यौवन जीवन में छा जाता है।

कहो, है न यह अनूठी बात?

गेंदे पर एक कविता ही लिख डालो। लेख लिखना आसान है—कविता लिखना बड़ा कठिन है न! वरना क्या बात है कि कविता नहीं लिख आती।

'राम की शक्तिपूजा' के अर्थ हमने खुद ही निकाल लिए। परेशान न होना।

सस्नेह केदार

बांदा

३०-१२-५८

रात, ७ बजे

मेरे मस्तमौला डाक्टर,

तुम नहीं जानते जो मुझ पर गुजरी है तुम-सब लोगों से काई की तरह फट कर आगरे से बांदा के लिए चलते समय! मैं ही जानता हूँ। मेरा चार दिन का निवास—तुम्हारे साथ का—मुझे अद्भुत शक्ति और प्रेरणा दे रहा है। वैसे पहले भी तुम्हारे साथ घुला-मिला हूँ, लेकिन जितना इस बार उतना शायद पहले कभी नहीं घुला-मिला था। इस बार तो तुम मेरा हृदय और मेरी आंखें हो गये हो। यही कारण है कि अधिक दिन जीने की आशा और उससे दुगना उत्साह ले कर आगरे से वापस लौटा हूँ। जीवन में दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर आ गया है। वह अन्तर बाहरी नहीं, आन्तरिक है। यदि कहूँ कि मेरे 'भूत' का गुणात्मक परिवर्तन हो गया है तो अत्युक्ति न होगी।

रात १२ बजे पहुंच गया था। फिर सो गया। अभी तक श्रीमती जी से वहां की बातें नहीं हुईं। अब रात डट कर मंत्रोच्चारण होगा। वह भी निश्चय ही प्रसन्न होंगी।

रास्ते में, झांसी तक एकासन से बैठा रहा था। कुछ पढ़ नहीं सका था। झांसी के बाद, बांदा के रास्ते में Dialectical Materialism का प्रथम भाग पढ़ने लगा। लगभग ८० पेज पढ़ गया। बढ़िया लिखा है मेरे यार ने। बधाई देने का मन होता है। ऐसा लगता है कि मारिस कार्नफोर्थ को, उसके घर जा कर, सलाम मारूँ। जिन 298 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

प्रश्नों पर हम-तुम रात को देर तक बात करते रहे थे उन प्रश्नों को ले कर इस लेखक ने विचार किया है। मुझे तो बेहद पसंद है इसकी सरल, प्रकाश-किरण देने वाली शैली। विश्वास है कि तुम्हें भी अच्छी ही लगी होगी अन्यथा तुम मुझ खूसट के जेब से गाढ़ी कमाई के रुपये उस दूकान में न फेंकवाते। तुम्हें भी बधाई देता हूँ कि तुमने मेरे मन की पुस्तक मुझे खरीदवा दी।

आज घर पर रहा। सबेरे सामान ठीक करता रहा। कमरों की धूल साफ की। कानून की किताबों की चुप्पी तोड़ी और उनकी गरदनों से मल छुड़ाता रहा। मेज पोंछी। बाद को एक मुअक्किल दस दे गया, एक नोटिस लिखा कर। फिर जूतों को अपने हाथ से चमाचम करता रहा। जानते हो न कि अपने जूतों को चमकाना (भाववादियों के दर्शन के मतानुसार) न चमकाने के बराबर है। मगर वह चमके हैं। उनकी यह चमक उन दार्शनिकों के ब्रह्म की निरपेक्ष चमक है जो शायद कहीं अदृग् रहती है। अपने राम तो रास्ते में और भी भौतिकवादी हो गये हैं। तभी तो जूतों की चमक में अपने—‘भूत’ का गुणात्मक परिवर्तन देखते हैं और इसको अपने का कर्ता और भोक्ता दोनों मानते हैं। जय हो हमारे अपने स्वस्थ दार्शनिकों की।

दोपहर खाना खा कर विश्राम करता रहा। आज कचहरी जाने का मन ही न हुआ। मैंने भी काम न होने का बहाना पा कर कचहरी का मुँह नहीं देखा। जाता तो जूते मैले कर और रुखे धुले बालों में गर्द जमा कर खाली खीसा घर लौट आता। तब शायद कुछ उदास हो ही जाता। नहीं गया इसी से पूरे उत्साह में रहा। फिर शाम कहे-अनुसार अकेले टहलने गया दूर तक। खेतों की ओर। देखा कि यहां तो हरियाली का अकाल है और सरसों का पता ही नहीं है। क्या कोई चुरा ले गया है? कुछ भी पता न चला कि यह क्या माजरा है? तुम्हारे यहां की धरती ने तो कलेजा चीर कर लहलहा कर हरियाली और पीली सरसों चारों ओर फैला दी है। यह देख कर कुछ खिन्न भी हुआ अपने प्रदेश की भू-माता पर। पर यह विचार कर कि देर में ही सही हरियाली होगी और सरसों फूलेगी फरवरी के महीने तक, प्रसन्न हो गया। यह स्वभाव हमारे चटियल मटमैले प्रदेश का है कि योगिराज शिव की तरह रहते हैं और जब कामदेव बाण साधते हैं और पार्वती तपस्या करती हैं तब बड़ी मुश्किल से भावोद्रेक की अवस्था में आते हैं। न जाने कैसे तुलसी बाबा इस प्रदेश के हो कर भी तुम्हारे प्रदेश के राग रंग से जल्दी ही भर कर रत्नावली के लिए अपनी ससुराल दौड़े चले गए थे। वैसे मौसम अच्छा है। ठंड है। खपरैल के नीचे कल भी सोया था—परदा लगा कर। आज फिर सोऊंगा वहीं। पहले तो बिस्तर बरफ रहता है फिर गरमा जाता है। औरों को तो कमरों में बंद सोते देखता हूँ यहां भी। बिल्कुल तुम्हारी तरह ही।

अच्छा तो लो एक कविता। सारंगी मुझे सदा मोह लेती है। ‘युग की गंगा’ में भी एक कविता थी। अब उस दिन तुम्हारे घर रेडियो से सारंगी बजती सुनी थी न। तभी भाव विभोर हो गया था। आ कर मैंने यह कविता रची है। देखो न किस तरह किस-किस प्रकार से किस-किसके भाव यहां आ कर एकसाथ फूट पड़े हैं।

सारंगी सुनकर—

योगलीन शिव की मुद्रा में वादक बैठा
योग-भवानी की सारंगी लिये गोद में
मर्म-कुशल हाथों से उन्मद बजा रहा है
आदि भूत को राग बोध की परिसंज्ञा दे।

जो न कभी अब तक प्रकटे थे भाव भूमि में
वह अणु-अणु से अब प्रकटे हैं अंकुर जैसे
गजदंती, वैदूर्य-मुखी, कलहंस-शरीरी
लाखों की संख्या में सोने के प्रकाश में।
मैं भी रहा न पिंड पठारी, सिंधु हो गया,
सारंगी के स्वरारोह में लहरें लेता,
महाकाश की ओर उमड़ता महावेग से,
शशि-शेखर के अभिनंदन में गूँज उठा हूँ।

महाकाल भी द्रवीभूत हो गया स्वरों से,—
भूल गया अपनी सारी दुर्दम लीलाएं;
कर से छोड़ कुठार, शरद के तरल ताल का,
शतदल खोले, गंध-राग में मग्न हो गया।
बजती रहे सुमुखि-सारंगी इसी भाव से
गलती रहे कुलिश जड़ता भी इसी भाव से
चेतनता फूले सरसों-सी इसी भाव से
शम्भु-भवानी मिलें कंठ से इसी भाव से

कहिए जनाब! है न कुछ काम की कविता। अगर अच्छी लगे तो अपनी पीठ ठोक लेना मेरी समझ कर। न अच्छी लगे तो अपने गाल लाल कर लेना चपत लगा कर मेरे गाल समझ कर। इस प्रेरणा के तुम्हीं कारण हो। न जाने तुमने कितनी सुन्दर-सुन्दर रचनाएं इस बार सुनाई हैं। देखो कब तक यह रूप-राग-गंध का खजाना मेरे मन के भीतर भरा रहता है। इस समय भी तुम्हारे घर में बैठा हूँ जैसे। इतनी ताज़गी थी उन कविताओं में, इतना उदात्त स्पन्दन था उन सब रचनाओं में

कि काल उन्हें मलिन नहीं कर सका और न कर सकेगा।

अभी कल भी कुछ काम नहीं है। दिन सूखे ही जायेंगे, कचहरी के। पर विचार है कि कल जाऊंगा। कुछ मिलेगा तो जेब में रख कर लौट आऊंगा, कुछ खुश-खुश। अन्यथा आंख नीची किए सरक आऊंगा अदेखा—जैसा।

अभी कविता गूंज रही है। वह निकले चाहे जैसी, लिखूंगा जरूर। भेजूंगा भी।

काश! यह खत अभी ही तुम्हें मिल सकता और तुम अभी ही पढ़ सकते और अभी ही उत्तर दे सकते? पर जानता हूं कि ऐसा असम्भव है। अभी हम जैसों को समय और दूरी पर विजय पाना कतई नामुमकिन है।

अच्छा तो राम-राम।

मैं उन्हें किस तरह धन्यवाद दूं जिन्होंने मेरे लिये चूल्हे की आंच में बैठ कर कई दिन तक खाना पकाया है और तकलीफ उठाई है। मैं तो खा कर स्वाद की सराहना ही कर सकता हूं। परन्तु उन्हें इस ममता के कोमल व्यवहार के लिए किन शब्दों में अपनी कृतज्ञता की अंजलि दूं मेरी समझ में नहीं आता? मैं यही कह सकता हूं कि मैं उनकी ममता से प्राणवान हो गया हूं और प्रदीप्त हूं।

ललित तो मेरे लिए महाबली ही सिद्ध हुए। रेल में घुस ही न पाता। वह कैंट तक रेल में स्वयं आये। वह तुमसे भी अधिक मुझे स्नेह करता है। मैं भाग्यवान हूं ऐसे को अपना कर।

बेटियों को तटस्थता की दूरी से देखता रहा था। उनके साथ एक हो ही नहीं सका। अपने स्वभाव के कारण। मगर यह न समझो कि मैं उनसे प्रभावित नहीं हुआ। वे जीवन की खपरैली पर आ-आकर नाचने-गाने वाली गौरैया हैं। मैं उन्हें बहुत प्यार करता हूं।

कागज खत्म है गया। कलम सोने जा रही है दराज में (मेज की) दंडवत, महाप्रभु।

सस्नेह, तु0 केदार

बांदा

१६-३-५९

रात ९ बजे

प्रिय भाई,

१५/१६-३-५९ की रात की गाड़ी से, मद्रास से घर वापस आया। मेज पर रक्खा हुआ तुम्हारा बंद लिफाफा मेरी उगलियों से खुलने के लिए लालायित पड़ा

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 301

था। मैंने उसे अपने दिल की तरह खोला। मैंने पढ़ा नहीं—वह खुद ही बोलने लगा। उसको सुनते-सुनते मैं बड़ी देर तक भाव-विभोर रहा। तुम्हारे इस पत्र की प्रत्येक पंक्ति ने मुझे इतना बल और विश्वास दिया है कि मैं फिर से खिल उठा हूं, जैसे मैं कोई कदम्ब का पेड़ होऊं! तुम्हारी आलोचना को पढ़ कर मैं अपनी कमजोरियों को भली-भांति देख सका और यह समझ सका कि वास्तव में कविता फुलझड़ियां छुड़ाना नहीं है, बल्कि योगाभ्यास करना है। तुमने ठीक ही लिखा है कि अनुभूतियों के स्तर-स्तर खुलने चाहिए। काम कठिन है—किन्तु अच्छी कविता तभी बनती है जब कवि उसी में डूब जाता है और आये हुए आषाढी बादल की तरह बरस पड़ता है। मैं इतनी तन्मया की अवस्था में—योगावस्था में—नहीं रह पाता। यह मेरे व्यक्तित्व की दुर्बलता है। मैंने अपने जीवन को इतने गहरे जा कर आज तक कभी नहीं टटोला और उसके अतल में खिले हुए उस फूल को नहीं देखा है जिसका जिक्र तुमने आगरे में इस बार मुझसे किया था। याद है न! तुमने कहा था कि अतल में भी फूल खिला पाया जाता है। टनों पानी के बोझ के नीचे। वही फूल है सच्ची सुन्दर कविता। तुम वैसी ही कविता के देखने के अभिलाषी हो। मैं वह फूल वाली कविता नहीं दे पाता। यह शत-प्रतिशत सच है। पर निराश नहीं हूं डियर। लालसा तो वैसी ही कविता के लिखने की है।

मद्रास एक साफ-सुथरा नगर है। वहां शांति है—सौम्यता है। वहां नागरिकों में क्षुद्रता नहीं है। लोगों में फूलों का प्रेम है। औरत, मर्द, बच्चे सभी फूल पसंद करते हैं। सच पूछो तो मद्रास में फूलों की मुसकान में जीवन जागता जीता, और संवरता है। बड़ा ही भला लगता है जब जूड़ों में धूप-चुराये गेंदे के फूल सुनहली लपट की तरह यहां-वहां आंखों के सामने लहक उठते हैं। फिर हीरे की चमक भी तो हृदय बेध देती है। लोग सांवलें हैं—काले हैं। मगर उनके अन्दर यह जो फूलों का और हीरों का प्यार है, वही उन्हें सुन्दर बनाये है। इस पर कमाल तो देखो नीले सागर का बालू के तट पर क्षण-प्रति-क्षण, ध्वनित होते रहना और श्वेतोज्ज्वल जल-बूंदों का रत्नहार देते रहना। बड़ा ही मनोहारी लगा मद्रास! अन्य बड़े नगरों में तो ऐसा लगता है कि जैसे वहां से कोई हृदय की फुलवाड़ी चुरा ले गया है और शेष रह गया [गयी] है वहां एकमात्र कृत्रिम सजावट। मद्रास में अब भी अक्षत यौवन का सौन्दर्य पूर्णरूप से देदीप्यमान है। दिल्ली में तो मैं गुलगपाड़े में—मोटरो की तेजी में—विशाल भवनों के घेरे में—साड़ी-सलवारों की सिलवटों में—छल्ले-उछाल छैलचिकनिया वातावरण में—जब भी वहां गया—खो गया। सिर चकराया। दिल दब गया। मैं मद्रास में प्राकृत रह सका। यही विशेषता मुझे पसंद है।

302 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

तुम्हारी कविता—‘महाबलीपुरम का समुद्र तट’ पढ़ ही चुका था। वहां भी मोटर से गया। नीला सागर हरहरा रहा था। झाग मार रहा था। तुम याद आये। तुम्हारी कविता याद आई। आंखों में, दिल में नस-नस में, वहां का समुद्र भर गया। पेवस्त हो गया। तुम्हारी भाषा में समुद्र मुझमें सीझ गया। तुमने लिखा है न कि गंगा का पानी वैसवाड़े की धरती में सीझ गया है। ठीक वही हाल मेरा हुआ। मैं समुद्र को सुनता रहा। उसकी भावभंगिमाएं देखता रह। वह अहर्निश का पहरेवा कभी पराजय [पराजित] नहीं होता। खूब है। आसमान क्या टक्कर लेगा उसकी ताकत से। वह तो धुपाया था। फीका था। कमजोर था। दुर्बल था—हारे हुए सैनिक की तरह। न जाने क्यों सागर की ध्वनियों में मुझे सीता की याद आ गयी जो परित्यक्त हो कर राम को आज तक वाल्मीकि के छंदों से उपालम्भ दे रही हैं। मुझे यही सुन पड़ता रहा कि राजा राम तुमने न्याय नहीं किया। तुम प्रजा पुजारी भले ही रहे हो लेकिन तुम धरती की साध्वी सीता के प्रति अनुदार थे। ऐसी मनोदशा में मैंने समुद्र को देखा सुना है। एक घंटे तक यही सुनता रहा। फिर चट्टानों में खुदी मूर्तियां देखीं। तुम्हारे वे वाक्य याद हो आये कि उत्तर-दक्षिण की संस्कृतियों का संगम है महाबलीपुरम। तुमने सच ही लिखा है। धन्य हो।

परन्तु अभी दिल नहीं भरा समुद्र देख कर। घंटों—पहरों उसे देखना चाहता हूं यह सम्भव नहीं हो सका। समय की कमी थी। शादी में गया था—जल्दी थी। फिर कभी गया तो समुद्र की लहरों में, उसकी नीलिमा में बंध कर रह जाऊंगा—न निकलूंगा, न निकलूंगा उसके बाहर। देखो वह दिन कब आता है।

विनय की शादी हो गयी। खूब मिला भाई को। मगर जो मुझे मिला अपने दिलदार समुद्र से—पहाड़ पर खुदी मूर्तियों से—मद्रास के शांति सौम्य वातावरण से—वहां के फूलों से—वह मेरे भाई को भी नहीं मिला। गरीब हूं लेकिन अमीरों से अमीर हूं। दिल देख लो न। प्यारे, अच्छी रही यात्रा।

सस्नेह तु0 केदार

बांदा

१-९-५९

डियर,

अभी कचहरी से आया तो तुम्हारा बहुप्रतीक्षित पत्र मिला। तुम मस्त हो चोला चैन में हैं और मन [में] उमंग है—यह जान कर बेहद खुशी हुई और हम भी तुम्हारी तरह रंग में हैं। अपनी मस्ती का सस्ता प्रभाव नीचे लिखी हुई कविताओं से तुम तक भेजता हूं।

१. श्यामकाय प्रभविष्णु मेघ जो प्राकृत नट है
धीर, वीर, गम्भीर और निःशंक निपट है
महाभूत उस पूर्ण पुरुष से विद्युत-बनिता
हेर-फेर मुख लिपटी-छूटी क्षण-क्षण चकितता
दूसरी रचना है :—

२. अपने घन हैं

यद्यपि ये तम-आवृत घन हैं

फिर भी ज्योति यही घन देंगे

जब बरसेंगे जल बरसेंगे

पर उपकारी

ये नभचारी प्राकृत घन हैं।

अपने जन हैं

यद्यपि ये अध-जागृत जन हैं

फिर भी दृष्टि यही जन देंगे

जब सिरजेंगे सुख सिरजेंगे

युग-अवतारी

ये थलचारी प्राकृत जन हैं।

कहो कैसी रही ये कविताएं? मिस्टर ये अभी की हैं। ताजा हैं।

यह जान कर अवश्य खेद हुआ कि समालोचक बंद होने जा रहा है। यह तो बज्रपात ही होगा। यह वह हथियार था जो सही माने में भ्रम को मार भगाता था और स्पष्ट दृष्टिकोण को सही अर्थ में प्रस्तुत करता था। वह दिन बड़ा ही बुरा होगा जब इसका प्रकाशन बंद कर दिया जायेगा। निश्चय ही आलोचना के मूल्यांकन से सम्बन्धित साहित्य के विकास की सबसे मजबूत कड़ी टूट जायेगी। गुलेरी जी की आत्मा को अवश्य ही दुःख होगा। तुम कर ही क्या सकते हो, जब पेटू, प्रकाशक पैसे की ओर पूरी तरह से घसिटेते हैं और साहित्य की ओर बहुत कम। वे तो केवल साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए ऐसे प्रकाशन करते हैं और जब वह अध्याय पूरा हो जाता है और टके बटोरने का दरवाजा खुल जाता है तो साहित्य पर लात मार कर उसे देखते तक नहीं। मुझे तो याद है ‘मतवाला’ के महादेव सेठ। वाह रे दिलेर। खूब थे वह। खूब थी उनकी साहित्य-निष्ठा। अब के प्रकाशक उनकी श्रेणी में बैठने के काबिल ही नहीं हैं।

नागार्जुन की 'सतरंगे पंखोंवाली' आयी है। कुछ कविताएं आस्वाद बढ़िया देती हैं। कहीं व्यंग [व्यंग्य] है कहीं छिपा हुआ स्नेह। कहीं आम की वौरों [बौरों] पर भौरों टूटते हैं तो कहीं सहजन की तुनुक डालियों के मुरूक न जाने का भय भी होता है। बहुत दिनों के बाद पकी सुनहरी फसल देखने पर जो उल्लास होता है, वह अपनी सादगी में ही कमाल करता है। 'तन गयी रीढ़' भी उम्दा चीजें [चीज] है। इसमें किसी की हथेली का स्पर्श, नाक की उष्ण सांस का कंधों पर प्रभाव डालना, निगाहों के जरिए अन्दर पैठना, अलकों की सुगंध के आते ही रग-रग में बिजली का दौड़ना और हार बार रीढ़ का तन जाना उस हृदय की रसिकता और शौर्य का परिचय देता है जो साहित्य के क्षेत्र में मरा-खपा जाता है। मुंह से गालियों का निकलना भी, कमल से, काले भौरों का निकलना है—बढ़िया उक्ति है। पुस्तक बढ़िया गयी है। मिले तो पढ़ना।

दूसरी पुस्तक शमशेर की आयी है। नाम है 'कुछ कविताएं'। यह भी अपना मित्र अजीब कवि है। संग्रह समर्थ कवि नरेन्द्र को भेंट किया गया है। पहली कविता 'निराला के प्रति' है। अन्तिम कविता अज्ञेय को सम्बोधित की गयी है। देखा तुमने नरेन्द्र और निराला के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करके तथा निराला को, राह से भटकने पर, पथप्रदर्शक के रूप में देख कर, और अज्ञेय के प्रति आत्मीय हो कर मेरे इस प्यारे मित्र ने किस सफाई से इन सब की परम्पराओं की ओर उनके कृतित्व की दाद दे दी है। मगर अगर कोई यह सोचे कि मेरे यार ने उनकी खूबियों को अपनाया है तो उसे [इसमें] उसके कोई लक्षण न मिलेंगे। समूचा काव्य-संग्रह 'शमशेरियन' है। एक कविता तो १.५ [डेढ़] साल में तैयार की गयी है। इसके मतलब है कि जनाब इन कविताओं पर कस कर मेहनत करते हैं और तब ऐसी चीजें देते हैं। कई बातें उठ खड़ी होती हैं इनके पढ़ने के बाद। शमशेर का कोई सम्बंध अपने पास के और दूर के कोलाहल पूर्ण ओर संघर्षरत जग से नहीं रह पाता। वह 'ग्वालियर कांड' से प्रभावित होते हैं तो जैसे शाम के उठते हुए धुआं को सुलगते देखते हैं। वे वहां की हवा को मजूर का हृदय सोखती पाते हैं। लाल निशान को चलते देखते हैं तो रोटियां टंगी हुई समझते हैं (यानी आइंदा वे रोटियां देंगे) का० भारद्वाज की शहादत पर उनका कलाम भी ऐसा ही है। मेरा मतलब यह है कि हजरत की कविताएं अपने 'स्वयंवाद' में रह कर ही बाहर की बहुत खामोश आवाज़ सुनती हैं और कुछ-कुछ अपनी ही रेखाओं के रूप में सामने आती हैं। चांदनी के बेटोस महातल के मौन में चलने की कल्पना भी यही हमारे प्रिय बंधु कर सकते हैं। परन्तु कहीं-कहीं उम्दा तरीके से बात कह दी गयी है। उषा की पानी में हिलती प्रतिच्छवि को किसी गौर देह का प्रतिबिम्ब कहा है, इस ऊंचे फकीर कवि ने।

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 305

सूर्योदय को देख कर कहता है कि इस उषा का जादू टूट रहा है। रेडियो पर योरोपीय संगीत सुन कर कहता है यह कवि : 'परदों में—जल के—
शांत झिलमिल झिलमिल
कमल दल।''

व्यक्त करने का तरीका बहुत ही छोटा है। मगर कभी-कभी बात बन जाती है। कुछ जोरदार पंक्तियां देखो :

“यह समंदर की पछाड़
तोड़ती है हाड़ तट का—
अति कठोर पहाड़।”

फिर हजरत मूसा कहते हैं :—

“पी गया हूं दृश्य वर्षा का :
हर्ष बादल का

हृदय में भर कर हुआ हूं हवा-सा हलका!”

देखा न तुमने कि प्रकृति भी इसे अनुभूतियों से भरती है। 'दिन' की खूबसूरती पर भी वह रीझा है मगर उसे 'किसमिसी गोरा रेशमी' देख सका है। उसकी पंखुड़ियों के तले मोतियों की आब छिपी है। 'एक सलोना जिस्म' साहित्यिक है और अनुभूति से भरी है। देखो,

“उसकी खुली अंगड़ाइयां हैं
कमल के लिपटे हुए दल
कसे भीनी गंध में बेहोश भौरै।”

जहां स्त्री का स्पर्श हुआ कि मिस्टर घुल जाते हैं। बात कमल के दलों की और भौरै की है, मगर हैं मिस्टर कवि की।

मैं कह सकता हूं कि शमशेर सब से कटे हुए, इस भ्रम में हैं कि कविता का क्षेत्र और है और संसार और। कविता वहीं है जहां कवि अकेला हो कर हर पंखुड़ी पर सुबह की चोट देखता है। शायद यही विश्वास शमशेर को 'स्वयंवादी' रचनाएं लिखने में प्रगति और परम्परा दोनों से बरकाये रहता है। शमशेर की कविता सब की समझ में आयेगी ही नहीं और वह भी बहुत कम पढ़ी जायेगी।

अच्छा तो, राम राम।

सस्नेह तुम्हारा
केदार

306 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

बांदा

२७-१०-५९

प्यारे डाक्टर,

१०/१० का पत्र सामने है। अड़तालिसवें साल में आ पहुंचने के लिए हम दोनों की बधाई। शरद का सिंगार और हास लेकर तुम्हें पुनीता प्रकृति ने उस दिन शुभाशीष दी होगी। इस चांदनी [के] की रितु [ऋतु] में पैदा हुए हो। तभी तो जो कुछ लिखते हो वह प्रकाशमय, बुद्धि और विवेकमय और जीवनमय होता है।

चांद गंजी होने का तात्पर्य है कि बुजुर्ग बन रहे हो। बुजुर्ग बनने का मतलब है कि शीघ्र ही घर के बाहर खाट डाल दी जायेगी और आप वहीं आलू-चना चबाया करेंगे और घर में बाल-बच्चे मालपुआ खायेंगे। मगर मैं जानता हूँ जैसी बुजुर्मी आप में है। बड़े-बड़े नौजवान [तुम्हारे] तेज और ताब के सामने हार मान जायेंगे। बाल तो बादल हैं और गंजी चांद सोने का उल्टा तवा जिस पर लक्ष्मी जी का नाच होता है या कि मंद स्पर्श से उंगलियां थिरकती हैं।

अभी हम गंजे होने से बचे हैं। बाल घने हैं।

हम दिल्ली नहीं पहुंचे और न आइन्दा जल्दी पहुंचेंगे। झांसी कब आओगे?— तारीख की सूचना देना। तब मेरे पहुंचने की सम्भावना हो सकती है।

Quality के साथ Quantity भी चाहिए। ठीक है। लम्बोदर हो न। गन-नायक हो न। हम हैं तिन्नी के पेड़ कि थोड़ा सा प्राकृतिक तिन्नी देकर धन्य हो जाते हैं वनवासियों को। फिर भी हवा खा कर जी लो डियर!

लम्बे पत्र की इच्छा थी मगर गड़बड़झाला है—घर में बिजली लग रही है। अब हम भी पत्रों में करेन्ट मारेंगे। सब को सनेह—

तु०
केदार

बांदा

२३-२-६०

प्रिय डाक्टर,

अब अधिक चुप नहीं रह सकता। तुम्हें जिंदगी भर किताबें लिखना है। जिंदगी भर तुम शब्दों के धरातल पर रेंगोगे। मैंने सोचा कि पत्र भेज कर तुम्हें न छेड़ूं और अब तक चुप रहा। मगर तुम अपना काम छोड़ोगे नहीं और मैं हूँ कि अब मौन नहीं

रह सकता। कैसे मनहूस हो कि बंद कमरे में शब्दों के साथ खेलते-कूदते हो और बाहर के मैदान में आकाशी छलांग नहीं लगाते। देखो मौसम की मुसकान और रंगीन जामा। मस्त हो जाओगे। दिन गरम होने लगे। जैसे तुम्हारे घर का गरम हलुआ। शामें दिल पर उतर आती हैं पंखों के रंग फड़फड़ा कर बसेरा लेने के लिए। सुबहें बड़े शर्म से लाल रहती हैं, रात कहीं बसी रहने के कारण। हवा में और पानी में जो शीतलता रहती है वह बड़ी ही प्रिय है। काश, मैं भी आगरे में होता तो तुम्हें घसीट ले जाता धूप के पास। अच्छा महाशय जी, अब किताब लिखना बंद कीजिए हम ऊब रहे हैं।

सस्नेह तु०

केदार

बांदा

१३-१०-६०

प्रिय डाक्टर राम,

अब नागार्जुन भी चले गये होंगे और घूमने-घामने का क्रम बंद होगा। तभी खत भेजने से हाथ रोके रहा कि कहीं रस भंग न कर दे। कवि-सम्मेलन मैंने भी सुना था। मेरे नाम का प्रभाव ही ऐसा है कि सब कुछ बोर कर देता है। मगर कवित्व तो था उस बेचारे में। पहले तो उसे कोई पूछता ही नहीं था। अब दिल्ली तक दौड़ जाता है। शायद बिहारी होने के नाते प्रेसीडेंट का सहारा मिल गया है। राव साहब कब के तीसमार खां हैं। वह समतल पर सदैव सरके हैं। भाषा का बल होते हुए भी काव्य-पक्ष से वे दुर्बल हैं। डियर, बहुत कम लोग अच्छी कविता देते हैं। हम लोग तो कभी बुलबुले उड़ाते हैं, कभी कबूतर, कभी पतंग, कभी औरतों के माथे की नयी-चली 'तिलकित', टिकुलियां और कभी साबुन के इन्द्रधनुषी बुलबुले और इस तरह पर नयी चेतना को प्रकाश में लाते हैं। गिरजा ने तो Hollowman को हिंदी में 'हम पोले हैं' से बचा कर अपनी प्रतिभा से उसे 'हम बौने हैं' कर दिया था और शान तो देखिये कि पाठ के समय मंच से उछल पड़ रहे थे, जो लखनऊ में अपने घर में रात को अकेले सोने से डरते थे—वही तब जब साम्प्रदायिक झगड़े हुए थे। पंत पर तुम्हारी कविता ऐसी है कि यदि वे सुन लें तो फिर भूमि पर पांव रख कर चलने लगे। आजकल तो उनका मान-सम्मान हो रहा है। 'रूपाम्बरा' में हमने भी सहयोग दिया है।

दिवाली आ रही है। कई दिन की छुट्टी है। कम-से-कम चार दिन की तो है ही जजी में। मन होता है कि गाड़ी पर चढ़ बैठूं और पहुंचूं तुम्हारे यहां। पर लगाम खींच लेता हूँ। देखो जैसा मन चाहा वैसा करूंगा। कहीं तुम न मिले तो गज़ब हो जायेगा।

पिकासो का एक चित्र 'कृति' में देखा कि दो नंगी औरतें पास-पास बैठी हैं। सिवाय अंगों के यथार्थ चित्रण के और कुछ नहीं पल्ले पड़ा। हाँ ब्रुश में माहिर वह कलाकर रेखाओं को ही मिटा चुका है। दोनों के शरीर में मांसलता सपाट पर है। दूसरा चित्र है उसी का। सम्भोग की क्रिया में नर और नारी खड़े हैं। पार्श्व में भी कुछ यही हो रहा है। यह भी निरावरण झांकी है। राम जाने क्यों यह सब ऊंची कला है? केवल निर्भीकता और दुस्साहस ही कला नहीं है। पिकासो कुछ और है। अमृता शेरगिल का एक चित्र Illustrated Weekly में आया है—देहाती युवती, काली-कलूटी, कमर में सिर्फ एक चीथड़ा लगाये, निरावरण खड़ी—दाहिने हाथ की गदोरी में एक लट लिए। हथेली लाल है जैसे दहक रही है। आंखें अंधेरी चमड़ी को भेद कर कुछ-कुछ मुलमुला रही है। इसके अतिरिक्त पीछे से कुछ लाली अंधेरा फोड़ कर झलक दे रही है। यथार्थ की यह कृति अपनी गठन में अच्छी है। मालूम होता है कि मौन अंधेरे की नदी बह रही है, भोर होने से पहले, झिलमिली आ रही लाली में, अपने दो कठोर द्वीपों को घेरे, जंघाओं से नीचे जाती। सूरज, चांद, सितारे, जुगनू और बिजली की किरणें सब डूब गयीं हैं उसके तम में।

मुंशी ने जनाब को भी बीच चौराहे में खड़ा करके खरी चोट की है। प्यार से सहलाया भी है हज़रत ने। है न? जो भी हो संस्मरण¹ उम्दा है। उसकी कलम तो खुरखुरायी। बहुत खर्टा ले रही थी सालों से। मलकिन को नमस्कार। बेटियों को प्यार।

अब तो मलकिन अच्छी हो गयी होंगी!

तु0
केदार

बांदा (उ. प्र.)

४-३-६१

हे गलत नाम के सही आदमी!

राम राम!!

देखो न अपना नाम। 'राम' से आगे 'विलास' का सम्बंध; यह सरासर सब तरह से असंगत। बेचारा राम तो 'विलास' से लाखों कोस दूर रहा। सीता मिलीं। वह भी तड़पती रह गयीं। बिछुड़ गयीं। जमीन में समा गयीं। ठीक वैसे ही तुम। तुम्हारा नामकरण भी तुम्हारे जीवन-गुण के सर्वथा विरुद्ध है।

1. नरोत्तम नागर संपादित, 'हिंदी टाइम्स' (दिल्ली) में मुंशी का लेख।

होली है!

'उड़त गुलाल-लाल भये बादर

करत कटाक्ष काल भये काजर

हम बैठे खोदित हैं गाजर-

रामविलास लिखत हैं आखर।

अर र र र र कबीर-

खाओ दूध-मखाना खीर॥

मौसम मस्ती का है। उम्र यों तो 50 के पास सरक आयी है। पर अपने हिन्दुस्तान की मिट्टी-पानी में रहते-रहते अभी भी जवान होने का दम बाकी है। कहते हैं कि अपने भगवान शंकर जी फागुन में 'फगुनाय' गये थे और पार्वती को रसभरी समझ कर ललचा उठे थे। हम तो आदमी हैं। हमारी [हमारे] क्या कहने हैं। पत्थर होते तो असर न होता। दिल है। उसके कारण उसका जाल बड़ा विशाल है और फैलता ही रहता है। मगर फंसती एक भी मछली नहीं। वैसे हम मछली नहीं फांसते। हम उसके व्यापारी नहीं हैं। न हम मांसाहारी हैं। अपने राम शाकाहारी हैं। अतः हम हैं कि अपना जाल हवा में फेंकते हैं और कविताएं पकड़ते हैं—वह भी बहुत कम फंसती हैं और फंसती भी हैं तो जुए के दांव में रात दिन मथने के बाद कभी एक बार नक्की की तरह फंसती हैं। अच्छा हुआ कि आपने इस तरह का रोग नहीं पाला। खूब हंसो हम लोगों पर। पूरा अधिकार है।

आजकल भैरवी सुनने के दिन हैं। सबेरे-सबेरे उसकी नशीली रागिनी मिल जाय तो दरअसल में एक महीने के लिए पूरा नशा चढ़ जाय। अभाग्य मेरी कि कहीं भी नहीं सुन सका। काश! खुद ही गा सकता और खुद ही नशे में चूर हो जाता। इस कमी को पूरा करने के लिए जिगर का संग्रह उठाया। इधर-उधर पन्ने पलटते। है नाज-अंदाज का रसिया कवि। मगर हम हैं कि उनका एक शेर देख कर वहीं अड़ गए और लगे उससे मल्ल युद्ध करने। अभी तक लड़ाई चल रही है। देखो कौन किस सिम्त गिरता है वह शेर है—

तसवीर उमीदों की आईना मलालों का,

इंसा जिसे कहते हैं महशर है खयालों का।

पढ़ कर लगा कि जैसे मियां जी कुछ बड़ी बात कह रहे हैं। शेर के पंजे गहरे तक धंसे। खून निकला। मैं लाल हुआ। मगर यह शेर जंगल का नहीं शहरी तहजीब का पालतू चाट खाने वाला शेर है। कवि जी कहते हैं कि इन्सान विचारों का प्रलय-क्षेत्र है। हमने अपने घूंसे मारे और कहा : कैसे? उसने पंजों से खंरोचा और खून निकाल कर कहा : देखते नहीं हो वह सर्वनाश करता ही रहता है। मैंने मुंह बा कर 310 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

कहा : नहीं—ऐसा नहीं है। सब इंसान ऐसे नहीं होते। तो उसने लम्बी जीभ निकाल कर तरे कर, कहा : मैं करता हूँ उन इंसानों की बात जिन्हें 'इंसान कहते हैं' मगर वह हैं नहीं इंसान। मैं चुप हुआ और सोचने लगा। पर शेर के अन्दर से जिगर साहब निकले और तपाक से अपने शेर की अयाल पकड़ कर उसे चुप करते हुए मुझसे बोले : यहां पर मेरा मतलब हरेक इंसान से हैं। मैं उन्हें देखता रह गया। उनके चेहरे पर ईमानदारी थी, मगर उनकी बात सोलहों आने सही नहीं कही जा सकती। हमने ऐसे भी हजारों मूढ़ देखे हैं जो वास्तव में जड़ हैं; विचार तो जानते ही नहीं। वह तो पेट के मगरमच्छ हैं। शायद जिगर साहब ज्यादा पी गये थे और संतुलन सम्हाल नहीं सके। इतने में शेर फिर गुर्गिया। मैंने फिर उसकी तरफ देखा। उसने कहा : वह इंसान आशाओं की तसवीर है और दुःखों का देवता है। मैंने मुंह बिरा कर कहा : इंसान तो खुद एक मूर्ति है—फिर आशाओं की तस्वीर कैसी है? इससे क्या मूर्ति विधान तैयार हुआ? शेर चुप रहा, पर कहने लगा : हजरत, मनुष्य के आशावादी होने की तरफ इशारा है। मैंने कहा : हां, इशारा भी ऐसा कभी कविता नहीं हुआ करता। यह तो कलम घिसना है। शेर मेरे चाबुक से तिलमिला गया। मैंने दुबारा चाबुक चटकाया और मारते हुए कहा : आईना तो आईना—मलालों का कैसा आईना? शेर बोला : ध्वनि देखो। मैंने कहा : देखता हूँ पर कुछ दिखाई दे तब तो देखूँ। यह तो महज सतही बात है। शेर बोला : अरे शीशे से प्रतिबिम्बित होते हैं मलाल। मैंने कहा : हरगिज नहीं। उसने पूछा कैसे? मैंने कहा : मलाल भाववाचक संज्ञा है। उसका प्रतिबिम्ब कैसे? वह शेर सन्न रह गया। मगर झटके से बोला : यह कविता है। इतना [इतनी] कतर ब्योंत नहीं की जाती। मैंने कहा : यह कतर-ब्योंत नहीं परख है। ऊंचे कवि को ऊंची कसौटी पर कसना होता है। जिगर लड़के नहीं, धुन के पक्के शायर थे। उनका कलाम कमजोरियों से साफ होना चाहिए। वह शेर ठेस खा कर बैठ गया। मैंने कहा : तसल्ली से काम लो शेर जी। मैं मतलब समझता हूँ। सिर्फ कला की पकड़ देख रहा था तुम्हारे कवि की। वह कला दुबली है। हमारे निराला की कला से नीचे है। मगर वाह रे जमाना कि लोग इस शहरी तहजीब के चाट खानेवाले शेर की आवाज सुनकर ही झूम उठते हैं। कितनी मूढ़ता है। होली में इस पर हम काला रंग चढ़ाते हैं।

मगर एक दूसरा शेर देखिये। खूब है—

**हसरत से देखता हूँ हर एक शाखेगुल की सिम्त,
यह जोफ़ और हाय यह आलम बहार का।**

मैंने सुनते ही कहा : यह है कवित्व से भरपूर। यह शेर नहीं भावों का विराट सम्मेलन है। इधर जोफ़ यानी दुर्बलता। उधर आलम—यानी 'सबलता'। फिर

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 311

निगाह में सौन्दर्य की क्षणभंगुरता का दृश्य। हर्ष और विषाद की यह गंगा-जमुनी लामिसाल है। अंग्रेजी के हेरिक कवि की वे रचनाएं इसके सामने मात हैं जो उसने फूलों पर लिखी थीं। एक तीसरा शेर देखो—

उस चश्मे मय फरोश से कोई न बच सका

सबको बक्रदरे हौसलाए दिल सुरूर था

यह दूसरे शेर से ज्यादा अर्थ देता है। गज़ब का है। नशीली आंख—नहीं नशे से चूर कर देने वाली आंख का चित्रण है। आंख वही है, मगर हरेक देखने वाला अपनी शक्ति भर ही नशा पाता है। अर्थात् उसी नशे का प्रभाव हरेक पर मुखलफ तौर पर पड़ता है। इस शेर में आदमी की सौंदर्य-प्रियता की क्षमता की असमानता की ओर संकेत है। मगर फिर भी कवि विश्वास व्यक्त करता है कि कमोवेश सब सौंदर्य-प्रेमी हैं। अब वह 'चश्मेमय-फरोश' कौन है? कोई हो सकता है। फूल हो सकता। स्त्री हो सकती है। कोई भी संज्ञा हो सकती है जो सब पर असर डाल सकती है। लेकिन खूबी है कि वह बेचने वाली या वाला बेचती है [या बेचता है] मुफ्त नहीं देती [या देता]। दाम देने पड़ते हैं चाहे उधार हो या नकद। बिना धन दिए नहीं मिलती। शराब है। बिकती है। यहीं पर शेर में कमजोरी आ गयी है। हम होते तो बेचना नहीं कहते। हमारी प्रेमिका उदार और सहृदय है। सब पर समदृष्टि रखती है। जो भी आता है उसके पास उसके सौन्दर्य की प्रतीत [प्रतीति] के लिए वही वह प्रतीत [प्रतीति] पाता है। अजंता-एलोरा के चित्र देखो। खजुराहो की मूर्तियां देखो। मगर जिगर साहब अपनी पहली पंक्ति में बाजार तक ही रह गए। शायद वह अपनी जिंदगी में इससे आगे नहीं जा सके थे। कहते हैं कि एक वेश्या ने उन्हें काबू में कर लिया था।

मगर इन सबसे उम्दा शेर है :—

निगाहे [निगाहे] शौक्र ने सब खोल दिए बन्दे नक्राब

सहल समझे थे वह पाबन्दे हया हो जाना।

दोस्त, यह बड़ा ऊंचा जानलेवा शेर है। क्या चुटकी ली है लजीली नायिका की। कितनी उत्कंठा है देखने की? कितनी बेचैनी है। पर्दा हटाना ही पड़ता है। आंखें देखने लगती हैं। सौंदर्य के प्रति यह आकर्षण कि लाज भी टूट गयी। यहां वही तन्मयता है जो मीरा में थी। लोक-लाज का टूटना यही है। 'बन्दे नक्राब' यही है शील और लोक-लाज। कवि की इस चुटकी में प्रेमिका की विवशता ही है। वही लाचारी प्रगाढ़ प्रेम की अभिव्यक्ति करती है। यही नहीं, यह विवशता प्राकृतिक है भी और इसका खंडन भी प्राकृतिक है। एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है। ब्रह्म अगोचर है। उसे अपनी सृष्टि के [को] देखने की उत्कंठा है। वह माया का परदा

312 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

हटा कर प्रकट होता है अपनी सृष्टि को देखने के लिए। वह आसान समझता था कि वह छिपा रहेगा मगर उसे परदा हटा कर प्रकट होना ही पड़ा, केवल अपनी तीव्र लालसा के कारण।

मार्मिकता देखो।

हसरत उस तायरे मायूस की हालत पर जो क़ैद से छूट के भी मायले पर्वाज न था।

यह है हुस्न-परस्ती। हमारे यहां की दास-भक्ति। लामिसाल बयानी है। जिससे चाहो वही नहीं सुनता। फरियादी की हताश दशा का अंकन ठीक उतरा है। वह इसी कैदखाने से मुहब्बत करने लग गया है न। क्षणिक सौन्दर्य पर ही वह अपने जीवन को [का]समर्पण कर चुका है। वह अपनी मुक्ति ही नहीं चाहता। कवि ने उसे 'मायूस' कह कर कुछ कम ऊंचा कर दिया है। शेर जरा नीचे खिसक आया है। मायूसी से पक्षी की महानता जाती रहती है। वह मायूस पक्षी न होता बल्कि वह विश्वासी पक्षी होता, जैसे हमारे भक्त कवि रहे हैं। उर्दू में वही भाव आ कर नीचा हो गया है। प्रेमिका के कैद में रहने का तात्पर्य होता है उसके केश-पाश में या बाहु-पाश में बंधे रहना। उससे छूटना क़ैद से छूटने के बराबर नहीं हो सकता। वह तो उसे क़ैद नहीं समझता। दूसरा व्यक्ति उसे क़ैद समझता हो तो वह क़ैद न हो जायेगा। इसलिए इस अर्थ में दुर्बलता है।

यदि इसे राजनीति के स्तर पर ले जाते हैं तो वहां भी क़ैद से छूट कर बाहर आने में मायूसी नहीं होती। इसलिए वहां भी यह शेर नहीं चिपकता।

यहां तो मालूम होता है कि एक निराश व्यक्ति वह इता हताश हो चुका है कि मुक्त होना ही नहीं चाहता। उसकी मायूसी का कारण चाहे जो हो वह इतना अधिक उदास जरूर है कि जीना नहीं चाहता।

देखा आपने कि जिगर साहब एक अच्छे खासे शेर को कैसे एक शब्द को—
मायूस को—रखकर खराब कर गये हैं।

सबसे बढ़िया चीज़ है—

इब्निदा वह थी कि था जीना मुहब्बत में मुहाल इन्तिहा यह है कि अब मरना भी मुश्किल हो गया

यह है युवा-प्रेम और प्रगल्भ-प्रेम का चित्रण। अन्तर कितना मार्मिक काव्यमय है। टकसाली शेर है।

इतना तो लिख गया पर मतलब की बात एक भी न कर सका।

अच्छा तो आप इधर आने की इच्छा रखते हैं। खुशी ही नहीं बेहद खुशी है। मगर आप इच्छाएं तो चटाचट तोड़ देते हैं। कैसे यकीन करूं कि आप घर छोड़ कर बांदे तशरीफ लायेंगे। हम सदा बाहें पसारे खड़े हैं। आओ, चाहे जब।

इलाहाबाद कोई काम नहीं है। एक बार हो आया हूं। फिर जा कर क्या करूंगा। तुम्हीं यहां आओ दो-चार लोग मिलेंगे। भाषण देना दो-एक। कुछ हमें भी 'बना' कर सोना कर जाना।

अच्छी बात है कि आजकल अमृत नागर के फेर में हो। वह तुम्हारी बंद 'खुसबोय' बाहर निकाल देंगे। हम उस शब्द का प्रयोग नहीं करते जिसका प्रयोग उग्र ने अपने लेख में 'हिन्दी टाइम्स' में मय सम्पादकों की खबर लेते समय किया था। वह हिन्दी का खराब शब्द है। फिर यार मेरे ने टिप्पणी छपाई कि वह प्रेस के भूतों ने छाप दिया था, उसने नहीं लिखा था।

'अनर्गल साहित्य' का ही जमाना है। इसी की 2-1/2 [ढाई] मन की भरती है। देखो न सीकिया कविगण भी इतना वजन पीठ पर लादे-लादे हर पत्रिका के पेजों में विचरण करते हैं। बेवकूफ वह जो साहित्य लिखे और अनर्गल न लिखे। फिर दोस्त मेरे, उसी में डूबो, वही मज़ा देगा। देखो न किसी टिप्पणीकार की वाणी कि किस प्रकार अनर्गल को भी सार्थक सिद्ध करती है। व्यक्ति स्वातंत्र्य का यह अन्तर्मुखी साहित्य जीवन को हेय समझता है। वह उन द्वीपों में धुएं के महल देखता है जो मूंगे के बने होते हैं और जहां आदमी नहीं, न उनके शब्द रहते हैं, बल्कि जहां रहते हैं शब्दों और अर्थों के भूत-पिशाच। अच्छा है कि मसान जगा रहे हो।

कहो, घर कहां तक बन चुका? कब तक ईंटों पर ईंट रखी जाती रहेगी? क्या रहने के काबिल हो गया? कब तक वहां पहुंचोगे?

लाल अमृत नागर से मेरी दुआ-बंदगी कहना। उनकी आवाज तो रेडियो से कभी-कभी सुन लेता हूं। एक बार तुम भी लखनऊ से बोले थे। तवे से बाहर कूद पड़े थे। याद है न?

आशा है कि मजे में हो। हम चैन से हैं।

हमारा नाम भी गलत है! हम नाथ नहीं अनाथ हैं।

तुम्हारा सस्नेह
केदार

बांदा

७-३-६१

पुनश्च :-

खोद है कि यह डाक में न डाल सका। धरा रह गया। अब भेजता हूँ। आज बेचारे पंत जी नहीं रहे। बहुत बीमारी के बाद चल बसे। अफसोस!

तु0 केदार

बांदा १५-१०-६१ रात ९-१/२ [साढ़े नौ] बजे

भाई,

वही हुआ जिसकी आशंका आज सबेरे से थी। 'लीडर' में पढ़ा था कि उन्हें आक्सीजन दिया जा रहा है। दिन-भर अधीर ही रहा। रेडियो ने सूचित किया कि वह नहीं रहे। हिंदी का 'गरगज'.....कविता का दिग्गज उठ गया। क्या कहूँ। मैं तो दुखी हूँ ही। तुम भी विचलित पड़े होओगे। धैर्य धरो दोस्त। तुमने तो उन्हें अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति 'भाषा और समाज' समर्पित करके अपना ऋण चुकाया। मगर सौजन्यप्रिय सरकार उन्हें मान-सम्मान न दे सकी। कितनी विगदधता है इस व्यवहार में। काश, तुम गये होते और महाकवि को देख आये होते।

बेचारा जयविशाल¹ तड़प गया होगा। मैंने उसे महाकवि के इस महासंकट के काल में, उनके पांव चापते और उन्हें मुग्ध करते देखा है, अभी कुछ दिन पूर्व।

तु0 केदार

बांदा : २५-१२-६१

प्रिय डाक्टर,

मौसम आगरे में ही फौक्स नहीं है। यहां भी डबल निमोनिया के वजन पर डबल फौक्स है। ठंडे के साथ-साथ ठिठुरन है। ढेर कपड़े पहने हूँ, फिर भी डोला जाता हूँ। मेरुदंड बेईमान की नियत [नीयत] की तरह डोल रहा है। सीने में ठंड की हिमानी मुट्ठी रखी है। ऐसे में बहुत संभाल कर—दस्ताने पहने हाथ में—यह पत्र लिख रहा हूँ। मेरा तो वही हाल है जो आर्कटिक सागर में चल रहे जहाज का। सिर पर स्तूपकार कनटोपा चढ़ा बैठा हूँ। मैं हूँ कि शीतकाल के शीतयुद्ध से बचने के लिए बुद्ध भगवान की शांति का आश्रय लिये बैठा हूँ। ऐसे में तुम्हारा लम्बे डग की लेखनी का पत्र मिला। चश्मा चढ़ा कर सपाटे से पढ़ गया। मालूम हुआ कि

1. जयगोपाल मिश्र

पहलवान 'राम' रावण से युद्ध कर रहे हैं। निराला के शब्दों में शक्ति का सामना शक्ति से करो। तुम तो इधर निराला पढ़ भी रहे हो। हम तो उनके मरने के कुछ महीने पहले ही उन्हें समझ रहे हैं। उनके गीतों के अर्थ खोल रहे हैं। कहीं-कहीं खूब खुल जाते हैं। कहीं-कहीं शब्द ही बजते रहते हैं। अर्थ छिपे के छिपे रहते हैं। बड़ी मेहनत की यह खेती है—निराला के गीतों का अर्थ समझना। पट्टा ऐसे-ऐसे दांव लगाता है कि पंडित लड़खड़ा कर भूलुंठित हो जायें। शब्द भी वहां नये-नये मोरचे पर लड़ते हैं। चारों तरफ गरदन फेरते हैं। कभी पहचानी चाल से मार करते हैं तो कभी अजानी चाल से पैर पटकते हैं और दिल पर हाथ नहीं धरने देते। निराला ने कुल्ली भाट को तो भीतर-बाहर दिखा दिया पर करामात से ऐसा कुछ कर गये हैं कि उनकी वाणी में भरा भाव गीतों से सहज ही नहीं प्राप्त होता। बड़े गंभीर मौन के साथ निराला की कला गीतों में गहरी हुई है। पहले तो वह, शुरू में, कला को दिखाते थे भाव के साथ। बाद को तो वह भाव को भी और कला को भी छिपाते थे। वह जहां तक आये थे, वहां तक पक गये थे। डाल में बेल की तरह उनके गीत हैं। ऊपर से कठोर। उरोजों की उपमा लिए। पर हैं शिव के उस अर्द्धांग के गीत जो तपस्या से शुद्ध हुआ है। एक बहुत बड़ा अचरज है कि निराला के गीतों में शिव और पार्वती दोनों के दर्शन होते हैं। शिव की अनासक्ति, शिव का योग, शिव की चेतना, शिव की सिद्धियां, तथा शिव का शरीर—सब कुछ है इन गीतों में। साथ ही इन गीतों में पार्वती भी हैं। वह निष्कलुष जरा मरणविहीन तपस्वी सौंदर्य है कि वह दिव्य क्षणों में ही आभास देता है। देखो न :—**हाथ वीणा समासीना—विशद वादन रत प्रवीणा—घिरे बादल गगन मंडल—तरल तारक नयन अविचल—तार के झंकृत सुकोमल कराहत करका सुखीना—राग सावन मनोभावन—भामिनी के भवन पाषन—दीप्ति नयनों की सुहावन—नाक का हिल रहा मीना।** इसकी कला देखो ऊपर से नीचे ठोस। महाकवि ने अपनी काव्य-साधना को, सरस्वती की आराधना को अपने जीवन चरित को और युग के साहित्यिक जीवन चरित को एक ही धरातल [पर] उतार कर संवार दिया है। पहले तो सरस्वती को बराबर पर बिठा लिया है। अपने को उस देवी के समकक्ष रखने का भाव है। अपनी कविता का भरोसा व्यक्त किया है कवि ने। उधर सरस्वती भी उसके घर आयी हैं। वह भी कवि को श्रेष्ठ समझती हैं। तभी तो सुपात्र के पास बैठ कर वीणा बजाती हैं। बादल घिरे हैं। कवि के जीवन में और काव्य के जीवन में और सरस्वती के जीवन में। तीनों तरफ आकाश आच्छादित है। सावन जो है। तारे भी छिपे हैं। परन्तु देवी के तारने वाले तरल नयन तो हैं। वह चमक रहे हैं। तरल से सहृदयता और संतोष की तृप्ति का भाव है। दुख में भी कविता, संगीत और जीवन

एक [साथ] चल रहे हैं। यह खूबी है। ओले पड़ते हैं। वैसे ही संगीत भी बज रहा है। वेदना का बोध अव्यक्त से व्यक्त होता है। वह भी सुख देनेवाला है। वेदना में सुख की अनुभूति व्याप्त है। गीत नहीं बंद होता। सरस्वती चल नहीं देती। कवि भग [भाग] खड़ा नहीं होता। क्रम चलता ही रहता है। सरस्वती की आंखों की ज्योति देखता है कवि। अपनी काव्य-साधना पर प्रसन्न देखता है देवी को। तभी मीना के हिलने में स्वीकार का भाव है। यह है कला और यह है कविता। एक दूसरा गीत है :—‘जावक जय चरणों पर छाई’ बसन्त का गीत है। ‘पलक पलास डाल कलियाई’ कहा है। पैर से सिर तक का सर्वांग दर्शन है। लक्ष्मी बसन्त के चरणों पर अपनी जय का जावक समर्पण कर चुकी हैं। वाह रे महाकवि! ‘थोक अशोक कोकनद फूले—मधु के मद भौरै दिक भूले’—यहां रवीन्द्र की याद आयी। वह वधू में कहते हैं ‘करबी थोलो थोलो रपेछे फुटी।’ वहां कनेर फूलते हैं—परन्तु थोलो-थोलो की ध्वनि से सौंदर्य थुलथुला जाता है। मारवाड़िन का खुला पेट दिखने लगता है। यहां निराला का ‘थोक अशोक’ चैलेंज देता है दीनता को, दारिद्र [दारिद्र्य] को अरूप को और दम्भ और अहंकार को। फिर मधु पी कर मस्त हुए भौरों का दिक् भूल जाना भी सुगंध की अतिशयता का बोध देता है। तमाम तरह की खुशबू—तमाम तरह के इंद्रिय बोध—चेतना हरण का भाव—खुशबू के परदे जैसे पड़ गये हों। और चलो। कवि कहता है : ‘पावक पाश दिगन्त बंधा है।’ यह एक पंक्ति ही जीवन और दर्शन, ज्ञान और विज्ञान का रहस्य प्रकट करती है। बड़ी बढ़िया अमर पंक्ति है। सौंदर्य देखो, धूप का जैसा चित्र है। ‘अग-जग जैसे अडग सधा है।’ इसी पर सधने का भाव भी खूब है। आग से बंध कर ही सृष्टि क्षय नहीं होता—चिर विकसित है। फिर अन्त में कवि कहता है कि इतना सौंदर्य है कि आंखों को देखते-देखते थक जाना पड़ता है। कहता है कि ‘नभ में नयन मुक्ति मंडलाई।’ यह है धरती का वास्तविक सौंदर्य। शायद कवि कालिदास इतने कम में इतना भरपूर सौंदर्य और रस नहीं भर सके। अर्थ निर्वाह कमाल का है।

बहुत हो चुका दोस्त। अब कलम नहीं चलती। फिर दूसरे पत्र में। सेवा को गरमागरम प्यार+पकौड़ी।

तु0 केदार

पुनश्च:—

पत्र पाते ही फिर लिखूँगा। निराला पर ही। ‘जनयुग’ निराला अंक फिर निकालेगा।

तु0 केदार

केदार नाथ अग्रवाल

एडवोकेट,

बांदा (उ० प्र०)

दिनांक २६-३-६२

रात १० बजे

श्रीपत्री जोग लिखी बांदा से लाला केदारनाथ की जै गोपाल पहलवान श्री रामविलास आगरा वाले को पहुंचे। चिट्ठी आपकी आई। समाचार जाना। आपका पोस्टकार्ड नारद महाराज की तरह आ धमका। हम ठहरे लाला। सो हमने उसका हृदय से सुआगत किया। डर गए कहीं दिनकर का हिमायती पहलवान न इसके अन्दर से पेट फाड़ कर निकल आये। यही हमारी कमजोरी थी। वरना हम तो ऐसे-वैसे को गिनते कब हैं। हमारे बटखरे छोटे हों तो भी काम करते हैं। बड़े-बड़े पहलवानों के राशन को कम तौलते हैं। हम उर्वशी पढ़ चुके। पर पहलवान जी आपकी तरह नहीं। आपने तो वैसे ही इसे पढ़ा है, जैसे हमारे डी० जी० सी० (सरकारी वकील) जल्दी-जल्दी में हनुमान चालीसा पढ़ते हैं। आप नयी कविता की झाड़-झंखाड़ से ऊबे थे। तभी तो आपको उर्वशी में मजा आ गया। किताब नशीली है। जमीन से आसमान की ओर ले जाती है। शून्य में सपने दिखाती है। ऐसे-ऐसे प्रश्न और उत्तर सुनती-सुनाती है, जैसे न कोई आदमी करता है न कोई स्त्री करती है। न कोई अप्सरा करती है। आप कहते हैं कि तृतीय अंक शिखर अंक है। जरूर है। कारण भी बहुत साफ है। पहला तो यही है कि न पुरुरवा ने कोई कसर उठा रक्खी है, न उर्वशी ने। मेरा मतलब बोर करने से। दोनों एक-दूसरे से लम्बी बात करने में एक-दूसरे के कान काटते हैं। अजीब हैं दोनों कि संतुलन जानते ही नहीं। जीभ है कि कैची। खचाखच चली तो चलती ही गयी। रुकती ही नहीं। यानि कि दोनों एक-दूसरे को खूब फौक्स बनाते हैं। भाई, प्रेमी और प्रेमिका भी तो हैं कि एक दूसरे को चाव से सुनते भी रहते हैं। हम हों तो घोड़ी की लगाम खींच दें। ऐसा लगता है कि दो दार्शनिक—दो वकील—दो बौद्धक—दो बकवासी—दो मंत्री—एक-दूसरे से बाजी मार ले जाना चाहते हैं। तर्क भी तंत्र-मंत्र की तरह कहीं-कहीं तान तुक पर चलते हैं। ज्यादातर तो वही पुराना ‘धोबियापछार’ किया गया है। यह सब रूप और प्रेम के नाम पर सदा से होता आया है। और जनाब बड़े अदीब साहब दिनकर ने भी यही किया है। हम दाद देते हैं कि उन्होंने आपको मौका दिया कि आपने उर्वशी को भुजाओं में भर लिया। मालूम होता है कि दिनकर की [के] ८ वर्ष की [के] परिश्रम से जो उर्वशी जन्मी वह जनाब की प्रेयसी हो गयी। पल्लव तो पल्लव ही था। झर गया। कामायिनी कोर्स में लग गयी है मानो सारा भारत उसे पढ़ चुका। राम की शक्तिपूजा अकेली है। वही जनता के साथ जीवन में जीती है। हम उसका लोहा मानते हैं। उसके साथ कहां उर्वशी ठहरेगी। वह तो ख्याल की रंगीनियों की

छलना है जो स्वस्थ सौंदर्य के साथ घर-बाहर हाट-बाट में ठहर ही नहीं सकती। मालूम होता है, जी जनाब पहलवान साहब, कि उर्वशी नहीं कोई उरवशा बोल रहा है। पुरुषवा नहीं, टहलुवा बोल रहा है। हमने भी इस काव्य का रस लिया है। दाम १२) खर्च किये हैं। उसका आनंद तो ले ही लेंगे। मालूम है कि न कि १२) में इससे भी अच्छी-अच्छी चीजें मिलती हैं। मगर रस लेना और बात है और अक्ल से बात समझना और बात। आपने रस तो लिया। मगर अक्ल से काम नहीं लिया। भला यह तो बताइए कि यह काव्य हमारे देश के किस आदमी के जीवन में पैटेगा? यह तो कहीं भी नहीं खप सकता। केवल प्रोफेसरान ज़रूर खपा सकेंगे। घंटों भाषण दे सकेंगे। लड़कों पर रोब भी पड़ेगा।

हम तो जब पढ़ने लगे तो पहले ही 'नीचे' धरती 'ऊपर' आसमान पढ़ कर कवि के उपर दया आयी उसकी कलम और कला पर क्षोभ हुआ। जब 'धरती' वहां है और 'आसमान' वहां है, तब नीचे-ऊपर कैसा? सूत्रधार भी तो धरती पर है। 'फोड़' का प्रयोग प्रारंभ से अन्त तक है। दोनों अंक (पहले दो) उसी मैथिली-शरनिया भाषा में हैं। बड़े फीके। बड़े भौंड़े। न कलात्मक हैं। न बुद्धिमत्ता के प्रतीक। फिर से पढ़ो। चौकड़ी न भरो। औशीनरी का जो परिचय मिलता है वह बड़ी [बड़ा] ही निम्न कोटि का है। दुर्बल नारी पिनपिनाती रहती है। निपुणिका और मदनिका उसे सहानुभूति और साहस देती हैं। सहजन्या और रम्भा की बातें सुन कर तो ऐसा लगा कि जीवन में बस यही यही है। सबको वही एक बात सूझती रहती है। कहीं तो ऐसा भी प्रयोग है कि तंद्रा 'फट' गयी। जल 'फोड़' कर द्वीप निकल आये। खूब फोड़ा जल आपके दूसरे पहलवान जी ने। और आगे सुनिये।

निर्भेद्य गगन में चन्द्रमा मंद-मंद चलता है। बताइये आप ही यह कैसा अनूठा चित्रण है। जब बादल होता है तभी वह चलता है और तभी चन्द्रमा चलता प्रतीत होता है। अन्यथा नहीं। यह अकल का दोष है। जरा और देखिए। चित्र कितना वीभत्स है। सूत्रधार कहता है पहले ही पृष्ठ में गगन खोल कर बांह विसुध वसुधा पर झुका हुआ है। अब आप लेटी हुई पृथ्वी पर वैसे ही झुकिये जैसे गगन झुका था। क्या रूप बनेगा इस चित्र का। आप को गाली देने का मन करेगा। क्या यही है कला? छठें पृष्ठ पर नटी का बयान पढ़िये। कनक प्रतिमाएं—कुसुम बल्लियां—वीणा की रागिनियां—कविता की नूतन पंक्तियां—समाधि पर रोते दिये की सूरतें—? यह क्या बिम्ब-बोध देते हैं? कुछ भी नहीं। सपनों की तस्वीरें। यह क्या रूप वर्णना है? ३१ पृष्ठ पर फिर 'फोड़ा' आया है हृदय के साथ-साथ। ३०वें पृष्ठ पर निपुणिका ने अनिपुण ढंग से कहा है—'अभी-अभी जल से निकला उत्फुल्ल कमल था'। खूब निकला साहब। जी पहलवान जी, पानी के भीतर से ही वह फूल कर

खिला हुआ निकला। देखा तुमने यह अजूबा सौन्दर्य-बोध। शक्ति के साथ 'हांक' का प्रयोग भी ३०वें पृष्ठ पर नीचे से दो पंक्तियों बाद है। वह भी श्रेष्ठ कला की निशानी है। ३१वें पृष्ठ पर है गोदी में उठा कर उसे बाहों में भर लिया। सो यह कैसे? गोदी में उठाया तो बांहों में भरना कैसा? हम नहीं समझे। आप खूब समझे। ३३वें पृष्ठ पर एक प्रयोग है 'भ्रमा' का। यह भी खूब जमा। है न मैथिलियाशरणी प्रयोग। ३८वें पृष्ठ की पहली ही पंक्ति देखिए। पुरुष के विषय में अर्द्धसत्य घोषणा मिलेगी। ऐसी ही न जाने कितनी बातें हैं जो इस पुस्तक में भरी पड़ी हैं। लिखना दुश्वार है। अभी तो हमने इस काव्य के विचारों के संबंध में कुछ कहा ही नहीं। उसे लेकर तो बड़ा बवंडर होगा। हमें तो लगता है कि हमारे एम० पी० महोदय ने इसकी पांडुलिपि किसी पानवाले को भी नहीं दिखाई, वरना वह भी बता देता कि जरा कत्था चूना के मेल-मिलाप की सही मात्रा तो सीख लीजिए और तब दुकान खोल कर बीड़ा बेचिये। नहीं सीख सकने वाला व्यक्ति यदि पान लगायेगा तो खाने वाले का मुंह फटेगा ही। वही हुआ।

हमने तो पहले लिखा था कि इस पुस्तक की शुरुआत ही ऐसे ढंग से की गयी है— ऐसी भाषा अपनायी गयी है कि हम बिचक गये। वैसे ही जैसे रखुश्चेव आइसनहावर के सामने। उर्वशी ने जो अपनी तारीफ की है, वह अपने मुंह मियां मिटटू बनने की साध पूरी ज़रूर करती है। यह है भारतीय काव्य की श्रेष्ठ परंपरा में लिखा गया क्लासकीय काव्य। स्वाभाविक भी है। औरतें अपनी तारीफ करती भी हैं। जमाना बदल गया है। प्रेमी के सामने लाज से नजर नीची नहीं करतीं, वरन सिर उठा कर खूब ठाठ से अपना बखान करती हैं। शायद, यह नयी कविता का आदर्श है।

'निष्काम काम-सुख' का सिद्धांत 'निष्काम कर्म' के भारतीय तराजू पर बड़ा सटीक बैठता है। यह भी सिद्धांत सही है न कि 'प्रकृति नित्य आनंदमयी है।' हम क्या कहें इस वाक्-स्फुरण को?

पृष्ठ ८९ पर देखिए। यहां टहनी चीर दी गयी है। आपने टांगे चीरना—लट्टा चीरना सुना होगा। यह नया प्रयोग है। खास दिल्ली का। यदि वहां का न होगा तो बिहार का होगा। यदि वहां का न होगा तो अपर लोक का होगा। आप जानें—वह जानें।

आपने अपने लेख में अंधेरे पक्ष को लिया, मगर बस सपाट दौड़ गये। हम आशा करते थे कि आप दोषों का विवेचन इसलिए और करेंगे कि यह काव्य एक वयस कवि का है। उससे ऐसी भूलों की आशा नहीं की जा सकती थी। वह महज इसलिए सराहे जाने का पात्र नहीं है कि उसने कुछ ऐसी मनबहलाव की बातें की हैं जो थोड़ी देर तक नशे का सुरूर देती हैं।

उर्वशी और पुरुरुवा की कथा इस युग में किन्हीं दूसरे स्तरों पर खुलनी चाहिए थी। इस कथा में बड़े प्रौढ़ तत्व हैं। उन्हें ग्रहण करना चाहिए था। दिनकर साहब ने बहुत साधारण समस्या को उठाया है। भरत का श्राप [शाप] सफल होता है। उर्वशी पति-पुत्र दोनों को छोड़ कर चली जाती है। हां, एक बात बड़ी मजे की यह है कि हमारी हिन्दी जो राष्ट्र के कोने में अभी तक राष्ट्र-भाषा न बन सकी, वह इस काव्य में अप्सराओं की बड़ी प्रौढ़ भाषा बन सकी। बधाई है कवि को। अब फिर!

श्री रामलाल जी का स्वर्गवास हो चुका है। मैं पहले भी लिख चुका हूँ। मुझे मालूम है।

पत्र भेज दूंगा कुछ समय के भीतर। रजिस्ट्री द्वारा। आशा है कि सब ठीक होगा।

डाके के अपराधी पकड़े गये हैं। वह सब काम चल ही रहा है। मैं उसमें दखल नहीं दे रहा। वे पास के गांव के बदमाश थे डकैत हैं। सब पूर्ववत हो जायेगा। चिन्ता न करना।

प्रिय सेवा का क्या हाल है? और सब बच्चे अच्छी तरह तो हैं? इंजीनियर साहब कहां हैं? पढ़ तो चुके या पढ़ ही रहे हैं?

सस्नेह पहलवान जी की नाक का बाल,
केदार

पुनश्च:—लम्बा पत्र तो पढ़ चुके। अब अविलम्ब हमें भी लम्बे पत्र से कृतज्ञ करोगे या नहीं?

केदार नाथ अग्रवाल
एडवोकेट
बांदा (उ. प्र.)

दिनांक ८-३-१९६४^१

प्रिय डाक्टर,

कल पोस्टकार्ड महोदय हाथ आये। हमने उनसे बात की। बड़े संकोच से बोल रहे थे। बोले भी तो बहुत कम। खैर हमने तो उनका स्वागत किया ही। बहुत अर्से के बाद मुलाकात हुई थी न। उन्होंने बताया कि तुम्हारा फ्रैक्चर ठीक हो गया है।

1. पानी गिरने से इस पत्र के कुछ शब्द मिट गए हैं। ड.के अन्दर के शब्द अनुमान से दिए गए हैं। जहां अनुमान नहीं लग सका उसे वैया ही छोड़ दिया गया है। जहाँ '.....' ऐसे निशान हैं, वे ऐसे ही स्थल हैं।

हमें खुशी हुई कि मेरे यार को दण्ड पेलने का बल-बूता मिलेगा। लेकिन शायद अब भी कुछ मजबूत नहीं हुआ, क्योंकि लम्बा लिखने से जी चुराता है। और पोस्टकार्ड की पीठ पर कुछ ही नीले [नीली] खरोंचे [डाल] सका है। हाथ ही तो है। फिर तुम्हारा हाथ है न। उसकी आदत पोथी लिखने की रही है। पत्र नहीं। मेरे लिए तो तुम्हारे [दो] अक्षर ही मेरे भाग्य का निबटारा कर देते हैं—करते रहे हैं।

कविता के लिए कच्चा माल खूब जमा कर चुके हो। चाहो तो हमारे मन प्रदेश में भेज दो। हम ले लेंगे। हमारे यहां खपत हो जायेगी। 'हम अच्छा ही नहीं—खराब माल भी तैयार करते हैं [और] अच्छे के भाव में अखबारों में ठेल देते हैं।' [अब तुमसे] कविता न लिखी होगी—चाहे तुम जितनी बकवास करो। विचार के क्षेत्र में पहुंच कर आदमी विवेक से काम लेता है—भावना से नहीं। तो जनाब तो गांव की अमराई से कूच कर गद्य के अखाड़े में कुशती लड़ने चले गये हैं। वहां तो बाजियां जीतने का सेहरा मिल सकता है। किसी के अन्दर की आंख की छवि नहीं मिल सकती।

'धर्मयुग' में हमने देखा 'हिन्दी में दुष्टों की कमी नहीं है' कि हाथ मिलायें और खाने पर बुलायें। कि तुम दावत [पर] नहीं आ सकते। यह सब अदालती दुनिया के हथकंडे लग रहे [हैं]। हम उस लेख के लबेद यहां पर भी उद्धृत करते पर हमारे यहां [के] सबसे धनी सेठ श्री हरिकृष्ण उसे [उस] अंक को उठा ले गये। हम उनसे न मांग सकते हैं—न मंगा सकते हैं—न वे भेज सकते हैं। इसलिए डियर विवश हूँ कि उसके बारे में कुछ प्रसंगवश कह सकूँ।

कचहरी ने मेरे कच तो नहीं हरे? मेरा समय जरूर हर लिया है। बड़ी पेटू है। पेट ही नहीं भरता चाहे जितना समय दो। खाये चली जाती है। मालूम होता कि जनम की भूखी रही है। शायद यह इसी तरह हमेशा से सब का समय खाती चली आयी है और खाती चली जायेगी। इस पर भी हम कुछ-न-कुछ लिख ही लेते हैं। एक उपन्यास पढ़ा Halen of Troy। दूसरे पर चल रहे हैं 'The Age of Reason.' D.H. Lawrence की पुस्तक Mornings in Mexico and Etruscan Places भी पलटते चलते हैं। कुछ novels by Albarto Moravia के पढ़ चुके हैं। मगर दोस्त! वाह रे प्रेमचंद—तुम सा दूसरा कोई न मिला। कलम है कि सबको मात देती है। कल ही कचहरी में एक क्लर्क 'गोदान' पढ़ते-पढ़ते बोला कि ऐसा सजीव चित्रण करते हैं [कि पढ़ता हूँ तो एक-एक स्थल] पढ़ता रह जाता हूँ। यह [प्रति] वही है जो तुमने मुझे आगरे की दूकान से अपने नाम दाम डलवा कर ८ वर्ष पहले दी थी।

सरसों को देखा तो है लेकिन जी भर कर नहीं। इस बार हम खेतों के साथ लहराये नहीं—न हवा के साथ झूमे। मन पर मुकदमों के पदचाप रखे एक खास 322 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

अदा से कचहरी जाते-आते हैं और पैट को अर्थ से भरते हैं। मगर मौसम अब भी हावी हो जाता है। हम बेतरह बेताब हो उठते हैं। [मगर आदमी अपने] कर्तव्य के मुग्दल भांज कर मौसम को पछाड़ देते हैं। बड़ा दर्द होता है, पर करें तो क्या करें?

तुम तो आओगे नहीं। हमारे घर में हमें तुम न मिलोगे। मगर आना पड़ेगा। जब मेरी बीमारी तुम्हें पुकारेगी। वह भी तो ससुरी जल्दी नहीं आ सकती। अब दो ही चार दिन में हमारी घरवाली इलाहाबाद जानेवाली है। तब हम और हवा साथ-साथ झूमेंगे।

सस्नेह, तुम्हारा
केदारनाथ अग्रवाल

[अगर] शमशेर आये तो प्यार [कह देना]। बड़ा ही निश्चल [आदमी है]। देखो, स्नेह से—पास से बोलना—दूर कहीं विदेश से न बोलना। वरना वह बात न कहेगा। मेरा सलाम देना।

केदार

केदार नाथ अग्रवाल
एडवोकेट
बांदा (उ० प्र०)
प्रिय डाक्टर,

दिनांक : ४-५-१९६४
सायंकाल ६-३० बजे

१-५ के अभिवादन का पत्र मिला। हृदय मुरझाया था, प्रसन्न हो गया। आशा न थी कि तुम्हारा पत्र आयेगा। वह क्या आया जैसे किसान के खेत में बादल आया। आंखें निहारती रह गयीं।

यह एक दुर्भाग्य की बात है कि विश्व के सर्वहारा आंदोलन में इतना संकट आ गया है कि जीवन असहाय-सा महसूस कर रहा है। ऐसा उदाहरण अन्यत्र न मिलेगा। भारतीय दल में भी ऐसी छीछालेदर होनी थी, इसकी कल्पना कोई नहीं कर सकता था। पर हुई। यह भी बढ़ रहे चरणों को खूँटे से बांध कर जन-साधारण को बैल की तरह बधिया बनाने की दुखद घटना है। चिन्तन के नाम पर सब भाड़ झोंकते हैं। वहां तो कुजड़ों की-सी लड़ाई हो रही है। कभी बटेर लड़ते देखा था मैंने रायबरेली में सन् १९२१ ई० में। अब यह देख रहा हूं। लड़ाई भी होती है तो एक शान की होती है—सिद्धांत की होती है। यह तो दंगा-फसाद का नमूना है। वास्तव में सब नंगे हो कर नाच रहे हैं। अफसोस है।

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 323

शमशेर के बारे में मैंने कुछ समय पहले उड़ती-उड़ती ऐसी ही बातें सुनी थीं। पर विश्वास न हुआ था। वैसे मैं उन दोनों को शमशेर के घर में ही देख आया था—कई बार। पर मैंने उसका कोई अर्थ नहीं लगाया था। अनर्थ के डर से। पर 'अब तो बात फैल गयी जानें सब कोई।' मेरा दोस्त है। दिल से मजबूर है। उसने नहीं उसके उल्टे लिंग वाले ने उसे मेमना बना कर बांध लिया है अपने पल्लू से। उग्र से क्या होता है। पका पहलवान जब मुंह के बल जमीन पकड़ता है, तब ऐसी ही दशा होती है। बेचारे यार का व्यक्तित्व तो अलग रह ही नहीं सका। वह चाहे तो जो सेवा ले और हमारे मित्र को करना पड़ेगा [करनी पड़ेगी]। परन्तु बहुत पहले ऐसा न था। तब तो मैंने शमशेर की सेवा करते उसे देखा था। यह उल्टी गंगा बही है। चप्पलें प्रियतमा की हों तो वह उसकी ऐन इनायत की बदौलत मिलती हैं। सौभाग्य है उनका जो प्रेम फंदे में पड़कर पेटीकोट धोते हैं। शमशेर को कुछ नहीं कहा जा सकता। वह सदैव रूप का दासानुदास रहा है। मैं इलाहाबाद नहीं जा सका, वरना उसको देखता और अपने मियांमिट्टू से बातें करता।

चक्कर में डाल दिया है दूसरों ने। तरह-तरह के लोग हैं। सीधे के गले में संसी लग गयी है। पर वह शमशेर की हो कर रहे तब भी कुछ ठीक है। कहीं इस आड़ के पीछे दूसरों के साथ शिकार न हो। पर किया क्या जा सकता है? तुमने तो शमशेर से बातें की होंगी। कहा नहीं कुछ। बीमारी क्या होगी? पेट में कोई आ न गया हो।

श्री अमृतलाल नागर के समाचार मालूम हुए। वह परेशान हैं तो हम भी उनकी परेशानी सुनकर परेशान हैं। ठहरा तो अपना पुराना लंगोटिया यार। लेकिन विश्वास है कि वह सब झेल जायेगा। मेरा सलाम भेज देना अपने पत्र में रख कर।

मुंशी—त्रिनेत्र जी—से मेरी भेंट बहुत अर्से से नहीं हुई। शायद अब कभी मुलाकात हो। दिल्ली ससुरी बड़ी दूर है। बांदा से मुहब्बत नहीं करती। हम यहीं कचहरी की धूल छानते रहते हैं। गद्य के कायल हो—कृपा हो [है]। हम पद्य के कायल हैं। उसी से जगजाहिर हुए हैं। पर यकीन रखो। हम कुछ नहीं लिखते। हम तो कभी मूसर मारते हैं, तो कभी जूते गांठते हैं, तो कभी किसी के केश सहलाते हैं तो कभी कला की बला में मच्छर मारते हैं और अपने खून से जमाने की नजर में शहीद बनते हैं। सब चलता है। कोई रंज नहीं है। कोई गम नहीं है। इतने पर भी यह उमंग तो है ही कि मरते दम तक कविता का साथ दूंगा—छोड़ूंगा नहीं। भले-बुरे की पहचान समय करेगा।

निराला की मृत्यु ने एक शून्य छोड़ दिया है। जो पूरा न होगा। अब उनके साथ के सपेरे नाग नचा रहे हैं—मउहर बजा रहे हैं और पैसे और नाम कमा रहे हैं। यह भी हो रहा है। खूब है। रंग है। मगर यार, न वैसा जानदार कवि पैदा होगा।
324 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

शेक्सपीयर पढ़ो। खूब पढ़ो। समस्या टेड़ी है। तुम्हीं हल करोगे। हमारा तो दिमाग मुकद्दमों के दायरों में रहता है। अवकाश कहां कि समस्या सुलझाएं।

इधर अकेले हैं। खूब पंखा चलाते हैं। पांव पसार कर एकाध बार उनका नाम ले कर सोते हैं। कहीं कुछ खाली लगता है, पर करें तो क्या करें? इधर लखनऊ गयीं हैं। अशोक भी वहीं है। मद्रास से Film का एक वर्ष समाप्त करके लौटा है। हजरत हमारी हजामत बनायेंगे। हम तयार हैं। अपनी तो कट गई। अब क्या। देखो वह किस घाट लगते हैं?

किरण के पति का तबादला दिल्ली हो गया है। गौहाटी में थे। अब महानगरी में रहेंगे। यह अच्छा हुआ। उसके बच्चा होनेवाला है। शायद बांदे में ही हो। १० मई या १५ मई तक आ जायेगी।

वीरेश्वर यहीं हैं। वही हाल है। कुछ परेशान रहते हैं। हमारे हाथ में कुछ नहीं है कि मदद करें। केस वर्क कम है न।

मौसम तो तपा-तपन का है। जमीन जलती है—हवा चलती है—जूते-कपड़े तलवे सब गरमाते हैं। गरज कि प्यास के मारे बुरा हाल रहता है। शायद सेरों पानी पी जाता हूँ। ११/५ से कचहरी हो जायेगी। 6/30 [साढ़े छः] बजे सुबह से १ बजे दिन तक। तब तो समझो कि पिर जाऊंगा। चूर-चूर हो जाऊंगा। पर किया [क्या] जाये। पेट को लिये गए गर्भवती की तरह जिऊंगा। न खा पाऊंगा-न घूम फिर सकूंगा।

अब हाथ थक गया है। बस। सलाम लो। सबको मेरी नमस्ते देना। हाल लिखना। चुप न रह जाना।

इधर Agony and Ecstasy पढ़ रहा हूँ। माइकलेन्जलो के जीवन पर आधारित इरविंग स्टोन का उपन्यास। बड़ा रम कर लिखता है। पहले भी Lust for Life पढ़ा था। वह भी मनोयोग से लिखा गया था। मुझे तो दोनों व्यक्ति में निराला के जीवन के दर्शन मिलते हैं। वही तपस्या और समाधिस्थ मन किसी के लिए लीन हुआ मन।

सस्नेह तुम्हारा
केदारनाथ अग्रवाल

बांदा
२२-५-६६

प्रिय डाक्टर,

इस समय दीवाल घड़ी में ४ : ४५ हुआ है। फिर भी बाहर लू लपट मार रही है और जमीन की देह चाट कर पानी सोख रही है। ऐसे में कमरे में ऊपर टंगा

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 325

चल रहा पंखा और उसकी हवा दोनों ही जी-जान की रक्षा किये हैं।

‘राष्ट्रभाषा की समस्या’—पुस्तक परसों आ गयी। प्रकाशक ने भेजी है। पढ़ रहा हूँ। ५० पेज से कुछ ऊपर गया हूँ। कुछ लेख पहले के पढ़े हैं। याद आ रहा है। मुझे तो इन विचारों में तर्क और सत्य दोनों ही जी रहे मिलते हैं। जो कहते हैं कि यह विचार प्रतिक्रियावादी है वह सरासर गलत कहते हैं और वह स्वयं उस वाद के शिकार हैं। अपने विचार और भी व्यक्त करूंगा। पुस्तक हरेक हिन्दी भाषी पढ़े तब है। वरना, दूसरों के विचार ठीक न होंगे। इसका प्रचार होना चाहिए। ऐसी पुस्तक की बड़ी जरूरत थी। रविशंकर शुक्ल की खूब बखिया उधेड़ी है। वैसे सभी चोट खाये कराहते दिखते हैं। वाह रे डाक्टर। तुम्हारी हिन्दी जनता की हिन्दी है जो उसके हाथ में तेज-तलवार तो है ही—एटमी शक्ति भी है। भारतेन्दु इत्यादि की परम्परा में तुम चल रहे हो। दूसरे नहीं। बधाई।

सस्नेह तु0 केदार

बांदा (३0 प्र0)

२९-७-६६

प्रिय डाक्टर,

हां, इधर अब तक बांदा समाचार पत्रों में खूब जोर शोर से छप रहा है। सोता नगर भभक रहा है। लपटें लव-कुश की तरह बढ़ रही हैं। अभी तक वकीलों की हड़ताल चल रही है। बड़े-बड़े लोग आते और बोल-बाल कर चले जाते हैं। मैंने भी उनके दर्शन किये हैं। मैं कचहरी जाता हूँ। हाजिर रहता हूँ। मुझे छूट है जाने की। और सब लोग कोर्ट्स नहीं attend करते।

गर्मी तो तेज धार की तलवार की तरह लगती है और खून न बहा कर पसीने-पसीने कर देती है। पानी भी बरसता है तो जैसे मुरदों पर चांदी के गुलाब पाश से गुलाब जल छिड़का जा रहा है। हद्द हो गई मेघराज तुम्हारी दया-दक्षिणा। वह भी सरकारी हो गये हैं।

बुखार में पड़ रहे होओगे। पढ़ना तब तो छूटा होगा। वरना तुम्हें चैन कहां? खुशी हुई कि अब अच्छे हो गये हो।

चीनी भाई के पैतरे सब खुल गये हैं। वह अपने पैतरों से ही अपना सत्यानाश करेंगे। मुंशी जनयुग के सम्पादकीय में आ गये हैं। और सब ठीक है।

सस्नेह तु0 केदार

326 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

बांदा (३० प्र०)

१-३-६९

शाम ७-१/२ [साढ़े सात]/बजे

प्रिय डाक्टर,

आज एक शादी थी—४ बजे। कचहरी से सीधे वहां गया था। ५-१/२ [साढ़े पांच]/बजे वहां से घर लौट कर आया। देखा मेज पर 'निराला की साहित्य साधना' रखी है। बड़ी देर तक बार-बार आदि से अंत तक पन्ने खोल-खोल कर देखता रहा—न जाने क्यों पढ़ कुछ न सका। इतना भावोद्रेक हो गया कि सिवाय मुग्ध होने के कुछ न कर सका। मैंने समझा यही सहृदयता [सहृदयता] मेरी पूंजी है। यह बनी है—बरकरार है—मेरे लिए यही सब कुछ है। मैं पुस्तक तो डट कर इस उद्रेक के कम होने पर पढ़ूंगा ही। अभी तो इसे रात-भर बार-बार छुऊंगा, देखूंगा—पलटूंगा—और उसी तरह सूंघूंगा, जैसे कोई अपने लगाये पेड़ के बेले को सूंघता है। बड़ी महक मारते हैं। खुश हूँ—हृदय से दुआ देता हूँ कि तुमने जो मेहनत की है, वह दूसरों को सही रास्ता दे और निराला सब पर छा जाये—सब पर बरस कर सब को सदाबहार की तरह हरा कर दे।

बेकाबू मन विवेक को पास नहीं फटकने देता। यकीन जानों कि मेरी मनोदशा इस समय वैसी ही है जैसी एक मां की होती है जिसने पुत्र को अभी-अभी जन्म दिया है ओर मुंह देख कर बार-बार चूम लेती है। हालां कि तुमने जनम दिया है इस पुस्तक को। क्या खूब हूँ कि ममता उमड़ पड़ी है। फिर लिखूंगा।

सस्नेह तु०

केदार

बांदा

५-३-६९

रात ९-१/२ [साढ़े नौ] बजे

प्रिय डाक्टर,

तुम्हारी पुस्तक : निराला की साहित्य साधना : पीले शब्दों में छपी—रामविलास शर्मा की साधना : मिल गयी थी। एक पत्र भी उस दिन मैंने तुम्हें लिखा था। वह ज़रूर मिल गया होगा।

तब से अब तक मैं इसी पुस्तक से चिपका हुआ हूँ। होली की छुट्टी भी है। इससे कचहरी से पिंड छूटा रहा है। मगर अब मेरी मनोदशा वही बनी हुई है जो

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 327

मनोदशा Lear पढ़ने के समय होती थी। मैं गर्क हूँ इसके अन्दर। यह मुझे बाहर नहीं आने देता। मेरा सम्पूर्ण व्यक्तित्व अपार मानव सहानुभूति से द्रवित है। मैं एक तरह से जड़ता खो चुका हूँ। स्थल-स्थल पर करुणा से भर-भर कर रो पड़ा हूँ। कहीं-कहीं क्रोध और आवेश से कुठारवत तमक उठा हूँ। बड़े मार्मिक ढंग से तुमने निराला का वस्तुपरक अंकन किया है। एकसाथ पिछला सारा Scroll of time खुल कर सामने आ गया। निराला सदेह चलते-फिरते, बैठे, हंसते, गाते, कविता लिखते, पढ़ते, बातें करते, जूझते और तड़पते दिखायी देने लगे। एक के बाद एक नगर और फिर गढ़ाकोला और महिषादल दिखे और उनकी अंतिम यात्रा का दृश्य भी दिखा। यकीन करो, आज मैंने कई परिच्छेद जोर-जोर से श्री भगवानदास गुप्ता^१ को, मुरारी^२ को, और अपने बेटे अशोक को पढ़ कर सुनाये। गला भर आया। आंसू झर-झर गिरे। दुख में भी—निराला की पीड़ा में भी—सुख के आंसू बरसे। वाह! खूब है तुम्हारी कलम। गद्य कविता से अधिक प्राणवान और जीवंत हो गया। वास्तव में गद्य नहीं रह गया। वह पूरे युग का, दिक् और काल में पुनः अवतरण हो गया है। तुमने जो तथ्य दिये हैं—जो पत्रों के उद्धरण दिये हैं—जो बातें और लेखांश उद्धृत किये हैं और जो विवेक के रंग चमकाये हैं, वे सब-के-सब 'नायगरा फाल' की तरह साकार हो गये हैं। तर्क क्या हैं—अकाट्य हैं। पंत और निराला का मनोविश्लेषण एक सिद्धि हो गयी है। मूल्यांकन में कोई ऋषि बोलता दिखा है। जहां-जहां तुमने चोट भी मारी है, वहां-वहां तुमने धर्म ओर कर्तव्य समझ कर ही राम की तरह राक्षसों पर बाण चलाये हैं। तुमने, युद्ध की भाषा में कहूँ तो कहूँगा कि कौरवों की सेना को विध्वंस किया है। तुमने कृष्णोपदेश के बाद के निःसंशयी अर्जुन की तरह, प्रहार किया है। सब कुछ पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ प्रचलित और प्रचारित भ्रांतियों को और विसंगतियों को तुमने एक साथ परास्त किया है। बड़ा जरूरी था। और खूब सफल हुए हो। देखता हूँ कि विवेचन का स्तर इतना न्यायिक है कि कहीं भी कोई अन्याय तुमने नहीं होने दिया—निराला के विरोधियों के साथ भी। ऐसा लगता है कि यह पुस्तक तुम्हारे शरीर से पक गयी फसल की तरह निकल पड़ी है। कहीं भी कोई प्रयास के चिह्न नहीं मिलते। जो कुछ तुमने लिखा है सहज हो कर व्यक्त हुआ है। काम बड़ी मेहनत का है। तुमने कितना परिश्रम न किया होगा। सोच कर ही दंग रह जाता हूँ। सच पूछो तो ऐसे ग्रन्थ से ही बातें साफ नज़र आने लगती हैं। इसका महत्व बहुत है। आज नहीं कल इसकी साख तुम्हें

1. पत्रकार—बाँदा।

2. कृष्णामुरारी पहारिया, कवि, बाँदा।

गौरवान्वित करेगी। निराला की सही शक्ल तुमने दिखा दी है। अब लोग देखें—समझें और गुनें।

यह भी लगा कि तुम्हारी कलम लिखते-लिखते उत्तरोत्तर उदात्त होती चली गयी है। सच में तुमने यह पुस्तक जी में डूब कर वृहमा [ब्रह्मा], विष्णु और महेश की तरह लिखी है। इसके पढ़ने में वही टीस और आनंद मिला जो मुझे Lust for life पढ़ने में मिला था कभी। शिवमंगल सिंह सुमन ने निराला के पत्र तुम्हें न दे कर अपराध किया है। वे देते तो न जाने कितना कुछ और सामने आ जाता। सुमन स्वयं क्या लिखेंगे इस तरह का। भावुकता और बात है। कविता और बात है। विवेक—बोलता हुआ विवेक चिंतन से तर्कायित हो कर निकले इसके लिए अध्यवसाय, संयम, अन्तर्दृष्टि और क्षमता चाहिए। तुममें एक न्यायाधीश की बुद्धिमत्ता है और एक कुशल शिल्पी की सिद्धि। दोनों ने अतीत को पकड़ कर उसे वर्तमान बना कर भविष्य में जीने के लिए प्रस्तुत कर दिया है। तीनों काल एक हो कर बोल रहे हैं। लोगों को निराला प्रिय लगेंगे। वह सब के सिर पर चढ़ कर बोलेंगे।

मैं तुम्हें—हृदय से बधाई देता हूँ। दूसरा भाग भी ऐसा ही ज़ोरदार निकालो। भाषाविज्ञान की पुस्तक भी इससे कम महत्व की नहीं है। उसे भी पढ़ कर ऐसा ही move हुआ था। वह दिन याद है। अभी तो रोज इसे पढ़ूंगा।

मैं घर में ही कैद रहा। होली खेलने कहीं नहीं गया। अफसरों से भी मिलने नहीं गया। होली खेलने से ज्यादा मजा इसके पढ़ने में आया है।

एक बार फिर तुमको लाख-लाख बधाई!

सस्नेह तु0
केदारनाथ अग्रवाल

बांदा

१५-३-७१

५ बजे शाम

प्रिय डाक्टर,

एक पत्र पहले लिख चुका था। मिला ही होगा। वैसे मैं भी बेटे के ब्याह में व्यस्त रहा और तुम भी तमाम तरह से व्यस्त ही रहे हो। Award मिलने की औपचारिक बधाई तो पहले ही भेज चुका था। दिनमान में यह देख कर कि तुमने

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 329

अंग्रेजी में बोलने का आग्रह टुकरा कर वहां दिल्ली में हिन्दी की दो टूक शैली में निराला पर अपना भाषण दिया [,] मेरा जी जाग उठा। इसकी हार्दिक बधाई लो। यही तो वे अवसर हैं जब आदमी अपनी मान्यताओं को साकार करता है। तुमने खूब किया। निराला याद आ गए।

अब शायद अवकाश मिलेगा और मैं कुछ लिखने का प्रयास करूंगा। वैसे यह जीवन जो मैं जी रहा हूँ यहां, वह समय और शक्तिखाऊ जीवन है जिसमें आदमी टूट हो जाता है। हम वकील कुछ करते-धरते तो हैं नहीं—बस हवाई बान छोड़ते रहते हैं और मरे गले समाज की ढहती नीवों को जबान दे-दे कर, अक्ल बूंक-बूंक कर बरकरार किये रहते हैं। सच कहता हूँ—हमारे वकील जीवन का इस समाज में मुझे तो बहुत ही तुच्छ योगदान दिखाता है।

इधर इन्द्रा जी। [इन्दिरा जी] की दुदंभी बजी और सब-के-सब धराशायी हो गयी [गये]। वोटों ने तो ठहाका मार कर सबको मार दिया। जनता का मन बोला है—इन्द्रा [इन्दिरा] के इशारे पर। एक मोड़ लिया है देश की पीड़ित जनता ने। हिम्मत खुली है वोट मार कर मारने की। यदि यही प्रक्रिया चली तो शायद भविष्य के कमंडल से गंगा जल बरसे।

बेटा और बहू आज बांदा आये हैं। अभी इलाहाबाद थे। वहीं से बारात मद्रास ले गया था। खुश हूँ जैसे किसान बहुत खुश होता है आकाश के बादलों से वर्षा का भरपूर जल पा कर।

और क्या हाल है?

पुस्तक कहां तक पहुंची? दिल्ली में तो वही पुराना माहौल रहा होगा, जब तुम पुरस्कार लेने गये होगे।

मुंशी की याद अक्सर आती है पर वह नहीं आता।

मलकिन को हम सबका नमस्कार देना। उनका रक्तचाप कैसा जा रहा है? आखिर इसका इलाज भी है या नहीं?

दिल फिर मिलना चाहता है। आगरा आने का मग [मन] हो रहा है। अब तो मुंशी संस्थान में स्थान पा लिया होगा। कैसा रहा यह नया रोजगार? बुरा न मानना—यह रोजगार तो है ही। बधाई। बेकारी दूर हुई। उत्तर देना।

सस्नेह
केदार

330 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

प्रिय भाई,

२१/१ का पत्र आज मिला। बेहद खुशी हुई। एक लम्बा समय पत्रहीनता का बीच [बीत] चुका है। अब इस वसंत के आते ही हमारे पत्र प्रकट हुए हैं। यह शुभ है।

धूप-छांह में मेरी याद आई। गहगहे गुलाबों के मुंह से उड़ी सुगंध ने तुम्हें अवश्य ही मेरी याद दिलाई। न सही गेंदें। हमारे इस पत्र को ही इस बार गेंदों का पेड़ समझ लेना। सरसों तो मन में बसी ही रहती है। चाहे देखें या न देखें। बाहर बड़ी ही खुशियों की उछाल चल रही है—बांगला देश की विजय की। अभी भी प्रवाहित रक्त प्रेरणा दे रहा है नये सूर्य को आगे के दिनों को उजागर करने के लिए। देखो ज़माना कहां से कहां जाता है।

मैं बुढ़ा तो रहा ही हूं। पर पत्र पाते ही हवा में उड़ने लगा हूं जैसे जवान के हाथ से सितार बजे। मैं इस उम्र में भी अपने भीतर बाहर कहीं भी क्षरण या मरण के चिह्न नहीं देखता। पोर-पोर से पुष्ट और पवित्र हूं। संसार छोड़ की चलने का विचार आता ही नहीं। सचमुच मैं भी गहगहा रहा हूं। न दर्द है, न दवा की जरूरत है। मालिश तो मैंने कभी कराई ही नहीं। मुजीब कैद रहे, भाग्य से रहे। छूटे तो भाग्य से रहे। सरताज मिला। अब देखो कहां ले जाते हैं। मुझे मुक्त वाहिनी ने मोह लिया। तभी धर्मयुगवाली कविता लिख सका। लिफाफा नहीं है इससे यह हरकत¹ है।

तु0—केदार

केदारनाथ अग्रवाल,
एडवोकेट

सिविल लाइन्स, बांदा
(उत्तर प्रदेश)

दिनांक : १९-११-७३
शाम ५ बजे

प्रिय भाई,

११/११ का पोस्टकार्ड अपनी दो पंक्तियों की लढ़ी पर सवार, कल मेरे पास आ पहुंचा। या [पहले] भी आया तो वह मेरी गैर हाजिरी में। पर मिला मुझे कल जब मैं दिल्ली से पुरस्कार लेकर वापिस बांदा आया। पहले तो देख कर गुस्सा लगा

1. पोस्टकार्ड के अगल-बगल, ऊपर-नीचे लिखने को 'हरकत' कहा गया है।

फिर बायीं तरफ 'फूल' बना देख कर हल्की-सी हंसी हंसा। और यह सोच कर कि तुमने 'फूल' को अंग्रेजी के शब्द 'Fool' से जोड़ कर प्रतीक का प्रयोग किया है मैं भी कवि की तरह पुनः गुस्साया। आखिर यह क्यों? बड़े 'कमलकोंचू' हो। सच में इस हरकत से बड़ी आत्मीयता प्रकट हुई। और हमारा पूर्व व्यक्तित्व जमीन पर उतर आया और हमने तुम्हें गले लगाया पाया। दो पहियों की—यानी दो पंक्तियों की—यह लढ़ी हमारे जैसे देहाती के लिए वाकई में बिल्कुल फिट भेंट है। तुम बड़ी रेलगाड़ी चलाते तो वह हमारा दिल और दिमाग धड़धड़ा देती और हम उजबक की तरह देखते खड़े रह जाते। समझ कुछ न पाते।

मैंने तुम्हारे पोस्टकार्ड को कई बार उल्टा लटकाया और थपथपाया तो वह गिड़गिड़ाया और बोला "मैं क्या करूं? डाक्टर ने माना ही नहीं। मैंने तो आसमान की तरह फैल कर अपने को उनको समर्पित कर दिया, पर उन्होंने मुझे अपने वाक्यों से वंचित ही रक्खा और रोते-रोते, बधाई बांध कर, पोस्ट-बॉक्स के अंधेरे-घर में झोंक दिया। मैं मजबूर था। आया तो आप न मिले। रोता पड़ा रहा। खैर, आपने स्नेह दिया। यही क्या कम है। कृतज्ञ हूं। पर उल्टा लटकाने और थपथपाने से दिमाग में बल पड़ गया है।"

मैं हंसा कि हंसता ही रहा। यह विलंबित नहीं 'द्रुत विलम्बित' पुरस्कार है। विलम्बित तो वह पुरस्कार होता है जो मरणासन्न आस्था [अवस्था] में या मरणोपरान्त मिलता है। अभी तो मैं जीवित हूं। इसी से यह पुरस्कार द्रुत ही हुआ।

एक सुखद अनुभव था।

समय से २ मिनट पहले हाल में पहुंचा। बैठा। अगली पंक्ति में। फिर ऊपर डायस पर सब बैठे। मैं भी वहीं बैठा। जरा ठाट [ठाठ] में आया। मन की लगाम खींची। कचहरी में बैठने का अनुभव करते रहे। पहला नम्बर मेरा ही हुआ प्राप्तकर्ताओं में। सरदार स्वर्ण सिंह ने प्रदान किया। एक चैक + एक मेडल + एक प्रमाण पत्र। रूस की यात्रा की वचनबद्धता से बांधा गया। फिर फोटो खिंचतीं रहीं। बाद को सभी ने बधाइयां दीं। सुमन भी थे। उन्होंने कहा कि रामविलास भी आने वाले थे। मैंने कहा : वह नहीं आये तो बोले : जहां केदार वहां रामविलास अवश्य हैं। मैं हंस पड़ा। माचवे भी थे। उन्होंने भी भेंटा। भारतभूषण भी मिले। यानी कि शमशेर यार भी वहां आये थे। खूब कसकर मिले—(यानी गले से)। नागार्जुन थे ही। हम सब कुछ देखते-सुनते रहे।

दिमाग हमारा हमारे अन्दर हमें समझता बूझता रहा। चेक जेब में पड़ी रही [पड़ा रहा] पत्नी जी भी थीं। वह समारोह का सुख बटोरती रहीं। हम उन्हें नयी आंखों से टटोलते रहे। बेटी-दामाद दोनों थे। प्रसन्न होने की बात थी। यज्ञ पूरा

हुआ और हम घर लौटे।

आज अमृतलाल नागर का पत्र आया। तुमसे बड़ी बधाई भेजी है। उन्हें भी जवाब दे रहा हूँ। तुमने मौन तोड़ा। यह अधिक प्रसन्नता की बात है। पत्र देता हूँ जवाब ही नहीं आता। डाकघर में चोर लगते हैं।

आशा है कि स्वस्थ और प्रसन्न होओगे। हम लोग ढल रहे हैं—गोलियों की तरह नहीं मजबूर सूरज की तरह जिसे रोज शाम को ढलना पड़ता है। दूसरे दिन फिर नई आस ले कर जीने लगते हैं। यही क्रम है।

सस्नेह तु0
केदारनाथ अग्रवाल

बांदा

८-४-७४

६ बजे शाम

प्रिय डाक्टर,

धुंध छाई है। पीली रोशनी फैली है। सूरज महाराज मुंह छिपाये हैं। क्यारी में गुलाब के पौधे तपे-तपाये खड़े हैं। फूल भी हैं। मगर मन मारे जैसे। पिता जी आये हैं। हाथ का प्लास्टर डाक्टर भार्गव से कटवा आये हैं। दफ्तर के कमरे में लेते हैं। शरीर क्षीण है। पर पहले जैसे ही हैं। आज २-१/२ [ढाई] बजे चावल-दाल खाने आया—कचहरी से। सबेरे डौल नहीं लगा करता। बीबी [बीवी] जान का हाथ दाहिना कांपता है। रोटी बनाने में दिक्कत होती है। कूकर में पकता है, भाई की पत्नी + उनकी बहू उन्हीं की बीमारी में लगी रहती हैं। इससे वह लोग खाना नहीं बना पातीं और अब अलग ही खाना पका करता है। मैं भी पत्नी को बर्तन धुलाने में मदद कर ही देता हूँ। समय काफी रहता है। सहयोग से काम चल रहा है। इस उम्र में मजूरी करना [करनी] पड़ रही है। कचहरी अच्छी नहीं लगती। जाता हूँ। कम केस लेता हूँ। फिर जाता हूँ। आजकल एक कतल केस करना पड़ा है। १०/४ को बहस करना है। यह भी अजीब पेशा है। पैतरेबाजों के लिए यह ठौर ठीक है।

इधर परेशान-ही-परेशान रहा। इससे कविता रानी को भूला रहा। लिख नहीं सका। पढ़ने के लिए सब कुछ पढ़ लिया। अब किताबें नहीं, अपने मन को पढ़ता हूँ। चाहे जितना परेशान हो, जरा-सी कुछ राहत मिली कि औला-मौला हो जाता है। बड़ा बेहया है। मस्ती मारते रहना यह न भूला—न भूला। वैसे दोस्त अपनी

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 333

जिंदगी कसाई के घर की गिरफ्त में हमेशा रही है। हमीं ने उसे गौरैया की तरह फुदकाया है हमेशा। हमेशा यही रहा है कि कोई टांग पकड़ कर खींचे ही रहता है। यह व्यवस्था ही दर्ईमारी ऐसी है कि बड़े से बड़े वीर-बहादुर को लिदी घोड़ी बना देती है।

मैंं शादी में शामिल न हो सकूंगा। मुझे ११/५ को दिल्ली से सोवियत भूमि जाना है। वहां पहले से पहुंचना है कि सब कुछ प्रबंध कर लूं। (मैंं—) हम दोनों—हृदय से शुभकामना भेजते हैं। दोनों हम लोगों की तरह जिंदगी न बितायें—धूप की तरह निखारें और फूलों की तरह खिलायें और उसे हथियार की तरह काम पड़ने पर चलायें।

प्रेमचंद को पाना कोई खेल है कि आज के कथाकार उनके सिर का बाल छू लें। सब के सब पेशा करते हैं—जीवन नहीं पकड़ते हल की मुठिया की तरह। खैर!

अच्छे और लम्बे पत्र के लिए बधाई। तब तक दो एक पत्र और देना कि अपना दर्द तो मारते रहें। मालकिन के चोट आई। हमें भी दर्द हुआ। उन्हें हमारी पैलगी देना। सबको यथायोग्य।

[केदारनाथ अग्रवाल]¹

बांदा

७-१२-८१^२

प्रिय डाक्टर,

दिनांक २७-११-८१ का पोस्टकार्ड मिला। यह तो मुझे श्री नवल^३ के पत्र से मालूम हो गया था [कि] मालकिन की तबियत ज्यादा खराब है—विदेश ले जाने की बात आई है। तभी मैंने तुम्हें पत्र नहीं लिखा कि परेशान होंगे। चिट्ठी भी क्या लिखूं। आगरे में होओ या न होओ।

अब पोस्टकार्ड पा कर बेहद दर्जे की दिली खुशी हुई कि मालकिन अब रात को सो लेती हैं। उनकी सांस नहीं फूलती। लक्षण अच्छे दिखते हैं। हृदय के एक

1. इस पत्र के अन्त में केदारजी ने अपना हस्ताक्षर नहीं दिया है।
2. इस अन्तर्देशीय पत्र के बीच के ऊपर-नीचे के कोने गायब हैं। इन हिस्सों के शब्द अनुमान से ड.के भीतर दिये गए हैं। कोष्ठक के अन्दर के शब्द—‘कि’, ‘है’ और ‘कल’ संशोधन के रूप में हैं।
3. डॉ० नंदकिशोर नवल, पटना। समीक्षक।

334 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

वाल्व की खराबी के कारण जो न तकलीफ उठानी पड़े वह कम क्या होगी। मेरा तो दिल ही ऐसा सुन कर कांप जाता कि तुम्हारी तरह मेरा भी हाल हो जाता है। पर आदमी को सब सहना पड़ता है, सहे चाहे रो कर चाहे हंस कर; गम्भीर रह कर, धैर्य धारे।

—डियर समझ में नहीं आता कि मैं कैसे तुम सबसे मिल कर तुम्हारे दर्द को तुम्हारे साथ भोगूँ पर इतना आत्मविश्वास तो है कि तुम्हें सामने देख कर मालकिन [का रोग दूर भाग] जाता होगा। पास में जीवन का इतना [धैर्यवान] साथी हो तो पहाड़ भी टूट पड़े तो लगेगा [कि] तिनका टूटा है। भोगने वाले में उत्कट जिजीविषा जाग पड़ती है। मैं तो समझता हूँ कि ऐसी स्थिति में खराब वाल्व भी कुछ हद तक सही काम करने लगा होगा। वैसे चिन्ता की बात तो है ही। शरीर धर्म जब छूटने लगता है, तब केवल जागरूक चेतनाजीवी आदमी ही सम्हले-सम्हले सांस लेता और छोड़ता है, महाकाल को एक प्रकार से चुनौती देता हुआ। भाई, तुम सब लोगों का दुख दूर हो—जल्दी से मालकिन अच्छी हो जायें और फिर तुम्हें देख-देख कर खिली-खुली धूप की तरह, हंस हंस पड़ें और तुम महसूस करो कि शिरीष के फूल ही फूल तुम पर बरस रहे [हैं]। देखो उनके सामने तुम धैर्य न खोना। बीमारी की दशा में मार्क्स पत्नी के साथ कमरे में दिल की दुनिया की बातें कर रहे थे। तभी उनकी बेटी भी वहाँ पहुंच गई थी। वह दोनों को ऐसे घुल-मिल कर बतियाते देख कर अविस्मरणीय रूप से, [आनंद] से विभोर हो गई थी। वही दशा [मैं यहां से बैठे]-बैठे, देख रहा हूँ और वैसा ही आत्मविभोर हो रहा हूँ। दोस्त इस [समय] लेनिन पर लिखी विश्वनाथ त्रिपाठी की, कह [कल] ही पढ़ी कविता भी इस समय, पत्र लिखते वक्त, बार-बार याद आ रही है। इसमें उन्होंने कहा कि उनकी आंखों के वे सभी आंसू बादल बन कर बरसे और अन्न, रंग, स्वास्थ्य और इन्द्रधनुष हो-हो गये। यही बरसात समाजवाद है। तुम भी तो यही हो। उन्हीं की तुम पर लिखी कविता भी याद आई कि तुम टुच्ची सुविधाओं को रौंदते हुए, तद्भव शब्दों से कसे छोटे-छोटे जुमलों से जोकों और घड़ियालों की पीठ पर बिजली के कोड़े बरसाने वाले अटूट आस्थावान जीवन जीने वाले मेरे दोस्त हो।

—मैं इतना सब न लिखता। पर जी न माना। तुम जैसे आदमी को भी हम जैसों की दिलजोई चाहिए।

अपनी जिन्दगी है जैसी है। अभी इस समय अपनी न कह कर तुम्हें ही [यह] पत्र लिख रहा हूँ। मालकिन को नमस्कार। हाल लिखना। सब को सलाम।

सस्नेह

केदारनाथ अग्रवाल

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 335

बांदा

१६-१-८२

४-१/२ [साढ़े चार] बजे सुबह

प्रिय डाक्टर,

तुम्हारे २७/११ के पत्र पाने पर मैंने एक पत्र लिखा था। इसी पते पर। किन्तु पता नहीं कि वह तुम्हें मिला या नहीं। फिर तो तुमने कोई चिट्ठी नहीं भेजी? अब हालत कैसी है? लाभ तो हो रहा होगा। यदि अड़चन न हो तो दो आखर लिख देना या लिखवा देना।

—हम अपनी कुछ न कहेंगे। जमे हैं। सिर पर सब ओढ़े हैं। लोढ़े की तरह जिन्दगी की सिलौटी रगड़ रहे हैं। खुद ही पिस भी रहे हैं।

मुंशी भी तो जनकपुरी में रहते हैं। नववर्ष की शुभकामनाओं का ग्रीटिंग कार्ड आया था। उसे पा कर ऐसा लगा कि हम कुएं में थे—किसी ने पुकारा और हम वहां से तत्काल बाहर आ गये। फिर वहीं पहुंचे जहां थे।

सस्नेह तु0

केदारनाथ अग्रवाल

केदार नाथ अग्रवाल

एडवोकेट

सिविल लाइन्स

बाँदा (उ0 प्र0)

दिनांक ११-२-८२

प्रिय डाक्टर,

—पहले वाला पत्र मिल गया था। आज फिर १/२ का पत्र मिला।

—हार्दिक प्रसन्नता हुई कि मालकिन की हालत ठीक चल रही है और इससे बढ़ कर दूसरी बात हो ही क्या सकती है।

—अपने बारे में कुछ न लिखूंगा। नीचे लिखी कविताएं भेजता हूँ। वही मेरी मनोदशा की साक्षी हैं।

१. गये लौटे चार दिन के बाद/घिरे घुमँड़े, भीड़ का मंडल बनाये, कर रहे उत्पात/दीप्त मंदिर मारतंडी को छिपाये/श्याम वर्णी आसुरी आकाश में सिक्का जमाये/गाजते हैं वरुण के बदमाश बेटे मेघ।

336 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

२. झरने-झरने को गुलाब है झुका हुआ/केवल अनुमोदन पाने को रुका हुआ।
३. मुग्ध ठगा-का-ठगा खड़ा मैं/चांद देखता रहा, हृदय की आँखें खोले/बँधा-बिंधा प्राकृत प्रकाश के/अनपाये प्रिय को अपनाये/जैसे पहली बार!

और रुका-का-रुका रहा शशि/मुझे देखता हुआ,
मंडलाकार प्रदीपित,/बँधा-बिंधा भू की प्रतिभा के
अनपाये कवि को अपनाये/जैसे पहली बार!

४. मैंने आंख लड़ाई/गगन-विराजे राजे रवि से, शौर्य में/
धरती की ममता के बल पर/मैंने ऐसी क्षमता पाई।

मैंने आंख लड़ाई/शेषनाग से, अंधकार के द्रोह में/
जीवन की प्रभुता के बल पर/मैंने ऐसी दृढ़ता पाई।
मैंने आंख लड़ाई/ महाकाल से, मृत्युंजय के मोद में/
अजर-अमर कविता के बल पर/
मैंने ऐसी विभुता पाई।

५. तुमने/हमको मारा/मार-मार कर फिर-फिर मारा/
हमें मार कर तुमने अपना स्वांग सँवारा/
और हमारा स्वांग उतारा/
अरे विदूषक!

हिंसक है हठयोग तुम्हारा/
दारुण है दुख-योग हमारा।।

बस डियर! इस वक्त इतना ही। कलम चलाने में अंगुलियां करकने लगती हैं। आज फिर सबेरे से वही बादली शीत जम कर हैरान किये हैं। जरा देर को सौभाग्य से, सूरज ने ११ बजे दिन को, अपनी मुड़िया निकाली तो हमने धूप लोकी और कपड़े उतार कर नहाये; पर फिर वही मुंह चोरव्वल शुरू हुई और अब भी

नज़र नहीं आ रहे गरम मिजाज सूर्य। पत्र पा कर समय हो तो, कुछ जुमले भेज देना। थोड़े लिखे को बहुत समझ लूंगा। सबको सस्नेह नमस्कार।

तु0
केदारनाथ अग्रवाल

बांदा (३० प्र०)
२-२-८३

प्रिय डाक्टर,

२६/१ का पोस्टकार्ड मिला। मालकिन की आंख का आपरेशन बनारस में होगा। वहां सुविधा अधिक है। भुवन के साथ रहेंगी। यह सब अच्छी तरह से सफल हो जाये, यही हार्दिक कामना है। वैसे उनकी तबियत तो पहले से बहुत बेहतर होगी, वरना तुम यह आंख के आपरेशन का इरादा न करते। दिल्ली में रह कर चिकित्सा पूर्ण रूपेण अति उत्तम हो सकी। यह बहुत बड़ी बात है। वरना तो डाक्टरों की नियत [नीयत] हर जगह खराब ही दिखती है।

आगरे से दूर दिल्ली में पतोहू और नातियों के साथ रह रहे हो यह उतना ही आवश्यक है जितना अकेले में गम्भीर चिन्तन की किताब लिखना। जीवन की दैनिक गतिविधियां भी अपना विशिष्ट महत्व रखती है। नातियों की संगत संतों की संगत से बढ़ कर होती है। वह इस संसार को सत्य और सुन्दर समझते हैं तभी तो उनके लिए चिंट्टी और हाथी एक ही तरह की अनुभूतियां देने वाले होते हैं। संत तो विवेकी बन कर 'समदर्शी' हो पाते हैं। बच्चे पैदा होने के बाद ही वैसी 'समदर्शिता' प्रदर्शित करने लगते हैं। इधर मैं भी अपने बेटे के चार बेटों के आ जाने से जीवन में जीवंत हो गया था। अब भी मन वैसा ही बना है। आज धूप मैं बैठा तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ। गिलहरियां एक-दूसरे के पीछे 'चिकचिक' करती भाग दौड़ रही हैं और मस्त हैं, बेफिक्र हैं। आंगन में धोया गेहूं सूख रहा है। कलेवा हो चुका है। पत्नी भी नहाने की योजना बना रही हैं। घर का मौसम उम्दा है। बाहर हवा हरहरा रही है। पेड़ बबूल का खड़ा सब कुछ झेल रहा है। सिर का मैलखोर छत्र डोल रहा है। दिल्ली में धूप तो खाते ही होओगे। नागार्जुन भी खूब हैं। पता नहीं कहां रहते हैं...घुमक्कड़ हैं। हिंदुस्तान का नक्शा हो गये हैं। हरेक प्रदेश के अंक में हिल रहे हैं। देखो कब आ कर तुमसे मिलते हैं। आयेंगे जरूर।

जयपुर नहीं गया—न कहीं और गया। आगे भी घर से बाहर न जा सकूंगा। लोग बुलाते हैं, पर मजबूरी नहीं समझते। शायद घमंडी समझ लेते हों। कोई बात नहीं। यह स्वाभाविक है।

—बिहार और मध्य प्रदेश में ही तो सक्रिय लोग हैं। अपने इस प्रदेश में तो लोग मौज मारते—पंजे मारते हैं और अपना-अपना ताजिया उठाये गमगीन धुनों के साथ करबला की ओर जाते हैं। ऐसी यहां की जमीन ही है।

—तुम्हारा स्वास्थ्य पहले से ठीक है। यह सुन कर असीम आनन्द हुआ। दोस्त अभी 'शतायु' पूरा करना शेष है। क्रिकेट में लोग अपनी-अपनी बल्लेबाजी के शतक पूरे कर रहे हैं। तुम भी शतक बनाओगे। मैं भी इच्छा रखता हूँ पर शरीर साथ देता रहे तो। बहरहाल, जीने में लगा हूँ, जी रहा हूँ, दुनिया का रंग रूप पी रहा हूँ और देश में चल रही राजनीति के सिंहीं और सियारों की कथनी-करनी का जायजा ले रहा हूँ, एक आम आदमी की तरह।

—राजनीतिक कविताओं का संग्रह शायद इलाहाबाद में छप गया होगा। इसे अपने 'मुंशी' को भेंट किया है, जैसे तुमने उसकी शादी के समय मेरी पहली दो पुस्तकें भेंट की थीं आगरे में। नव वर्ष की शुभकामनाएं भेजी थीं मुंशी ने। घर का पता नहीं था। उत्तर New age के पते पर भेजा था। सबको यथायोग्य।

सस्नेह तु0 केदारनाथ अग्रवाल

बांदा (उ. प्र.)

PIN. 210001

21-10-86

रात 8 P.M.

प्रिय डाक्टर,

दिनांक 6-10-86 का पोस्टकार्ड मिला। तुम दिल्ली पहुंच कर फिर काम में लगे। यही होना चाहिए।

उस दिन मैं स्टेशन नहीं जा सकता था। वहां पहुंच कर ट्रेन चलते समय फूट-फूट कर रो पड़ता। सम्हाल न पाता। घर में भी बड़ी कड़ाई से रोके रहा और किवांड़ा बंद करके लेट गया। क्या कहूँ? रात भर जागता रहा। ऐसा न होना चाहिए था। पर स्वभाव से विवश हूँ। कैसे इस बार ८ दिन रह कर तुमने रेकार्ड तोड़ा और मुझे अपना बनाये रहे। यह चिरस्मरणीय रहेगा।

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 339

मेरा हीटर वाला यंत्र¹ मिल गया। अभी बाथरूम में लग नहीं पाया।

लोग याद करते हैं वे गये दिनों की बातें। खूब खुश हैं बांदा के लोग T.V को देख-देख कर² विभोर हैं।

सस्नेह तु0

केदारनाथ अग्रवाल

बांदा (उ0 प्र0)

२३-३-८८

PIN 210001

प्रिय डाक्टर,

—बातचीत वाचस्पति ने बांदा में त्रिलोचन के सामने ही सम्भवतः रेकार्ड की थी। चुप रहे थे। शायद वह सागर छोड़ कर वह वहां से कहीं अन्यत्र आसन जमायें। इधर वह तो काफी चर्चित हुए। नामवर ने उन्हें चित्र का नहीं चरित्र का कवि कहा है। भाषा की प्रशंसा की है। पता नहीं चरित्र बिना चित्र (रूप) के कैसे दर्शन देगा? तुलसी बाबा से पटरी बिठाई है। अच्छा है जो होता है। हम तो इस सब से दूर हैं। कोई कुछ कहे तो भी हम पर असर नहीं पड़ता। हम तो कविता—अच्छी कविता—कर्मठ आदमी को—उसके प्रेम-परिवार की—दैनिक अवस्था की कविता—को पकड़ना चाहते रहे हैं। वही करेंगे। संतुष्ट रहेंगे। एक दृष्टि—सत्य की—प्राप्त करते हैं। चेतना विकसित करते हैं। कविता अत्यंत कठिन तपस्या मांगती है। जो लिखना है वही उभर कर नहीं आता—तब फिर ऐसी रचना की क्या महत्ता? मार्क्सवाद ने मुझे आदमी बनाया। फिर कविता की ओर चला। वहां भी अब तक जूझता रहता हूँ। बहरहाल मैं गलत रास्ते पर नहीं हूँ। अगर कोई मुझे गलत बतायेगा तो इतना तो है ही कि उसे अपनी रचना से और सटीक उत्तर से पछाड़ दूंगा। करें तो आलोचना के महापंडित।

1. यह गीजर था जो अजय तिवारी गलती से रामविलास जी का सामान समझकर अपने साथ दिल्ली ले गये थे।
2. 20-21 सितम्बर 1986 को बांदा में केदारजी का 75वाँ जन्मदिन 'सम्मान : केदार' के रूप में मनाया गया था। लखनऊ दूरदर्शन ने इस कार्यक्रम की रिकार्डिंग आधे-आधे घंटे की अवधि की 7 कड़ियों में लगातार धारावाहिक रूप में प्रसारित किया था। आलेख और प्रस्तुति श्री कुबेरदत्त की थी।

340 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

‘आत्मगंध’ की प्रति को भी आज लिख रहा हूँ कि वह तुम्हारे पते पर भेजें। अजय इलाहाबाद में मिले थे। ठीक हैं। शायद ही बनारस पहुंचे। दिल्ली जाने की बात कह रहे थे।

—कीट्स की पंक्ति खूब है। आज के चरित्र लेखक ऐसा लिखें तो हम दाद दें। कविता घसीट कर नहीं स्थापित की जाती। ऋग्वेद पढ़ रहे हो—बढ़िया काम है। हम तो संस्कृत न पढ़ पाये। सुन कर ही—चर्चा से ही जान लेते हैं—सूघ लेते हैं उस मुक्त प्रकाश के पुष्प को।

—इधर तो ऐसा लगता है कि सम्मानित होने की नई राह बनायी जा रही है। यह भी हो [,] कुछ तो सामने आये।

हम देवता तो नहीं—पर अपनी अग्नि जलाये, लौ चूमते-भेंटते रहते हैं। तभी तो बुढ़ापे में भी युवा उमंगों से झूमता रहता हूँ। ऐसा मन न बनता तो कब का चल बसा होता। मुझे किसी के सामने कुकुआना अच्छा नहीं लगता। होगा। हम कतई चिंतित नहीं हैं। हम तो अब भी बालक को हँसते देख कर उसी पर कविता रचने की सोचते रहते हैं। वह हँस रहा है जैसे हँसी के पंख फैलाये, मानसरोवर के हंस अवनी और आकाश को एक कर रहे हैं।

ठीक हूँ। आशा है कि ठीक होओगे। प्रिय भुवन का परिवार भी ठीक होगा। सब को यथायोग्य। विजय ने तुम्हारा पत्र भेजा—अपने पत्र के साथ।

सस्नेह तु0

केदार नाथ अग्रवाल
एडवोकेट

सिविल लाइन्स
बाँदा (उ0 प्र0)
PIN 210001
दिनांक ५-५-९०

प्रिय डाक्टर,

—२५/४का पत्र मिला।

—पत्र व्यवहार छप जाये तो ठीक ही रहेगा। लोग मुझे और घूर-घूर कर देखने लगेंगे। अभी ही कुछ नासमझ लोग नकारने पर तुले हैं। कोई कुछ कहे—करे मुझे ढकेल कर गिरा नहीं सकता। कविता मुझे सिर पर चढ़ाये—उठाये-उठाये—लोक चेतना में ले गई है। मैं खूब खिलखिला रहा हूँ। नकारने वालों को ठेंगा दिखा रहा

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 341

हूँ। भले मानस, कुछ भी सोचते-समझते नहीं। अच्छी कविताओं की पहचान नहीं कर पाते। उनका दोष नहीं, उनकी ‘अकल’ कहीं घास चरने चली गई है और पगुरा रही है और बँबा रही है। खैर। लिखना न चाहिए था—ऐसा लिख दिया कि तुमसे क्या छिपाना।

(७१) मैं ये चिट्ठियां तुम्हारे पास भेज रहा हूँ। जो चाहो करो। मेरे बस की बात नहीं है। घर से बाहर निकलता नहीं। जेरोक्स क्या कराऊंगा? अब तुम सहाय साहब को भेजो या न भेजो। तुम्हारी मरजी। भूमिका अवश्य लिखना। टिप्पणियां भी दे देना।

बहुत खोजा—खखोया तब इतने पत्र मिले। न जाने कहां-कहां किस लिफाफे, फाइल में खोये पड़े थे तुम्हारे पत्र। अब और मेरे पास नहीं हैं।

बहू ज्योति और विशाल—आकाश और समीर (पोते) यहां २४/४ को दोपहर झांसी होते हुए आ गये। ७/५ को सबेरे ३ या ४ बजे कानपुर जायेंगे—फिर वहां रह कर—इलाहाबाद—वहां बहू की दो बहनें हैं। ठीक है। समय अच्छी तरह से बीत रहा है। न बेटा आया—न बेटे का बड़ा बेटा प्रशान्त आया। मद्रास में ही व्यस्त हैं। एक शूटिंग में—दूसरा घर की देख-रेख में। वे भी ठीक हैं।

इधर डॉ0 अशोक त्रिपाठी का पत्र नहीं आया—न सहाय जी का। ठीक ही होंगे।

यह पत्र-प्रकाशन की बात कैसे उठ पड़ी। मैंने तो कल्पना भी न की थी। सबको यथायोग्य।

आज दो दिन से मौसम ठीक-ठाक है। गरमी की ओर से बचा हूँ। कभी-कभी कूलर चला लेता हूँ : पिछले दिनों ट्यूब वेल में मोटर बिगड़ गई तो ४-५ दिन पानी का कष्ट रहा। अब नयी मोटर लगी तो पानी धड़ल्ले से आ रहा है।

सस्नेह तु0

केदारनाथ अग्रवाल

बाँदा (उ0 प्र0) PIN 210001

दि0 १३-११-९०

डियर,

तीन पोस्टकार्ड भेजे—किसी का भी उत्तर नहीं।

—हे मौनव्रतधारी महाराज अब तो बोलो, हे महावीर विक्रम बजरंगी, कुमति निवारि सुमति के संगी। अब तो हमारी कुमति हरो और अपनी सुमति का परिचय दो। हमने इस बुढ़ापे में अब हनुमान चालीसा का पाठ किया और जोर-जोर से

342 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

कहा : जय जय जय हनुमान गोसाईं—कृपा करहु गुरुदेव की नाई। 'जो यह पढ़े हनुमान चलीसा। होय सिद्ध साखी गौरीशा'—पर हम न सिद्ध कर सके अपनी साधना—क्या करें कुछ समझ में नहीं आता। हमारी तो अनहारी हरियाली हार मान गई तुमसे।

कुछ तो लिखो—क्या-क्या लिख डाला हम भी जानें। खुशी होगी।

हम तो अकेले पड़े मच्छर मारते हैं। बहुत हो गये हैं। कभी कभार लिख लेते हैं। आंखें अधिक पढ़ने पर कष्ट देती हैं।

आजकल हमारे आंगन में बुलबुलें आने लगी हैं—पानी पीती हैं—फुर्र से उड़ जाती हैं। हम देख कर जी भर लेते हैं।

आशा है कि घर में सब स्वस्थ और प्रसन्न होंगे।

सस्नेह तु0 केदारनाथ अग्रवाल

बांदा/१९-९-९१ (19-9-91)

सवा ग्यारह बजे दिन

प्रिय डाक्टर,

—१३/९ का तुम्हारा पोस्टकार्ड डाकिए ने ला कर दिया। पढ़ते-पढ़ते उल्लसित होने लगा—उत्तर लिखने लगा।

—तुम सब लोग 'अलकापुरी' पहुंच गए। मुझे कालिदास याद आ गए। मेघदूत के यक्ष का स्मरण हो आया। वह विरही था। उसने वहां से प्रिया को संदेश भेजा। संदेशवाहक मेघ था। तुम सब लोग तो यक्ष नहीं हो। पर कारण बन गए यक्ष की भाव-विह्वलता के। मैंने काव्यानुभव से अपने को धन्य किया। फिर इस 'अली' ने याद दिलाई—'अली-कली में ही रम्यो, आगे कौन हवाल'। खूब मज़ा आया हां, तुम राम हुए। तुम्हारी 'शरण' में मुंशी हुए। वह अब सकुशल 'विलास' करेंगे। यह भी खूब रही मेरे मन की भीतरी बात। लखनऊ तो लक्ष्मणपुरी भी कहा जाता है। सो मुंशी हो गए तुम्हारे छोटे भाई। नए नाम से लक्ष्मण। अच्छी बनक बनी। और चौबे तो पुष्टांग शिखर शरीर हैं। वही तो बन गए वह स्थान जहां मेघ उमड़ आया था और उसे ही वहां से, यक्ष ने अपना संदेश-वाहक बनाया था। सच मानो जैसे-जैसे यह सब सोचता रहा मारे खुशी के फूलकर कुप्पा होता रहा। यह हुआ और मैं अकेले में भी अप्राप्य सुख भोगता रहा। कुछ दिन जी भर प्रफुल्लित जिऊंगा और एक क्षण को भी विचलित न होऊंगा। और तो और, रात को भी इसी आनंद से सराबोर, दुनियाबी तटबंध तोड़ता रहूंगा। बड़े भाग्य से यह सुयोग मिला।

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 343

यह सुख-योग अधिकधिक मिलता रहे, यही हार्दिक कामना है।

—तुम लोग वहां 'गपशप' करते रहोगे, शायद गप्पों के दौरान लखनऊ के गोलगप्पे भी खाते रहोगे। मज़ा तुम सब लोगों को मिलेगा यहां, यह मज़ा, मुझे भी, बिना खाए, मिलता रहेगा। बहुत-बहुत बधाई इस 'आई-पाई' चिट्ठी के लिए।

—मैंने 'तुम्हारे साक्षात्कारों' वाली पुस्तक इधर फिर से पढ़ी। फिर से अपने को पुष्ट पाया।

—कल रात (यानी १८/९ को) दस बजे दिल्ली रेडियो के 'साहित्य-दर्पण' कार्यक्रम के अंतर्गत मेरा वह वक्तव्य रिले हुआ जो, डॉ. अशोक त्रिपाठी, यहां आकर, टेप कर ले गए थे। निवेदिका थी डॉ. इंदु जैन। उन्होंने मुझे 'सूर्य' कहा। चलो अच्छा हुआ कि दर्पण के दौरान सूरज-चांद एक ही समय में एक हो गए।

—पता नहीं कि मैंने तुम्हें लिखा या कि नहीं कि मेरे पुत्र ने मद्रास से मेरा एक गीत—दलबंधा मृगुकोष गंधी—पं. जसराज से गवा कर टेप किया है। एक और गीत—मांझी न बजाओ वंशी—बंबई में गवा कर टेप कराया है। बाकी २ गीत और कराएगा। कोई 'सामना' फिल्म डाइरेक्ट कर रहा है। उसी के लिए। अभी टेप मेरे पास नहीं पहुंचे। भेजने की बात लिखी है।

—बस एक ही कसक है मेरे मन में जो सालती रहती है। वह है बेटा किरन की स्थिति। वह गाजियाबाद में अकेले है। पहले पति काले के बेटे टोनी की दयनीय दशा से चिंतित रहती है।

सस्नेह तुम्हारा

केदारनाथ अग्रवाल

केदारनाथ अग्रवाल का पत्र

मैथिलीशरण गुप्त के नाम

बांदा

18.9.49

श्रद्धेय गुप्त जी,

आपकी विवशता की सूचना पाकर भी आग्रह कर यह पत्र दुबारा लिखकर मैं धृष्टता अवश्य कर रहा हूँ, किन्तु यह धृष्टता एक स्नेही व्यक्ति की है, अमित्र की

344 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

नहीं। इसके करने का साहस इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि इसके किए बिना काम नहीं बनता, अतएव मुझे विवश जानकर आप मेरी इस धृष्टता के लिए क्षमा करेंगे।

मैं, इस योग्य नहीं हूँ कि आपसे हठ करूँ और आपको विवश करूँ। न मुझमें इतना साहस है कि अपनी इच्छा के विरुद्ध कुछ करूँ। न मुझे यह ही शोभा देता है कि मैं आपको इस उद्घाटन कार्य की महत्ता बताऊँ। वह स्वयं अपनी महत्ता रखता है। आप उस महत्ता को भली विधि जानते भी हैं। फिर भी मेरा परम कर्तव्य मुझे विवश करता है कि मैं एक बार पुनः इस महत्त्वपूर्ण कार्य के विषय में आपका ध्यान विशेष तौर से आकर्षित करूँ। इसी उद्देश्य से मैं यह पत्र लिख रहा हूँ और मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप इसे बुरा न मानेंगे, मुझे यह भी भरोसा है कि इसे पढ़कर आप अवश्य ही अपने पहले के विचार की स्थिति पर गंभीरता से विवेचन करेंगे और सही निर्णय पर पहुँचेंगे।

आपको यह अवगत है कि आज के संसार में, सिवाय रूस के अन्य किसी भी देश में कवि और लेखक का कोई सम्मान नहीं है। कवि कहीं भी उतना और आदर नहीं पाता, जितना एक तुच्छ जीव पाता है। लोग बंदर और कुत्ते पालते हैं, उनको बड़ी अच्छी तरह रखते हैं। साहब का कुत्ता मेम साहब का “डार्लिंग” होता है। डिप्टी साहब का चपरासी बाबू लोगों का महाप्रभु होता है। कुर्सी पर बैठा अनधिकारी बंदर भी राष्ट्र से सम्मान और आदर पाता है। लेकिन कवि भूखों मरता है, दुख-दर्द से तड़पता है, जनता के गीत का कर भी अवहेलित रहता है, और जहाँ उसकी चिता जलती है, वहाँ कोई स्मारक तक नहीं बनता। मैंने कुत्तों के स्मारक-स्वरूप बनी समाधियाँ देखी हैं और तड़प कर रह गया हूँ। अपमान की चोट ने कई बार खून बहाया है। इसे समाज-व्यवस्था कहूँ अथवा नरक-व्यवस्था। कहीं नहीं, देश-देश में सब कहीं जनता की वाणी का कवि सरकार से अभिशाप पाता है और बलात् पकड़ कर कारागार में लोहे के सीकंचों के पीछे बाँध दिया जाता है। वह समझती है कवि के भाव बंदी हो गए। किन्तु कितनी थोथी है यह राजनीति। कवि के भाव जेल से बाहर आते हैं और जनता को प्रोत्साहित करते हैं और जीवन की प्रगति को बढ़ाते हैं। क्या कोई भी व्यक्ति सरकार की इस नीति का समर्थन कर सकता है? नहीं।

सच पूछा जाए तो न सरकार, न पैसे का मोटा समाज, न उनके कर्मचारी और न उनकी पूरी परंपरा कवि की परवाह करती है। यदि कोई परवाह करती है कवि की, तो वह है केवल जनता, जो गरीब है, पीड़ित है, दुख-दर्द से दबी है, और जोर मारकर उभरना चाहती है, इसीलिए जनता के आदर भाव का बड़ा महत्त्व है। उसकी उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती। सरकार का पुरस्कार के रूप में कुछ रुपया

किसी कवि को देना कोई महत्ता नहीं रखता। वह भीख देने से भी खराब है, क्योंकि सरकार अपने उस दान से देश की परम जागरूक प्रतिभा को खरीद लेती है। ऐसे कवि हैं जो बिक जाते हैं और तुलसी की परंपरा से हट जाते हैं। वह हेय है। इधर हमारी सरकार ने भी कुछ कवियों और लेखकों का सम्मान किया है। निराला जी भी उन सम्मानित कवियों में से एक हैं। किन्तु आपने देखा होगा कि उन्होंने इस तथाकथित सम्मन की चोट से पीड़ित होकर उस सरकारी द्रव्य का क्या उपयोग किया? वह छिपी बात नहीं है। निरालाजी ने वह मुंशी नवजादिक लाल जी' के पुत्र को सब की सब भेंट कर दी है। जनता कवि की इस बात को आजन्म न भूलेगी, लेकिन सरकार के सम्मान को जल्दी ही भूल जाएगी।

यह कहाँ तक उचित है कि देश के लगभग सभी समाचार पत्र अफसरों के वृक्षारोपण का समाचार मोटे-मोटे अक्षरों में छापते हैं, उनकी बीमारी का हाल प्रातः सायं के संस्करणों में प्रमुख स्थान में छापते हैं, और नेता के उठने-बैठने से लेकर छींकने तक की दिनचर्या बड़ी श्रद्धा से छापते हैं। क्या कवि, जीवन को वाणी देने वाला कवि, किसी समाचार पत्र में एक इंच भी स्थान पाने का अधिकारी नहीं है? आप ही बताएँ कब किसी महानामधारी के पत्र में आपकी बीमारी का समाचार छपा, आपकी पुस्तकों की बिक्री के समाचार छपे, आपके अच्छे से अच्छे विचारों का प्रचार छपा? निरालाजी रोगग्रस्त रहे। कुछेक संपादकों ने जो उनके परिचित मित्र थे, उनकी बीमारी का समाचार छपा, परंतु और किसी ने एक पंक्ति भी नहीं लिखी। यह अपमान है, अनादर है, और अवहेलना है, जो कवि को वर्तमान सामाजिक राजनीतिक कारणों से मिलती है। इसे दूर करना है। इसके प्रति विरोध प्रकट करना है। इसको आगे नहीं जाने देना। इसी हेतु यह उद्घाटन की योजना इस महान कार्य की प्रारंभिक भूमिका है, जिसे पूरी तरह सफल बनाना है और हरेक कवि, लेखक तथा बुद्धिजीवी को अपना सहयोग देना है। वह दिन निकट है जब कवि भी राष्ट्र की जनता से आदर पावेगा और राष्ट्र के नेता के समकक्ष बैठेगा। वह अनादृत सदस्य न होगा, सम्मानित सदस्य होगा, उसके स्मारक-स्वरूप भवन निर्मित किए जाएंगे, पुस्तकालय खोले जावेंगे और विश्वविद्यालय बनाए जावेंगे। उसकी जयंती मनायी जाएगी और उसके ग्रंथों का देश-देश में प्रचार होगा। मैं इस उद्घाटन-कार्यों में उसी दिन की स्पष्ट झाँकी देखता हूँ। आप भी देखेंगे।

जबलपुर की जनता तथा अन्य नगरों की जनता अपनी परमप्रिय कवयित्री सुभद्रा कुमारी का स्मारक बनाकर उनका आदर कर रही है। यह परम गौरव की

बात है। इससे जनता की काव्य-प्रेमी भावना का परिचय मिलता है और अखंड विश्वास प्रकट होता है। तुलसीदास ने इसी जन-जीवन के बल पर रामायण रची थी और मुगल वैभव के विरोध में रामायण को साकार किया था। तुलसी ने राजदरबार का आश्रय नहीं ग्रहण किया। राम दरबार में रहकर उन्होंने जनता के हृदय पर आसन बिछाया है। इस जनता के आदर की बड़ी महत्ता है। तुलसी अमर हो गए। श्रीमती सुभद्रा कुमारी को यह आदर प्राप्त हो रहा है। वह इस योग्य थीं और उनका सम्मानित होना सब प्रकार से वांछित है।

वह घड़ी अवश्य ही चिरस्मरणीय होगी, जब आपके कर कमलों द्वारा यह उद्घाटन कार्य सफलता के साथ सम्पन्न होगा और उस प्रस्तर-मूर्ति में, आपके स्पर्श मात्र से, जनता की सबल सजीव चेतना प्रवेश करेगी, तब हम सब यह अनुभव करेंगे कि हमारी कवियत्री हमारे पास हैं और सदा ही हमारे पास रहेंगी। काल का क्रूर कर उन्हें हमसे कभी न छीन सकेगा।

आज वह दिन स्वप्न है, कल्पना है। आप उस स्वप्न और कल्पना को सत्य और साकार करेंगे, आपसे अधिक सहृदय और योग्य व्यक्ति कोई दूसरा नहीं है जो यह उद्घाटन कार्य कर सके। आपके हाथ राजमद से अछूते हैं, आपका हृदय सद्भावनाओं का परमप्रसन्न सागर है। आपकी वाणी शुद्ध और तापस है। आपने उपेक्षित उर्मिला को सम्मान दिया है। क्या आप स्वर्गीया कुमारीजी को सम्मानित न करेंगे? ऐसा कदापि न होगा, आप अवश्य पुनः विचार करें।

अतएव मैं आपसे अत्यंत विनीत शब्दों में सब जनता की ओर से यह प्रार्थना करता हूँ कि आप उद्घाटन का हमारा आग्रह स्वीकार करें और अपनी बीमारी और विवशता में भी चिरगाँव के साहित्य-सदन को छोड़कर जबलपुर चलें। हर्ष और उत्साह के इस शुभ अवसर पर आपकी बीमारी और विवशता निस्संदेह दूर हो जाएगी। पत्रोत्तर की तीव्र लालसा है।

आपका
केदारनाथअग्रवाल

P

चिंतन

कविता संवेदनशील वस्तुवत्ता है

कृतित्व के बाद कविता कृति होकर, अपने कृतिकार—यानी कवि से अलग हो जाती है। अलग होने के बाद यह अस्तित्व की इकाई हो जाती है। अलग बन गयी इकाई के उपरान्त यह वस्तु हो जाती है। वस्तु हो जाने के बाद यह आँख-कान द्वारा ग्रहणीय हो जाती है। कोई भी इसे देख सकता है, कोई भी इसे सुन सकता है।

कविता की वस्तुवत् इकाई एक शब्द की हो सकती है, एक से अधिक शब्दों की हो सकती है। एक पंक्ति की हो सकती है, एक से अधिक पंक्तियों की हो सकती है, एक लय की हो सकती है, एक से अधिक लयों की हो सकती है, तुकान्त हो सकती है, अतुकान्त हो सकती है, मात्रिक हो सकती है, वर्णिक हो सकती है, क्रमबद्ध हो सकती है, अक्रमिक हो सकती है, गेय हो सकती है, अगेय हो सकती है, और जाने-अनजाने न जाने कितनी-कितनी तरह की हो सकती है।

वैसे अपने सहज साधारण वस्तुवत् रूप में कविता एक से अधिक शब्दों की होती है। ये शब्द एक-दूसरे का साथ देते हैं, एक-दूसरे का हाथ थामें रहते हैं, एक-दूसरे का समर्थन करते हैं, एक-दूसरे को सार्थक करते हैं, अगल-अगल, आमने-सामने चारों तरफ देखते हैं। ये शब्द भाषा के शब्द होते हैं, भाषा के संस्कार लिए हुए होते हैं, कविता की वस्तुवत् इकाई बनकर भाषा की इकाई बन जाते हैं, और भाषा की इकाई बनकर ये शब्द अपने कविता के रूप में पढ़े और सुने जाते हैं।

तो, कविता पढ़ी और सुनी जाने पर इन्द्रियगोचर हो जाती है और इसका इन्द्रियगोचर हो जाना ही इसकी वस्तुवत्ता का प्रमाण है।

भाषा की वस्तुवत्ता मूर्त-जगत् की वस्तुवत्ता से भिन्न होती है। मूर्त जगत् की वस्तुवत्ता में ठोस और तरल यथार्थ होते हैं—अनल, अनिल और आकाश होते हैं तथा पशु-पक्षी-जड़ और चेतन सब होते हैं। यह सब जितने और जैसे हैं, उतने और वैसे भाषा की वस्तुवत्ता में नहीं होते। भाषा इनका संग्रह नहीं करती—इनका संग्रहालय नहीं बनाती कि आदमी इनकी सीधी पकड़ कर सके, देख सके—छू

1. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से सन् 1978 में प्रकाशित 'आधुनिक कवि-16' की भूमिका।

सके—इन्हें इधर-से-उधर उठाकर रख सके और इनकी फोटो ले सके। भाषा में आयी मेज, मेज नहीं होती। भाषा में आयी उड़ती चिड़िया, आसमान में, सामने उड़ती चिड़िया नहीं होती। भाषा में आयी नदी, जमीन में बहती पानी से भरी नदी नहीं होती। भाषा में आयी सुन्दरी संसार की सदेह सुन्दरी नहीं होती। भाषा में आकर भी कमरे की मेज कमरे में बनी रहती है। भाषा में आकर भी उड़ती चिड़िया आसमान में उड़ती रहती है। भाषा में आकर भी सुन्दरी संसार में सदेह विचरती रहती है। असल में भाषा की मेज कमरे की मेज को व्यक्त करती है। भाषा की चिड़िया आसमान की चिड़िया को व्यक्त करती है। भाषा की नदी जमीन की नदी को व्यक्त करती है। भाषा की सुन्दरी संसार की सुन्दरी को व्यक्त करती है। असल में भाषा की मेज शब्दों के संगठन की मेज होती है,—भाषा की चिड़िया शब्दों के संगठन की चिड़िया होती है—भाषा की नदी शब्दों के संगठन की नदी होती है—और भाषा की सुन्दरी शब्दों के संगठन की सुन्दरी होती है। मतलब यह कि भाषा एक मेज की जगह दो मेज कर देती है—एक चिड़िया की जगह दो चिड़िया कर देती है,—एक नदी की जगह दो नदी कर देती है—और एक सुन्दरी की जगह दो सुन्दरी कर देती है। भाषा की मेज भाषा में बनी रहती है, और कमरे की मेज कमरे में बनी रहती है। भाषा की चिड़िया भाषा में बनी रहती है और आसमान की चिड़िया आसमान में बनी रहती है, और भाषा की नदी भाषा में बनी रहती है और जमीन की नदी जमीन में बनी रहती है। भाषा की सुन्दरी भाषा में बनी रहती है और संसार की सुन्दरी संसार में बनी रहती है। मतलब यह कि मूर्त-जगत् अपने अस्तित्व के अलावा एक दूसरा अस्तित्व भाषा में आकर, पा लेता है। मूर्त जगत् का यह दूसरा अस्तित्व उसके पहले अस्तित्व का भान कराता है। आदमी इस दूसरे अस्तित्व को ग्रहण करता है और मूर्त जगत् के पहले अस्तित्व तक पहुँच जाता है। मूर्त जगत् का पहला अस्तित्व उसके दूसरे अस्तित्व का कारण बन जाता है, प्रेरक और प्रमाण बन जाता है। मूर्त जगत् के पहले अस्तित्व के होने पर ही उसके दूसरे अस्तित्व की सम्भावना हो जाती है।

मूर्त जगत् का यह दूसरा अस्तित्व ही भाषा की वस्तुवत्ता है और भाषा की यह वस्तुवत्ता ही कविता की वस्तुवत्ता है और कविता की यह वस्तुवत्ता ही इन्द्रियों द्वारा आदमी ग्रहण करता है और ग्रहण किये हुए इस दूसरे अस्तित्व से ही उसे मूर्त जगत् के पहले अस्तित्व का भान होता है। और भान हुआ यह पहला अस्तित्व ही मूर्त जगत् का दूसरा अस्तित्व होता है। यह दूसरा अस्तित्व ही भाषा की वस्तुवत्ता है और भाषा की यह वस्तुवत्ता ही कविता में रूपायित होती है और इन्द्रिय बोध के माध्यम से ही ग्रहणीय होती है।

यह मूर्त जगत् अलौकिक नहीं है, न पारलौकिक है। यह भौतिक है और द्वन्द्वात्मक है। इसे किसी परोक्ष सत्ता ने नहीं बनाया, न इसे कोई परोक्ष सत्ता नष्ट कर सकती है। वैसे कोई परोक्ष सत्ता है नहीं। ऐसी सत्ता के होने का विश्वास किया जाता है, मगर यह विश्वास वैज्ञानिक नहीं है। इसलिए इस मूर्त जगत् को इस विश्वास के बल पर अलौकिक या पारलौकिक या परोक्ष नहीं माना जा सकता।

इस तरह भाषा भी अलौकिक या पारलौकिक या परोक्ष नहीं है। इसे भी किसी ईश्वर ने नहीं बनाया और न इसे कोई ईश्वर नष्ट कर सकता है। इसलिए इसे विश्वास के बल पर बने ईश्वर की देन समझ लेना और मान लेना अवैज्ञानिक है।

इसलिए भाषा की इकाई कविता भी अलौकिक या पारलौकिक या परोक्ष नहीं है। इसे भी किसी भगवान् ने नहीं बनाया। न इसे कोई भगवान् नष्ट कर सकता है। इसीलिए कविता को भी भगवान् की देन समझना और मानना अवैज्ञानिक है।

सच तो यह है कि यह द्वन्द्वात्मक भौतिक जगत् ही सबकुछ के होने-न-होने का कारण है। इसकी द्वन्द्वात्मकता ही इसके विकास का कारण है। इसके विकास से ही इसकी भौतिकता रूप बदलती रहती है। इसकी भौतिकता ही इसकी द्वन्द्वात्मकता से जड़ से चेतन हो जाती है और चेतन से जड़।

आदमी इसी द्वन्द्वात्मक भौतिक जगत् की उपज है। आदमी इसी जगत् में रहता है, रहता चला आया है और रहता चला जायेगा। इस जगत् के नित नये परिवर्तन के साथ-साथ आदमी भी बदलता चलता है और उसका जीवन भी बदलता चलता है।

आदमी को आदमी होना एक दिन में मुअस्सर नहीं हुआ। आदमी को आदमी होने में—अपना रूप पाने में, अनेकानेक अन्य रूप धरने पड़े और तब जाकर एक युग ऐसा आया जब इसे ऐसा तन मिला और ऐसा इंद्रियबोध मिला और ऐसे इंद्रियबोध के कारण, अनुभव करते-करते इसको देश-दिशा और काल का ज्ञान हुआ, इसे याद करने की आदत पड़ी, याद किये को दुहराने-तिहराने का अभ्यास हुआ और फिर इसने पदार्थों से सम्पर्क स्थापित किया, और सम्पर्क स्थापित करते-करते इसने पदार्थ-पदार्थ को संकेत-बद्ध किया और संकेत-बद्धता के द्वारा भाषा अर्जित की और अर्जित की हुई भाषा में दूसरों से अपने को व्यक्त किया। दूसरे इसे समझने लगे और यह दूसरों को समझने लगा। इस तरह अनवरत द्वन्द्व के कारण आदमी ने आदमी के साथ जीकर—अपना एक समाज बनाकर—मूर्त जगत् के दूसरे अस्तित्व को पाया और इस पाये हुए दूसरे अस्तित्व को शब्दों में समोया और इस समोये हुए अस्तित्व की अलग एक सत्ता बन गयी और तभी शब्द द्वितीय

अनुकूलित उत्तेजक बन गये। इन्हीं द्वितीय अनुकूलित उत्तेजक शब्दों से भाषा बन गयी। भाषा इन्हीं शब्दों का सार्थक संघटन हुई। यही सार्थक-संघटन आदमी द्वारा प्रयुक्त होने लगा और आदमी-आदमी एक-दूसरे से मूर्त जगत् के बारे में बात करने लगा, इस विकास के क्रम में सहस्राब्दियाँ लगीं।

शब्द और कुछ नहीं, इंद्रियबोध से प्राप्त मूर्त जगत् के दूसरे अस्तित्व की संकेतबद्ध इकाइयाँ हैं, जो कालक्रम में साथ-साथ रहने लगी हैं और साथ-साथ रहते-रहते वाक्य बन गयीं और वाक्य बनकर भाषा बन गयीं और तभी इन शाब्दिक इकाइयों को अपना निजी एकाकी अस्तित्व खो देना पड़ा और यह इकाइयाँ मिल-जुलकर सार्थक समूह हो गयीं और इसी सार्थक-समूह को भाषा कहा जाने लगा और यही भाषा मूर्त जगत् के दूसरे अस्तित्व को प्रकट करने लगी। पहले बोलियाँ बनी होंगी और फिर भाषा बनी होगी और भाषा की लिपि बनी होगी। यह सब हुआ होगा, इसमें संदेह नहीं है; लेकिन बोलियों के अस्तित्व से भाषा के बारे में ऊपर कही गयी बातों में कोई फर्क नहीं पड़ता। चाहे बोली हो, चाहे भाषा—दोनों पर ऊपर की बात लागू होती है।

इसीलिए भाषा के प्रयोग से आदमी मूर्त जगत् को हृदयंगम करने लगा। भाषा की अनुकूलित उत्तेजक-शक्ति ही आदमी को उकसाती है, आदमी को मूर्त जगत् का बोध कराती है—इसके संबंधों का बोध कराती है। कविता भाषा के रूप में होती है—बगैर भाषा के नहीं होती—इसीलिए कविता भी अनुकूलित उत्तेजक होकर आदमी-आदमी के लिए सार्थक और सफल सिद्ध हुई।

इस सबका सारांश यह निकला कि बन गयी कविता इकाई हुई—वस्तु हुई—पढ़ी और सुनी गयी—और इस प्रकार तब आदमी के इंद्रियबोध को प्रभावित कर सकी। इससे प्रभावित होकर आदमी मूर्त-जगत् के दूसरे अस्तित्व को पा सका। न मूर्त जगत् कविता है; न कविता मूर्त जगत् है। कविता मूर्त जगत् का दूसरा अस्तित्व है। यह दूसरा अस्तित्व मूर्त जगत् का सम्बद्ध अस्तित्व है। यह दूसरा अस्तित्व तब प्रकट हो सका, जब मूर्त जगत् की वस्तुवत्ता का मानवीकरण हो गया। मानवीकरण के समय मूर्तजगत् की वस्तुवत्ता आत्मपरकता के द्वन्द्व में आई और फिर रचना-प्रक्रिया के दौरान सम्बद्धता पाकर रूपायित हुई। इसके रूपायित होने में काव्य और शिल्प संपुष्ट और सायुज्य हुए।

यह है कविता और यह है इसकी वस्तुवत्ता और यह है इसकी वस्तुवत्ता और मूर्त जगत् की वस्तुवत्ता का पारस्परिक संबंध। अब की कविता ऐसे ही विश्लेषण की अपेक्षा रखती है। भाषा की वस्तुवत् इकाई में मूर्त जगत् की वस्तुवत्ता होती है। बन गयी कविता में व्यक्त वस्तुवत्ता मूर्तजगत् की वस्तुवत्ता का भान कराती 354 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

है। भान कराने का मतलब यह है कि कविता की वस्तुवत्ता में मूर्तजगत् की वस्तुवत्ता की उपलब्धि होती है। यह उपलब्धि पाठक या श्रोता को तब होती है, जब वह इसे (कविता को) पढ़ता या सुनता है। यह उपलब्धि भाषा के माध्यम से होती है। कवि के बजाय कवि की प्रयुक्त भाषा—कविता बनी भाषा—पाठक या श्रोता को मूर्तजगत् का दर्शन कराती है। यह दर्शन कविता में व्यक्त वस्तुवत्ता के कारण ही सम्भव होता है। कविता में व्यक्त वस्तुवत्ता शाब्दिक होती है, इसलिए पाठक या श्रोता शब्दों को (भाषा को) ग्रहण करता है और इंद्रियबोध इस ग्रहण करने की क्रिया को चालित करता है और इस प्रकार चालित क्रिया से मानवीय चेतना के केन्द्र दिमाग में स्फुरित होते हैं, सक्रिय होते हैं और इस प्रकार सक्रिय होने से मानवीय व्यक्तित्व कविता को कविता के सन्दर्भ में आत्मसात् करता है और आत्मसात् करने पर व्यक्त वस्तुवत्ता को अपने में पाता है और पायी हुई वस्तुवत्ता से मूर्त जगत् की वस्तुवत्ता का दर्शन करता है और इसे अपनी बताता है, क्योंकि वह उजागर होकर विशिष्ट हो जाती है—ग्राह्य हो जाती है। कविता बनी हुई मूर्त जगत् की यह वस्तुवत्ता संवेदनशील होती है और संवेदनशील होने की वजह से ही दूसरों के लिए महत्त्व की होती है। अपनी संवेदनशीलता की वजह से ही यह दूसरों के लिए बोधगम्य होती है और बोधगम्य होकर ही यह मूर्त जगत् का भान दूसरों को कराती है और यह भान वैसा ही भान होता है, जैसा भान कवि को हुआ है।

कविता में व्याप्त संवेदनशीलता उसकी वस्तुवत्ता का अपरिहार्य गुण बन जाती है। अतः कविता संवेदनशील वस्तुवत्ता है।

होता यह है कि इंद्रियबोध अपनी प्राकृतिक सामान्य दशा से—स्थिति से—असामान्य दशा की—स्थिति को—पहुँचाया जाता है और पहुँचाने का यह काम स्वयं कवि अपनी आत्मपरकता से करता है—और यह काम कवि अपने दिमाग में बंद होकर अपनी इंद्रियों को वहाँ से आज्ञा देकर नहीं करता कि हुकुम पाते ही इंद्रियाँ 'पावर हाउस' की तरह बिजली देने लगें। दिमाग में बंद होने का मतलब है कवि का मूर्त-जगत् से आँखें मूँद लेना और आँखें मूँद लेने का मतलब है—कवि का एक बंद इकाई हो जाना—शून्य के घेरे से घिर जाना और इस तरह मूर्त जगत् के स्थूल और स्थूल संघातों से वंचित रह जाना। संघातों से वंचित रखकर इंद्रियों को अधिक सक्रिय नहीं किया जा सकता। संघातों से वंचित इंद्रियाँ अक्षम हो जाती हैं। वह अपनी-अपनी प्राकृतिक क्षमता खो देती हैं। क्षमता खोने की यह क्रिया काफी अरसे में पूरी होती है। जब पूरी हो जाती है तब आदमी जड़ता की स्थिति पा लेता है। ऐसा आदमी मूढ़ कहा गया है। ऐसे मूढ़ को जगत् की गति नहीं

व्यापती। जगत् की गति का न व्यापना ही कवि का मूर्तजगत् से अलग हो जाना है और अलग हो जाने से ही कवि की इंद्रियाँ मूर्तजगत् से संघात पाना बंद कर देती हैं और संघात न पाने से ही इंद्रियाँ काम करना बन्द कर देती हैं और काम न करने से ही कोई प्रभाव दिमाग तक नहीं पहुँच पाता। ऐसी स्थिति में पहुँच कर दिमाग अनुर्वर हो जाता है। न दिमाग में कोई प्रभाव पड़ता है—न दिमाग सक्रिय होता है—न दिमाग प्रभावित कर सकने की स्थिति में होता है। इसके विपरीत, जो कवि जितना ही अधिक इस मूर्त जगत् की वस्तुवत्ता से सम्बद्ध होगा, आबद्ध होगा, आलिंगित होगा, अभिभूत होगा, वह कवि उतना ही अधिक इस मूर्त जगत् की वस्तुवत्ता से सम्पृक्त होगा—इसकी वस्तुवत्ता को आत्मसात् करेगा—इसकी वस्तुवत्ता से अपने दिमाग को भरेगा—दिमाग में भर गयी इसकी वस्तुवत्ता को अपने अर्जित व्यक्तित्व की छाप देगा और छाप देकर इसकी वस्तुवत्ता को अपनी अर्जित भाषा का शरीर देगा और ऐसा शरीर देकर इसकी वस्तुवत्ता को दूसरे के ग्रहण करने के लिए अधिक संवेदनशील बना देगा।

कविता की यह संवेदनशीलता भाषा-बद्ध होती है। भाषा सामाजिक होती है। भाषा को सामाजिकता मूर्त जगत् से सम्पृक्त होकर प्राप्त होती है। इसी सम्पृक्तता के कारण भाषा में संवेदनशीलता आती है और यही संवेदनशीलता कविता में ढलकर कविता को संवेदनशील बना देती है। कवि यही करता है। बन गयी कविता की संवेदनशीलता ही पाठक को या श्रोता को कविता के एक प्रकार के चुम्बकीय क्षेत्र में—परिक्षेत्र में—दायरे में—पहुँचा देती है और तब पहला काम यह करती है कि वहाँ पहुँचे हुए व्यक्ति को अपने प्रकार से अभिभूत करती है, सम्पृक्त करती है और ऐसा करते-करते दूसरा काम यह करती है कि ऐसे व्यक्ति को उसके अपने निजी परिवेश से—क्षेत्र से—दायरे से अलग कर देती है, ताकि अपने परिवेश से अलग हुआ व्यक्ति कविता के चुम्बकीय क्षेत्र का व्यक्ति हो जाये और इस नये क्षेत्र की उस वस्तुवत्ता से सम्बद्ध हो जाये, जिसे मूर्तजगत् की दूसरी वस्तुवत्ता कहा गया है और जो कविता बनाकर प्रस्तुत की गयी है।

ऐसे चुम्बकीय क्षेत्र में पहुँचा हुआ व्यक्ति अपने निजी परिवेश से अलग तो हो जाता है, लेकिन अलग हो जाने के बाद भी वह कोरा कागज जैसा नहीं रहता। वहाँ पहुँचकर भी यह अपने निजी परिवेश से अलग होकर भी एक जीवंत इकाई (आत्मपरक इकाई) बना रहता है जो मूर्तजगत् की वस्तुवत्ता से निर्मित और अर्जित हुई होती है और इसीलिए तो इसके साथ इसके अपने व्यक्तित्व में—तब भी मूर्तजगत् से अर्जित वस्तुवत्ता रहती हैं और यही वह वस्तुवत्ता होती है जो चुम्बकीय क्षेत्र में इसके साथ पहुँचती है और नये चुम्बकीय क्षेत्र की नयी वस्तुवत्ता के सम्पर्क

में आती है जो सम्पर्क में आने पर या तो नयी वस्तुवत्ता को अपनी वस्तुवत्ता का उजागर अंश समझकर अपना लेती है, या उसे अपना अंश समझने से इनकार कर देती है। अपना और इनकार करने का यह काम पाठक या श्रोता करता है मगर किसी दैवी-प्रेरणा से नहीं, बल्कि अपनी तमाम अर्जित वस्तुवत्ता के बल पर ही ऐसा करता है। यह अर्जित वस्तुवत्ता ही पाठक या श्रोता का बन चुका व्यक्तित्व होता है और यही व्यक्तित्व नये चुम्बकीय क्षेत्र में पहुँचकर या तो इस क्षेत्र के प्रभाव को ग्रहण करता है या ग्रहण करने से मुकर जाता है। प्रभाव ग्रहण कर लेने पर व्यक्तित्व में (यानी व्याप्त वस्तुवत्ता में) एक ऐसा ही नया चुम्बकीय क्षेत्र बन जाता है और व्यक्तित्व में व्याप्त वस्तुवत्ता तदनुरूप चुम्बकीय बन जाती है। यही वह मानसिक स्थिति है जहाँ पहुँचकर पाठक या श्रोता मूर्त जगत् से अपना वैसा ही सम्बन्ध स्थापित करता है, जैसा संबंध कवि ने अपनी कविता में स्थापित किया है।

कवि और पाठक या श्रोता में अंतर यह होता है कि कवि सीधे मूर्तजगत् की वस्तुवत्ता के संपर्क में आकर, उससे सम्पृक्त होकर, उसे कविता की वस्तुवत्ता बनाकर संवेदनशील कर देता है। और पाठक या श्रोता, ऐसा न करके, कवि की बनायी हुई कविता की वस्तुवत्ता के सम्पर्क में आकर—उससे सम्पृक्त होकर, उसे अपने व्यक्तित्व की वस्तुवत्ता में समाहित करके अपनी संवेदनशील इकाई बना लेता है। कवि रचना-प्रक्रिया के दौर से गुजरता है। पाठक या श्रोता को इस प्रक्रिया के दौर से गुजरना नहीं पड़ता। कवि को रचना करनी पड़ती है, पाठक या श्रोता को रचना नहीं करनी पड़ती। कवि को मूर्त जगत् की वस्तुवत्ता को संवेदनशील बनाना पड़ता है। पाठक या श्रोता को ऐसा नहीं करना पड़ता। वे तो संवेदनशील बनी वस्तुवत्ता पा जाते हैं और उसका उपभोग करते हैं। लेकिन जब कवि, पाठक और श्रोता तैयार कविता को पढ़ते या सुनते हैं, तब तीनों बराबर होते हैं कवि भी अपनी बनाई कविता की वस्तुवत्ता का उपभोग करता है और पाठक तथा श्रोता भी वैसा ही उपभोग करते हैं।

कविता की वस्तुवत्ता की यह संवेदनशील इकाई जब एक से अनेक और अनेक से सैकड़ों-हजारों लाखों और करोड़ों व्यक्तियों तक पहुँचते-पहुँचते और ग्राह्य होते-होते स्मृति में समाते-समाते, स्मृति बनकर एक से दूसरी ओर और दूसरी से तीसरी पीढ़ी की ओर इसी तरह बाद की तमाम पीढ़ियों को मिलते-मिलते, समाज की, जाति की, और राष्ट्र की उपलब्धि हो जाती है और अतीत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य में स्थापित हो जाती है—प्रतिष्ठित हो जाती है—तब यह आदमी की संस्कृति की संवेदनशील इकाई बन जाती है और अन्य पूर्वार्जित सांस्कृतिक इकाइयों के साथ अपना संबंध स्थापित कर लेती है और साहित्य इस इकाई को

सुरक्षित रखता है। ऐसे ही—ऐसे होते रहने से ही यह सम्भव हो सका है कि आदमी के पास एक बहुत बड़ी साहित्यिक निधि संगृहीत हो गयी है। आदमी अनूठे-अनूठे अनेकानेक काव्य-ग्रंथों का स्वामी बन सका है। यह संवेदनशील इकाइयाँ—सब-की-सब मूर्तजगत् की वस्तुवत्ता की दूसरी वस्तुवत्ता को ही व्यक्त करती हैं। यह दूसरी वस्तुवत्ता यही व्यक्त करती है कि आदमी ने कैसे-कैसे, किस तरह से—कब-कब—मूर्त जगत् से क्या-क्या संबंध स्थापित किए और किन-किन परिस्थितियों में सम्बन्ध कैसे-कैसे क्या-क्या रूप ले सके और कथ्य होकर क्या-क्या और कितना-कितना दे सके।

इन संवेदनशील इकाइयों का महत्त्व ही इसी में है कि ये एक आदमी को दूसरे आदमी से जोड़ती हैं—दूसरे को तीसरे से, तीसरे को चौथे से और इस प्रकार सबको सबसे जोड़ती चलती हैं। आदमी-आदमी का अस्तित्व इस मूर्त जगत् में, एक-दूसरे के लिए अर्थपूर्ण हो जाता है। आदमी-आदमी से कुटुम्ब, कबीले, वर्ग, जाति, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र का भाव बोध पैदा हो जाता है और सब एक-एक साथ एक होकर, मानव-जाति के लिए सोचने-विचारने और काम करने लगते हैं। संसार सबका हो जाता है और सब संसार के हो जाते हैं। संसार आदमियों को और आदमी संसार को प्रभावित करने लगता है।

इन इकाइयों में यदि संवेदनशीलता न हो तो कविता में व्यक्ति हुई मूर्त जगत् की दूसरी वस्तुवत्ता चुम्बकीय नहीं हो सकती—आदमी उस वस्तुवत्ता से मानवीय सम्पर्क नहीं स्थापित कर सकता—न उस वस्तुवत्ता को अपनी वस्तुवत्ता का उजागर अंश बना सकता है—न ही कवि की संवेदनशीलता की मनोदशा को पहुँच सकता है। यह संवेदन-शून्य इकाइयाँ उसके लिए बेकार हो गये बल्ब के समान होंगी, जो न उजाला करता है न आदमी को मौका देता है कि वह कमरे में बैठी सुन्दरी को देख ले और देखकर भाव-विभोर हो जाये और उसका और सुन्दरी का भावात्मक संबंध हो जाये।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए—

एक माँ है। उसका इकलौता बेटा, बरसों हुए, मेले में खो गया है। वह अकेली रहती है। पति भी विदेश में है। वहाँ से बहुत दिनों से नहीं लौटा। एक दिन एक व्यक्ति उस माँ के पास आता है और उसे उसके इकलौते बेटे की फोटो दिखाता है। वह देखती है और देखती रह जाती है। बेटे की आम की फाँक-सी निश्छल आँखें, उसका हँसमुख चेहरा, उसके नरम-मुलायम कढ़े बाल, उसकी अपने पति की-सी आकृति—उसे देखकर तुरन्त ही 'माँ' कह उठने वाले ओठ, उसका भोलापन, उसकी नज़र—वह विह्वल हो जाती है बिसूरते-बिसूरते उन दिनों की याद

करती है, जब वह मेले में गयी थीं—वहाँ बेटा खो गया था—न मिलने पर दिन-दिन और रात-रात जागती रही थी—न खाना खाती थी न कोई काम करती थी। उसने ऐसे ही तड़पते-तड़पते साल-पर-साल गुजार दिए थे। सबसे पूछती थी। पता न पाती, फिर ऐसे-ही-ऐसे जीते-जीते वह बेटे को भूलने लगी थी। घर के काम-काज में मन लगाने लगी थी। पति की सेवा में समर्पित हो गयी थी। एक दिन वह भी आया कि उसका पति भी उसे छोड़कर बिना बताये, विदेश चला गया। इस मार्मिक दुःख से वह और विचलित हुई और नये दुःख के कारण पुराने दुःख की दारुणता खो बैठी। उमर ढल आयी। तभी उसने बेटे की फोटो देखी। अब वह इस समय फोटो के माध्यम से बेटे को सामने खड़ा देख रही थी। बेटे के मिल जाने के मोद में डूब रही थी।

यहाँ फोटो में बेटा नहीं है, फोटो में बेटे की मूर्तिमत्ता है। बेटे की मूर्तिमत्ता में पति की मुखाकृति है। जैसे नरम-मुलायम कढ़े बाल बेटे के रहते थे, वैसे बाल हैं। वही आम की फाँक-सी आँखें हैं, वही भोलापन है, वही दृष्टि है—यह सब-के-सब एक जगह हैं और वैसे ही हैं जैसे उसके बेटे के शरीर में थे। यह सब वैसे ही एक दूसरे-से सम्बन्धित हैं और वैसे ही यथास्थान होकर एक-दूसरे से व्यक्त होते हैं और एक-दूसरे को व्यक्त करते हैं—जैसी मात्रा में—भरपूर उसी तरह। इन सबका यों व्यवस्थित होना और व्यवस्थित होकर बेटे की मूर्तिमत्ता बन जाना और बन गयी मूर्तिमत्ता का माँ के सामने आकर प्रकट हो जाना सिवाय संवेदनशीलता के कुछ और नहीं है। इसीलिए बेटे की फोटो माँ के लिए द्वितीय बाधित उत्तेजक का काम करती है और बाधित-उत्तेजकता ही बेटे की मूर्तिमत्ता के तमाम सम्बन्धित अवयवों से संगठित होकर संवेदनशील हो जाती है और माँ को बेटे का भान कराने में सफल होती है।

अब इसी फोटो को किसी दूसरे अपरिचित व्यक्ति को देखने दीजिये। वह अपरिचित व्यक्ति इस फोटो को देखकर कदापि भाव-विभोर न होगा और न ही लड़के को सामने खड़ा देखेगा। फोटो माँ के लिए संवेदनशील हुई। मगर इस व्यक्ति के लिए वह फोटो संवेदनशील नहीं साबित हुई। कारण स्पष्ट है। माँ, अपने बेटे की मूर्तिमत्ता के तमाम अवयवों से पहले से अपना सम्पर्क स्थापित किए थी और उन तमाम अवयवों की पारस्परिक मैत्री की संगठित छवि को—इकाई को—आकृति को—देखा, देखकर अपना बेटा समझती आई थी। इसीलिए जब फोटो सामने आयी तो माँ ने अपने बेटे की मूर्तिमत्ता के तमाम अवयवों की पारस्परिक मैत्री की संगठित इकाई देखी और देखकर इस इकाई को बेटा समझ बैठी। माँ के लिए अवयवों की वैसी मैत्री अनुकूलित उत्तेजक बन चुकी थी और फोटो में उसे वही मैत्री

उसी उत्तेजकता के साथ मिली। तभी माँ भाव-विह्वल हो सकी। अपरिचित व्यक्ति के लिए लड़के के अवयवों की पारस्परिक मैत्री की संगठित इकाई कोई निजी महत्त्व नहीं रखती; क्योंकि दोनों में कभी भी कोई संबंध स्थापित नहीं हुआ और संबंध स्थापित न होने से ही वह संगठित इकाई अनुकूलित उत्तेजक नहीं बन सकी। और इसलिए वही फोटो अपरिचित व्यक्ति को भाव-विह्वल न कर सकी और न वह लड़के को सामने खड़ा देख सका। माँ के लिए तो वह फोटो, चुम्बकीय क्षेत्र बनाने में और माँ को उस क्षेत्र में आकर प्रभावित कर सकने में सक्षम हुई, परन्तु अपरिचित व्यक्ति के लिए कहीं कुछ ऐसा न कर सकी।

अब और आगे चलिए—

यह अपरिचित व्यक्ति एक अरसे के बाद एक दुर्घटना का शिकार बना। दुर्घटना होते ही एक अनजान आदमी उसे घटनास्थल से उठाकर अपने घर ले गया। वहाँ कई महीने तक इलाज चला। अपरिचित व्यक्ति अच्छा हुआ। अच्छा होने पर उसने उस घर के एक कमरे में वही फोटो लगी देखी जो उसे कई साल पहले दिखाई गयी थी। वह देखता रहा—देखता रहा और पूछकर जान सका कि लड़कपन की यह फोटो उसके प्राण बचानेवाले की है। अब उस फोटो का और उसका संबंध जुड़ गया। अब उस फोटो के संगठित अवयव चुम्बकीय क्षेत्र बनाने लगे और वह उस क्षेत्र में पहुँचकर प्रभावित होने लगा। अब फोटो की मूर्तिमत्ता में संवेदनशीलता पड़ गयी। जब वह उस घर से जाने लगा, तब उस फोटो को माँगकर ले गया और उसे जीते दम तक अपने कमरे में लगाये-लगाये देखता रहा और अभिभूत होता रहा। ऐसा इसलिए सम्भव हुआ कि फोटो में व्यक्त मूर्तिमत्ता अब उसके लिए उजागर हो गयी—यानी मूर्तिमत्ता के अवयवों से उसका घनिष्ठ संबंध स्थापित हो गया और यह संबंध प्राणवन्त हो गया। अब फोटो, फोटो न रही—एक जीवंत संवेदनशील इकाई हो गयी। यह इकाई बाधित उत्तेजक बनी हुई काम करने लगी।

इससे भी आगे चलिए—

फोटो लगाये कई साल बीत गये। दिन मजे में बीतते गये। अपरिचित व्यक्ति दिन-प्रतिदिन, कोई भी काम करने के पहले, फोटो के सामने जाकर श्रद्धा से नमन करता रहा। सब कुछ ठीक चलता रहा। लेकिन समय सबका एक-सा नहीं रहता। अपरिचित व्यक्ति के भी बुरे दिन आये। एक-के-बाद-एक संकट घिरे-घुमड़े और आफत बरसे। बेचारे की मनःस्थिति क्षीण पड़ी। दूसरों से कोई सहारा न मिला। वह फोटो के सामने जा-जाकर घंटों खड़ा रहने लगा—प्रार्थना करने लगा—जैसे फोटो संकट-मोचन भगवान हो। वह फोटो को मालाएँ पहनाने लगा, पूजा के भाव 360 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

से। संकट कटे या न कटे उसकी श्रद्धा अक्षुण्ण बनती चली गयी। वह हार-पर-हार खाता रहा; फिर भी उसकी आस्था उस फोटो से न हटी। फोटो, फोटो न रह गयी। फोटो में व्यक्त मूर्तिमत्ता उसके दिमाग में गहरे-से-गहरे पैठती चली गयी और उसका और उस मूर्तिमत्ता का लगाव इतना बढ़ा कि मूर्तिमत्ता देवत्व को प्राप्त कर गई और अलौकिक हो गयी। वह फोटो में व्यक्त मूर्तिमत्ता में परम दैवी शक्ति की मूर्तिमत्ता स्थापित कर गया। यह फोटो अब उसके लिये दैवी शक्ति की मूर्तिमत्ता की अनुकूलित उत्तेजक इकाई बनकर संवेदनशील हो गयी।

सारांश यह कि कविता में आयी वस्तुवत्ता का संवेदनशील होना लाजिमी है। संवेदनशील होकर यह दूसरों को ग्राह्य होती है। ऐसा होने में उसका मूल्य और उसकी महत्ता है, अन्यथा नहीं।

संवेदनशीलता को जानने के लिए यह जरूरी है कि कोई एक कविता ली जाय और उसकी परीक्षा की जाय। यह जरूरी नहीं है कि वह किसी कवि विशेष की हो या किसी काल-विशेष की हो या किसी देश-विशेष की हो। कविता, कविता तो है चाहे वह जिसकी हो, चाहे वह जिस कवि की हो, चाहे वह जिस देश की हो।

यह परीक्षण कोई भी कर सकता है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि परीक्षक कौन है किस वर्ग का है, किस संस्कार का है, किस रुचि का है और किस विचार का है? परीक्षक चाहे भी तो, दी हुई कविता से बाहर नहीं जा सकता। बाहर जाने का मतलब होता है उसका परित्याग और उसके परित्याग का मतलब होता है परीक्षा का परित्याग। इसलिए यह आवश्यक है कि कविता की ही परीक्षा की जाय, न कि कविता से बाहर किसी अन्य की की जाय। ऐसी परीक्षा से निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं—

1. कविता भाषा-बद्ध इकाई है, चाहे वह जिस भाषा की इकाई हो।
2. इस इकाई के शब्दों का संघटन विशेष और विशिष्ट है।
3. इस इकाई के संघटित शब्द मूर्तजगत् की वस्तुवत्ता को अपने ढंग से रूपायित किये हैं।
4. इस इकाई के शब्द मूर्त जगत् की वस्तुवत्ता को व्यक्त करने के योग्य हैं और तभी प्रयुक्त हुए हैं।
5. इस इकाई के शब्द कवि द्वारा संघटित किये हुए हैं।
6. इस इकाई के संघटित शब्द आत्मपरकता लिए हुए हैं।
7. इस इकाई के संघटित शब्दों की आत्मपरकता मूर्त जगत् की वस्तुवत्ता को विशेष और विशिष्ट बनाये हैं।
8. इस इकाई की आत्मपरक वस्तुवत्ता आदमियों के लिए है।

9. इस इकाई से आदमी व्यक्त-वस्तुवत्ता से अवगत है।
10. इस इकाई की व्यक्त वस्तुवत्ता से अवगत होकर आदमी मूर्त जगत् की उस वस्तुवत्ता से संबंधित है, जो इस इकाई में व्यक्त-वस्तुवत्ता का कारण बन चुकी है।
11. इस इकाई से असम्बद्ध इकाइयों के मूर्त जगत् में आदमी सम्बद्धता स्थापित किये है।
12. इस इकाई से आदमी से आदमी सम्बद्ध है और इस तरह सम्बद्ध होकर एक-दूसरे के हित में सोचता-विचारता है।

ऐसी कोई भी कविता न मिलेगी जो ये निष्कर्ष न दे, ऐसी कोई भी कविता न मिलेगी जो इन निष्कर्षों के विपरीत निष्कर्ष दे। इसलिए इन निष्कर्षों को महत्वपूर्ण मूलभूत (बुनियादी) निष्कर्ष मानना और कहना सही होगा। ऐसे परीक्षण से प्राप्त हुए इन निष्कर्षों से यह प्रमाणित हुआ कि मूर्त जगत् की वस्तुवत्ता आत्मपरक होकर मानवीय वस्तुवत्ता बनती है और मानवीय वस्तुवत्ता बनकर कविता की इकाई बनती है। इसलिए कविता की इकाई को मानवीय वस्तुवत्ता कहने में कोई हर्ज नहीं है।

यह मानवीय वस्तुवत्ता एक तो वस्तुवत्ता का विस्तृत प्रतिबिम्बन करती है, दूसरे, कवि की आत्मपरकता प्रस्तुत करती है। यह दोनों काम कविता की इकाई एक साथ करती है। वस्तुवत्ता और आत्मपरकता की यह संपृक्ति कविता में व्यक्त होकर कवि की मानवीय संवेदनशीलता को व्यक्त करती है। यह संवेदनशीलता न केवल मूर्तिमत्ता है, न केवल आत्मपरकता। और न केवल मूर्तिमत्ता संवेदनशील है या केवल आत्मपरकता। दोनों का रचना-प्रक्रिया के दौरान किसी एक मानसिक बिन्दु पर एक हो जाना जरूरी है और जब दोनों एक हो जाती हैं, तभी संवेदनशील हो जाती हैं और कविता में अभिव्यक्ति पाती हैं। इसलिए कविता कवि की कृतिबद्ध संवेदनशीलता की इकाई है। इसलिए कविता दूसरों के लिए भी कृति-बद्ध संवेदनशीलता की इकाई है। मतलब यह कि दूसरे भी इस इकाई को पाकर उसमें व्यक्त हुई उस आत्मपरक वस्तुवत्ता को पा लेते हैं जो कृतिकार को सुलभ हुई है। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि कविता में व्यक्त हुई वस्तुवत्ता कवि की आत्मपरकता से पहले ही संपुष्ट हो चुकी है और दूसरों को स्वयमेव उस वस्तुवत्ता को अपनी आत्मपरकता से संपुष्ट नहीं करना पड़ता। दूसरे सहज में ही आमतौर से उस आत्मपरक वस्तुवत्ता को पा लेते हैं।

इसके अलावा एक बात और है। आदमी चाहे वस्तुवत्ता को ग्रहण कर रहा हो, चाहे वस्तुवत्ता को अपनी बनाने में आत्मपरक हो रहा हो, चाहे ग्रहण की हुई आत्मपरक वस्तुवत्ता को कविता में रूपायित कर रहा हो, उसके इस सब करने में 362 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

‘सामाजिक प्रतिफलन’ काम करता रहता है। यह ‘सामाजिक प्रतिफलन’ आदमी को आदमी की तरह वस्तुवत्ता को पाना सिखाता है, पायी हुई वस्तुवत्ता को आदमी की तरह आत्मपरक बनाना सिखाता है और आत्मपरक हो गयी वस्तुवत्ता को आदमी की तरह आदमी की भाषा में रूपायित करना सिखाता है। तभी तो आदमी-आदमी की इकाइयाँ एक-दूसरे से जुड़ती हैं और जुड़-जुड़कर एक-दूसरे के लिए अर्थपूर्ण हो जाती हैं, तभी तो आदमी की आदमियत व्यापक हो जाती है और सर्वजनीन तथा संवेदनशील हो जाती है; तभी तो आदमियों से कटे हुए आदमी की आदमियत सबकी आदमियत से मेल नहीं खाती और कालान्तर में उसे ही खा जाती है, तभी तो कवि की कृति-बद्ध संवेदनशीलता दूसरों की संवेदनशीलता होने में अपना अर्थ और गौरव पाती है, तभी तो एक आदमी की कविता दूसरे आदमी की कविता हो जाती है और कालान्तर में वह भी पहुँचते-पहुँचते, सर्वजनीन और सर्वदेशीय हो जाती है।

इसलिए कहना पड़ता है कि संवेदनशीलता सामाजिक प्रतिफलन से जुड़ी है। सामाजिक प्रतिफलन से कटकर संवेदनशीलता, संवेदनशीलता नहीं रह सकती। अतः यह भी कहना पड़ता है कि कवि की संवेदनशीलता सबकी संवेदनशीलता से जुड़े और अपने गुण-धर्म से सबको प्रभावित करे और ऐसे सामाजिक प्रतिफलन से अपनी सार्थकता प्राप्त करे। सामाजिक प्रतिफलन को बिसार कर संवेदनशीलता को नहीं समझा जा सकता, इसलिए सामाजिक प्रतिफलन को ध्यान में रख कर ही संवेदनशीलता को आँका जा सकता है और इसके उपरांत कविता का मूल्यांकन किया जा सकता है।

कविता का मूल्यांकन केवल एकाकी कवि की अपनी वैयक्तिक रुचि के बल पर नहीं किया जा सकता और न ही उसमें व्यक्त वस्तुवत्ता के बल पर ही किया जा सकता है।

कविता का मूल्यांकन केवल कवि की आत्मपरकता के बल पर भी नहीं किया जा सकता। इतने के बाद और भी कई बातें हैं जिनसे संवेदनशीलता और भी साफ तरह से नज़र आने लगती है।

बात तो यह है कि मूर्त जगत् की वस्तुवत्ता और आदमी की आत्मपरकता द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से पार होकर संवेदनशीलता की भाषाबद्ध इकाई बनती है; द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के दौरान संवेदनशीलता रचित रूप पाने के लिए क्रमशः सघन होती है, द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से रचना-प्रक्रिया की ओर संवेदनशीलता संक्रमण करती है और इस संक्रमण-काल में सघन होती है द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया संघातों की सीधी प्रक्रिया है और रचना-प्रक्रिया इसके आगे की, सामाजिक प्रतिफलन में, कृतिबद्ध

होने की प्रक्रिया है; द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की स्थिति में अवगतता असम्बद्ध रहती है और यह असम्बद्धता वस्तुवत्ता और आत्मपरकता में व्याप्त रहती है, सम्बद्ध अवगतता की ओर प्रयाण करने पर द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की विशृंखलता विलुप्त होती है और रचना-प्रक्रिया की शुरुआत होती है। असम्बद्ध अवगतता से सम्बद्ध अवगतता में पर्यवसित होने से संवेदनशीलता रूपायित होती है। रूपायित संवेदनशीलता में कथ्य और शिल्प की निर्द्वन्द्वीय एकता समाहित रहती है; कथ्य और शिल्प की निर्द्वन्द्वीय एकता से सम्बद्ध अवगतता ही संवेदनशीलता है।

इस सब के बावजूद भी लोग पूछ ही बैठते हैं कि संवेदनशीलता कवि में रहती है या कविता में। इस सवाल से मालूम होता है कि लोग समझते हैं कि संवेदनशीलता कवि में होनी चाहिए, न कि कविता में। इस समझ के पीछे आम जन की धारणा होती है जो आज तक अक्षुण्ण रहने दी गयी है।

इसलिए इस सवाल का उत्तर देना सबके हित में है कि कृतिबद्ध संवेदनशीलता कवि में नहीं कविता में रहती है। कवि में रहती होती तो उसे रचना-प्रक्रिया को न भोगना पड़ता। रचना-प्रक्रिया को वह इसीलिए भोगता है कि उसकी आत्मपरकता, असम्बद्ध वस्तुवत्ता को सम्बद्ध मानवीय वस्तुवत्ता बना दे जिसे लोग कवि की संवेदनशीलता कहते हैं। वह वास्तव में संवेदनशीलता नहीं, उसकी आत्मपरकता है। अपनी आत्मपरकता की वजह से ही कवि संवेदनशीलता की इकाई कविता का सृजन करता है। संवेदनशीलता की इकाई का सृजन कर लेने के बाद ही कवि की आत्मपरकता उसके पास रह जाती है और वहाँ रहकर वह फिर किसी दूसरी इकाई के सृजन में लग जाती है। इसलिए यह कहना श्रेयस्कर है कि आत्मपरकता कवि की क्षमता है और उसकी इस क्षमता की उपलब्धि उसकी कृतिबद्ध संवेदनशीलता है। इसलिए यह कहना श्रेयस्कर नहीं है कि कृतिबद्ध संवेदनशीलता कवि के पास पहले से रहती है, जो उसी रूप में उसकी रचना में व्यक्त होती है। यह कहना भी श्रेयस्कर नहीं है कि रचना रचयिता की संवेदनशीलता का जामा है। चूँकि लोग अपने कहने में साधारणतया विवेकशील नहीं होते, इसलिए वह कवि की आत्मपरकता को संवेदनशीलता कह बैठते हैं। बात दरअसल में ऐसी नहीं है और तथ्य के सर्वथा विपरीत है।

अब यहाँ पर यह जान लेना भी जरूरी है कि संवेदनशीलता के संबंध की यह स्थापना पाठक और श्रोता को लेकर कहाँ तक ठीक उतरती है?

जब पाठक या श्रोता कृतिबद्ध संवेदनशीलता की इकाई-कविता को पढ़ता या सुनता है, तब वह उस इकाई में व्यक्त मानवीय वस्तुवत्ता को पाता है और उस वस्तुवत्ता को अपनी आत्मपरकता को सौंपता है और उसकी संतुष्टि करता है।

आत्मपरकता की यह संतुष्टि उसकी संतुष्टि है। यह संतुष्टि उसे इसलिए होती है कि उसे असम्बद्ध वस्तुवत्ता से अवगत होकर वस्तुवत्ता को संबद्ध बनाने के लिए द्वन्द्व के दौर से नहीं गुजरना पड़ता और न ही उसकी आत्मपरकता को रचना-प्रक्रिया भोगनी पड़ती है।

आत्मपरकता ही संवेदनशीलता का ज्ञान कराती है और कृतिबद्ध संवेदनशीलता के मर्म को ग्रहण करती है। आत्मपरकता ही व्यक्त संवेदनशीलता से सक्रिय होकर विवेक को मौका देती है कि वह उसका मूल्यांकन करे। आत्मपरकता ही व्यक्ति को संवेदनशीलता की इकाई को ग्रहण करने देती है।

भाषा की वस्तुवत्ता इकाई—कविता—एक छोर पर वस्तुजगत् से और दूसरे छोर पर कवि की वैयक्तिक आत्मपरकता से जुड़ी रहती है और इस प्रकार जुड़ी रह कर ही वह अपने अस्तित्व में आती है। तभी वह इस योग्य बनती है कि वस्तुजगत् और आत्मजगत्—दोनों का एकसाथ एक कृति के रूप में बिम्बन कर सके। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि कविता को देश-काल के परिप्रेक्ष्य में रखकर यानी ऐतिहासिक संदर्भ में रखकर, समझा जाय और उसकी संवेदनशीलता और संप्रेषणीयता के तत्वों से अवगत हुआ जाय। कविता भी अपने कवि की तरह इतिहास-सापेक्ष होती है। न कवि इतिहास निरपेक्ष होता है, न उसकी कविता। इतिहास निरपेक्ष हुआ कवि न इन्द्रियबोध के स्तर पर, न चेतना के स्तर पर जगत् और जीवन से सम्बद्ध और सम्पृक्त होता है, न वाणी और विचार से उस सत्य, शिव और सुन्दर को व्यक्त करता है, जो स्वयं इतिहास सापेक्ष है और कदापि संपूर्ण नहीं है। इतिहास निरपेक्ष कविता भी न आदमी के इंद्रियबोध की कविता हो सकती है, न उसकी चेतना की। ऐतिहासिकता में ही तो आदमी जगत् और जीवन को जीता है। उसी में रहते हुए ही तो वह अपना मूर्त और अमूर्त चिंतन बनाता है। इसी में ही हो रहे समस्त क्रिया-कलापों और तज्जनित परिवर्तनों से वह अपनी भावनाएँ प्राप्त करता है और अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता, अपने मानवीय संबंधों और सम्पर्कों को स्थापित करता, स्वयं प्रभावित होता और दूसरों को प्रभावित करता है और उस ऐतिहासिकता को सबके साथ मिलजुल कर, नया आकार-प्रकार देता है। ऐतिहासिकता भी बदलती और विकसित होती है, स्वयमेव नहीं, आदमियों के विकास क्रम के साथ।

जगत् और जीवन के आकार-प्रकार के विस्तार के सिवाय काल और कुछ नहीं है। यह आकार-प्रकार का विस्तार दिक् (Space) में होता है। इसलिए कवि और कविता दोनों ही दिक्काल-सापेक्ष होते हैं और इसीलिए कवि को दिक्काल-सापेक्ष होकर कविता लिखनी पड़ती है। तभी ऐसी कविता दिक्काल की कविता होती है और वहीं बनती-बिगड़ती रहती है।

मानव-समाज का विकास-क्रम विभिन्न-काल-खण्डों में विभाजित किया जाकर जाना और समझा जाता है। प्रत्येक काल-खण्ड की अपनी विशिष्टताएँ और परिस्थितियाँ होती हैं। इन्हीं के द्वारा वह काल-खण्ड दूसरे काल-खण्डों से अलग पहचाना जाता है। इसलिए मानव-जाति का समग्र इतिहास भी विभिन्न काल-खण्डों के इतिहास से बनता है और वहाँ भी काल-खण्डों के परिप्रेक्ष में ही अध्ययन का विषय बनता है।

समग्र इतिहास के प्रत्येक काल-खण्ड को उसकी समग्रता में, उसके बाद वाले काल-खण्ड में, ज्यों-का-त्यों ग्रहण नहीं किया जा सकता। परिस्थितियाँ बदल चुकी होती हैं। पहले का द्वन्द्व और संघर्ष भी बदल चुका होता है। नयी दृष्टि और नये विचार जन्म ले चुके होते हैं। आदमी-आदमी के पारस्परिक वर्ग-गत संबंध भी दूसरे बन चुके होते हैं। कुछेक पिछली उन्नतिशील इकाइयाँ दूसरे काल-खण्डों में पहुँचकर अपनी प्रगतिशीलता समाप्त-प्राय कर चुकी होती हैं। कई मानव-मूल्य और मान्यताएँ भी समाज को आगे ले चलने में असमर्थ हो चुकी होती हैं। पहले काल-खण्ड का अतीत दूसरे काल-खण्ड में अनधिकृत रूप से पहुँचकर रूढ़ियों को विस्तार देता और नई चेतना की प्रगति को अवरुद्ध करता है। आदमी परम्परा और प्राचीन से संबद्ध रह कर, अंध-विश्वासी हो जाता है और मृत आदर्शों और मानव मूल्यों से चिपका रहता है। वह पुराणपंथी, भाववादी, रूढ़िवादी, मिथ्यावादी, मतमतांतरवादी और अहंवादी हो जाता है। उसे अपना ही हित-अनहित सर्वोपरि दिखाई देता है। दूसरे आदमी का हित-अनहित उसकी दृष्टि में कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। वही सामाजिक और शासकीय प्रमुख इकाई बन जाता है। दूसरों का शोषण करना उसकी नियति बन जाती है। अपनी वैयक्तिक इकाई को श्रेष्ठ और दूसरों की वैयक्तिक इकाइयों को लघुतम समझने की उसकी प्रवृत्ति बन जाती है। वही जैसे देश-काल का नियामक और नियंता बन जाता है। वह यही सोचने का अभ्यस्त बन जाता है कि समस्त श्री और संपदा उसी के लिए है और वही उसका भोक्ता है और सभ्यता और संस्कृति उसी की पल्लवित और पुष्पित की हुई है। एक तरह से जैसे वही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अधिकारी है—ऐसी धारणा उसकी हो जाती है। तभी प्रत्येक काल-खण्ड में नई-नई समस्याओं से जूझना पड़ता है और उनका समाधान नये-नये ढंग से करना पड़ता है, पुराने संबंधों को तोड़ना पड़ता है, पुरानी विचार-पद्धति को निर्मूल करना पड़ता है, वैज्ञानिक विारों का सहारा लेना पड़ता है, और उनके द्वारा समाज और शासन को यथानुरूप आकार-प्रकार देना पड़ता है, शोषकों का साम्राज्य नष्ट करना पड़ता है, मानव को मानवीय स्वाधीनता और गरिमा देनी पड़ती है। प्रत्येक की इकाई को दूसरों की इकाइयों से इस तरह सम्बद्ध और

सम्पृक्त किया जाता है कि महान् मानववाद के शोषणहीन समाज और शासन की अवतारणा हो सके और देश-विदेश के सभी मनुष्य एक सुखी, सारभूत जीवन जी सकें। संसार से सदा-सदा के लिए युद्ध का नामोनिशान मिट जाय—शांति की स्थापना में ज्ञान-विज्ञान की समस्त उपलब्धियाँ सबको सुलभ हों और आदमी अपनी सभी प्रकार की क्षमताओं को विकसित करें। साहित्यिक और कलात्मकता भी चरम शिखर पर पहुँचे। आदमी का व्यक्तित्व समग्र मानवीयता के गुणों को ग्रहण करे और उसका अहं महान् मानवीय अहं का अंश बने।

लेकिन इतिहास प्रत्येक काल-खण्ड में सीधे नहीं चलता। वह उस काल-खण्ड में जी रहे मानव-समाज द्वारा चालित होता है। मानव-समाज की प्रगति उस काल-खण्ड में अन्तर्विरोधों के उपत्त्र हो जाने से जटिल हो जाती है। इसलिए प्रत्येक काल-खण्ड की प्रगतिशीलता का मापन इस आधार पर किया जाना चाहिए कि समाज के हितों के लिए किस मात्रा में उपयोगी है, उससे जनता का जीवन किस कदर समुन्नत होता है, वह मानवीय चेतना को कैसे विकसित कर रही है, अपने उद्देश्य और प्रभावकारिता में कहाँ तक मानवीयता समा सकी है? वह प्रगतिशीलता मानवता विरोधिनी है जो नये के नाम पर अनेकानेक अनाचार का पालन-पोषण और प्रचार करती है। निस्संदेह प्रगतिशीलता अभिनव परिवर्तन (नवाचार) की ओर चलती है, नवाचार उसका मुख्य रूप होता है। किन्तु वह नवाचार, नवाचार नहीं, दुराचार है जो आदमी-आदमी के जीवन को शोषण से नहीं उबारता और उसकी चेतना को कुंठा और संत्रास से मुक्त नहीं करता। नवाचार तो अमानवीकरण भी है। यह अमानवीकरण प्रगतिशीलता का नवाचार नहीं, अप्रगतिशीलता का नवाचार है।

इसलिए सजग, चेता, प्रगतिशील कृतिकार को, इतिहास-बाधित व्यक्तित्व बनाकर, 'भाषा की वस्तुवत्ता इकाई कविता' की रचना करनी होती है। वह अन्य कृतिकारों की तरह, इतिहास से अबाधित रहकर, वैयक्तिक प्रवृत्ति (Trend) की एकांतजीवी कविताएँ नहीं रचता। वह सामाजिक चेतना का कृतिकार होता है। वह आदमी और समाज की प्रकृति को अपरिवर्तनीय मानता है। वह कला को विवेकीय मानता है। कला के संसार की कृतियों को एक-दूसरे से अलग और असम्बद्ध नहीं मानता। उनमें सम्बद्धता और सम्पर्क स्थापित हुआ पाता है और उसे वह आत्मपरकता-मात्र की विशिष्ट इकाइयाँ नहीं मानता। उनमें व मानवजाति की सौन्दर्यपरक प्रगति को देखता है। और वह कला को अन्तःप्रज्ञा नहीं मानता, न वैयक्तिकता को अन्तःप्रज्ञा मानता है और न वह यह मानता है कि वैयक्तिकता स्वयं दुबारा घटित नहीं होती। वह यह भी नहीं स्वीकार करता कि कला के क्षेत्र में प्रगति और अगति का प्रश्न ही नहीं उठता।

इतिहास-बद्ध होने का मतलब होता है कि प्रगतिशील कृतिकार अपने कृतित्व को, इतिहास के यथार्थ से सम्पृक्त होकर निर्मित करे, उसका कृतित्व इतिहास से प्राप्त उसकी आत्मपरकता का कृतित्व हो। उसकी यह आत्मपरकता नैसर्गिक न होकर इतिहास-बद्ध कृतिकार की आत्मपरकता हो। इसीलिए तो प्रगतिशील कृतिकार अपने कृतित्व का स्वरूप और स्वभाव मानवीय तत्वों से बनाता है। मानवीय तत्वों को नकार कर न वह आदिम अहं की इकाई बनाता है और न वैसी इकाई बनकर आदिम प्रवृत्तियों के सृजन की कृतियाँ देता है।

फिर भी ऐसा कहा जाता है कि कविता का अपना शास्त्र पहले से निर्मित हो चुका है और वह इसी शास्त्र से शासित और अनुशासित होती है। उस शास्त्र के अलावा उसको किसी दूसरे नियामक शास्त्र या सिद्धांत की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए कवि को कविता रचने के लिए इतिहासोन्मुख होने की कतई जरूरत नहीं है। मगर ऐसा काम ऐसी स्थापना, वही लोग प्रस्तुत करते हैं जो या तो कविता में मात्र रस की निष्पत्ति चाहते हैं या उसमें अलंकारों की योजना देखना चाहते हैं अथवा उसमें रीतिवाद का पिष्ट-पेषण चाहते हैं। इन प्रवृत्तियों का उदय और परिपालन उसी दशा में सम्भव होता है, जब कविता को उसके मूल स्रोत जन-जीवन से अलग कर दिया जाता है और उसे नये विकसित हो रहे मानवीय संबंधों और सम्पर्कों की विविधता से वंचित कर दिया जाता है। पहले कविता को विकसित करने का मतलब होता था उसे किसी भी एक स्थापित संकुचित कार्य की इकाई बना देना। यह पर्याप्त समय तक इस हद तक किया गया कि कविता केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के मन-बहलाव की वस्तु हो गई।

नव रसों को अमूर्त से मूर्त रूप देने में चाहे जितना कला-कौशल दिखाया गया हो, वह कला-कौशल मूर्तत्व में व्यक्त होकर भी मानवीय भावनाओं की विशदता को व्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ ही रहा। भावनाओं की लोकपक्षीय गरिमा और सहृदयता का ऐसी कविताओं में अभाव ही अभाव मिलता है। किसी ऐसी उच्छिन्न मूर्तिमत्ता से उत्पन्न रसोद्रेक सम्पृक्त रसोद्रेक नहीं होता। ऐसे रसोद्रेक में वह वस्तुवत्ता नहीं होती जिस वस्तुवत्ता से यह रसोद्रेक संबंधित होता है। वह वस्तुवत्ता ही तो कवि की आत्मपरकता के तत्वों से नयी काव्यात्मक वस्तुवत्ता बनती है, जिसे दूसरे लोग अपनी काव्यात्मक बिधि समझते हैं। रसवादी-काव्य के पुराने संस्कार अब भी, इस युग में भी, पीछा नहीं छोड़ रहे। तभी रसग्राही पाठक और श्रोता प्रगतिशील कविता को कविता ही नहीं समझते। इसका कारण उनकी अपनी संस्कारप्रियता है, न कि प्रगतिशील-कविता की कमजोरी।

अलंकारों से लदी कविता के विषय में भी यह बात लागू होती है। अलंकारों की सजावट कविता को पूरी तरह कृत्रिम और हृदयहीन बना देती है। कवि की आत्मपरकता विलुप्त हो जाती है। कविता ममताविहीन होकर केवल जड़ाऊ कंगन बन जाती है। न स्पर्श करती है, न इंद्रियबोध जगाती है। जीवन की जीवंतता से रहित वह जीवन का अंश नहीं बनती। अलंकारों के प्रयोग तभी तक उपयुक्त और वांछनीय हैं, जब तक वे कविता की विषयवस्तु को लिए हुए उसे निखारते और सार्थक करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त अलंकारों का अपने आप में कुछ भी महत्व नहीं है। सौन्दर्य, जो अलंकारों के द्वारा उद्भूत किया जाता है, वह सौन्दर्य न होकर उसके नाम पर, उसका निर्जीव प्रदर्शन होता है। सौन्दर्य तो कविता में तभी उद्भूत होता है जब वह कविता में जीवन के उन अंगभूत तत्वों के साथ आता है जो रचनाकार के द्वारा एक हृदयग्राही संहति की इकाई बना दिये जाते हैं। सौन्दर्य सूक्ष्म-तत्वी होकर भी स्थूल की ही सविशेष अभिव्यक्ति करता है। सौन्दर्य के द्वारा ही तो स्थूल अपना मनोहारी आकार-प्रकार प्रकट करता है। इतिहास पर जीने वाला कवि उसके घटनाक्रम से ही प्रभावित होता है और उसी क्रम से जीवन के स्थूल अंगों और क्रियाकलापों को उठाता है और फिर उन्हीं को आत्मपरक संहति देता है। अतएव इतिहास विमुखता किसी भी प्रकार से स्वीकार नहीं की जा सकती।

तुलसी, सूर, मीरा और कबीर की कविता इसीलिए तो आज तक जीवित और जीवंत है, क्योंकि उनकी कविताओं में व्यक्त उनकी आत्मपरकता जीवन के स्थूल पक्षों से पूर्णतया जुड़ी हुई है और कभी भी उन पक्षों का साथ नहीं छोड़ती। मीरा के पद गेय हैं, फिर भी उनकी संगीतात्मकता, उनमें व्यक्त वस्तुवत्ता के सन्दर्भ और संसर्ग में ही मानव को भाव-विभोर कर सकने में सक्षम हुई है। सूर के पद भी इसी को प्रमाणित करते हैं। यदि ऐसा न होता तो निश्चय ही उनकी कविताएँ जन-मानस की कविताएँ न बन सकतीं। बिहारी को लें। उनके घाव करनेवाले तथाकथित 'दोहरे' केवल खण्ड-खण्ड में एक-एक मुद्रा या चित्र प्रस्तुत करते हैं और वह भी पूरी कारीगरी से और बारीकी से, परन्तु वे केवल रसिक समाज के सीमित लोगों में ही जी सके हैं। जनता के जीवंत समाज में प्रवेश पा सकने में असमर्थ हो रहे हैं। उनके 'दोहरे', जीवन-बद्ध 'दोहरे' नहीं हैं। वास्तव में वे जीवन पर ऊपर से मढ़े गये 'दोहरे' हैं।

इतिहास-बद्ध होने का यह मतलब कतई नहीं है कि कविता इतिहास का घटना-मूलक बिम्बन करे और बिम्बन करने में स्वयं घटना की एक ठोस ग्रंथि बन जाय। ठोस ग्रंथि बनने का मतलब होता है कि उसमें मानवीय-मस्तिष्क के वे सब तत्व नहीं आयें, जिनसे आत्मपरकता बनती है। कविता, इतिहास की स्थूल काया

नहीं है, वह तो इतिहास की स्थूल काया को भी भाषा की वस्तुवत् इकाई बना देती है। ठोस इतिहास मानसिकता बनता है और मानसिकता बनने में गलता है और गलकर भावों और विचारों की रासायनिकता प्राप्त करता है और तब फिर रचाव की प्रक्रिया में भाषा-बद्ध होकर रूपायित होता है। इसलिए कवि को अपने युग की ऐतिहासिकता से बिचकने या भागने की अथवा उससे विमुख होने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

कविता और इतिहास में कतई कोई वैमनस्य नहीं है, न दोनों एक-दूसरे के खिलाफ हैं कि एक-दूसरे का मुँह न देख सकें और उनमें कोई आत्मीयता न स्थापित हो सके। कविता तो इतिहास का दूध पीकर पुष्ट और प्रवीण होती है और इस योग्य बनती है कि इतिहास के सत्य, शिव और सुन्दर को व्यक्त करे। आदमी की कविता आदमी के इतिहास की मानसिक अभिव्यक्ति है। जिये जा रहे इतिहास की कविता आदमी की क्षमताओं की कविता है। क्षमताओं की कविता में आदमी की अर्जित वैयक्तिकता रूपान्तरित रहती है। रूपान्तरित वैयक्तिकता संवेदनशील और सम्प्रेषणीय वैयक्तिकता होती है। तभी ऐसी कविता किसी एक की निजी उपलब्धि या सम्पत्ति नहीं होती, वरन् समाज की थाती होती है।

इतिहास में सत्य और असत्य, शिव और अशिव, तथा सुन्दर और असुन्दर का द्वन्द्व हमेशा चलता रहता है। यह द्वन्द्व समाज के आर्थिक, राजनयिक, दार्शनिक, न्यायिक और अन्यान्य क्षेत्रों में होता रहता है। यही नहीं, यह द्वन्द्व आदमी के जीवन में और उसके दिमाग में भी जारी रहता है। आदमियों का समुदाय वर्गों में विभाजित मिलता है। इसलिए एक वर्ग के हित दूसरे वर्ग के हितों से टकराते रहते हैं और सामाजिक जीवन संघर्षशील हो जाता है। आदमी अपने संस्कारगत स्वभाव से उस संघर्ष की अवस्था में भी, जीवन जीने में संलग्न रहता है और प्रचलित रस्मों रिवाज, धार्मिक आचार-विचार, श्रद्धा और विश्वास, नियति और दैवी आस्था के द्वारा अपना निर्वाह करता है। अपनी विवशता में बंदी मानव-समाज की इकाइयाँ यह नहीं जान सकीं कि द्वन्द्व के मूल कारण क्या हैं और कैसे उनका उन्मूलन किया जाय, जिससे शोषण की स्थितियाँ समाप्त हों और उनको मानवीय गरिमा मिले। हर आदमी एक अवैज्ञानिक दौड़ में भाग रहा है—हाँफ रहा है और जैसे-तैसे अपनी पूंजी अपनी 'अधारी' में धरे और कंधे से उसे लटकाये-बचाये, परेशान, असुरक्षित वर्तमान और संदिग्ध भविष्य में लोप होता जा रहा है। जो लोग इस भाग-दौड़ से उबरने-उबारने का उपक्रम करते हैं, वह भी स्थापित चले आ रहे राजनयिक और आर्थिक, वैचारिक और संस्कारित व्यवस्था के क्रम और उत्पादन-वितरण के ऊपरी ढाँचे को बनाये रखकर ही, उसमें बहुत हेर-फेर करते-कराते हैं

और सुधारक का अपना रोल अदा करते हैं। राजनयिक पार्टियाँ भी बनती हैं। वह भी एक-दूसरे से द्वन्द्व करती रहती हैं और जनता को यह समझना कठिन हो जाता है कि कौन पार्टी सही है और कौन गलत? जनता की अपनी पारम्परिक धारणाएँ होती हैं और वह उन्हीं की कसौटी पर पार्टियों के कार्यक्रम को परखती है। यह क्रम आज से नहीं, शताब्दियों से देश-विदेश में चालू है। इस क्रम को समाजवादी खेमे के देशों ने तोड़ा है और उत्पादन-वितरण की प्रणाली को समाजवादी राज्य की प्रणाली बनाया है, ताकि आर्थिक विषमता और शोषण दूर हो और पहले के पुराने संबंध-सूत्र छिन्न-भिन्न हों और नये समाजवादी संबंध स्थापित हों तथा ऊपरी ढांचा भी समाजवादी बने।

रूस की महान् अक्टूबर-क्रांति से देश-विदेश में नयी मानवीय चेतना का एक नया ही सूरज उदय हुआ। इस क्रांति से पहले भाववादी दार्शनिकों के सिद्धांत ही चेतना को निरूपित करते थे। तब चेतना परोक्ष परम सत्य या विचार से उद्भूत हुई समझी और मानी जाती थी। जगत् और जीवन में व्याप्त द्वन्द्व की यह चेतना उसी परम सत्य या विचार के आधार पर सुलझती थी। इसके सारे प्रयास यथार्थ से टकरा-टकराकर भी यथार्थ की सही समझ नहीं दे पाते थे। ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त के प्रतिपादित होने पर ही और उसी के आधार पर ही भाववादी विचारधारा का आधिपत्य उत्तरोत्तर क्षीण होने लगा और उपरोक्त भौतिकवाद का विश्वव्यापी विस्तार बढ़ने लगा। रूस के बाहर भी कई देशों में समाजवादी सरकार स्थापित हुई। संसार का एक छठा भाग उपरोक्त भौतिकवाद की कथनी और करनी से नयी मानवीय चेतना के निर्माण में लग गया और पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की अजर-अमर भाववादी दुनिया अपनी ही कथनी और करनी से संतप्त होने लगी और आंतरिक और बाह्य तनावों के घातों-प्रत्याघातों से विपर्यस्त होकर अपनी मानवीय चेतना की महान् संक्रांति से विवेकहीन और भ्रष्ट हो गयी। पहले के पारम्परिक संबंध टूटते-टूटते बेकार हो गये और नये-नये समाजवादी रंगरूप में मानवीय संबंध कायम होने लगे। पराधीनता के सभी क्षेत्रों में जन-जागरण के आन्दोलनों की धूम मच गयी। स्वाधीनता की ललक उत्ताल-तरंगों की तरह लहराने और हरहराने लगी। अपने देश भारत में भी इस अक्टूबर-क्रांति का प्रभाव बढ़ने लगा और जागरूक राजनैतिक नेताओं और तब के युवा पढ़े-लिखे कार्यकर्ताओं में क्रान्तिकारी चेतना धधकने लगी। लेकिन भारत इस बुरी तरह से विभिन्न धार्मिक-मतों से बँधा था कि नयी क्रान्तिकारी चेतना दुस्साहसिकता करके भी, जनता को इतना सबल और समर्थ नहीं बना सकी कि थोड़े ही समय में वह अपनी स्वाधीनता प्राप्त कर लेती। जन-जागरण के आन्दोलन देश में चलते रहे और धीरे-धीरे

राजनीति गहराती गयी। यहाँ के जन-जागरण के आन्दोलनों पर भाववादी विचारों और धारणाओं वाले लोग की ही अगुआई रही। उपरोक्त भौतिकवाद के कार्यकर्ता केवल श्रमजीवियों के बीच में ही और वह भी देश के एक बहुत सीमित कार्यक्षेत्र में ही स्वाधीनता की लड़ाई के लिए सचेत भावना पैदा कर रहे थे और शोषण-हीन समाज की स्थापना के लिए ललक और लालसा प्रज्वलित कर रहे थे। सन् १९३६ ई० में समाजवादी-विचारधारा के समर्थक युवकों ने अपने देश में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक-संघ की स्थापना की और उसका पहला अधिवेशन लखनऊ में मुंशी प्रेमचंद की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। यह अन्य साहित्यिक और राजनैतिक आंदोलनों से नितांत अलग, भौतिकवादी विचारधारा की चेतना का पहला प्रमुख चिरस्मरणीय अखिल भारतीय अधिवेशन था। इस संघ का काम-काज केवल बौद्धिक स्तर पर चला, इसलिए इसका प्रभाव-क्षेत्र भी बौद्धिकों तक ही सीमित रह गया। नतीजा यह हुआ कि यह प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन, कभी दक्षिणपंथी कभी वामपंथी दिशा और दृष्टि अपनाकर आगे-पीछे बढ़ता-हटता रहा और समाजवादी-राजनैतिक आन्दोलन के विशाल और व्यापक विस्तार के अभाव में, रुक-रुक कर ही साँस लेता हुआ अपनी सार्थकता सिद्ध करता रहा। अपने देश की धर्मान्धता, यहाँ की भाग्यवादी निरीहता की भाववादी दार्शनिकता, वर्णाश्रमी व्यवस्था, महाजनी सभ्यता, पारलौकिक प्रतिबद्धता, पुनर्जन्मवाद, निष्क्रिय तटस्थता दास-भक्ति, मायावाद आदि-आदि अन्यान्य चेतन और अचेतन संस्कार सब-के-सब देश और काल पर ऐसे हावी हो गये थे कि भारतीय जन सच्ची मानवीयता से अनवगत हो गया और वह केवल ब्रह्म में लीन होने में अपनी मुक्ति समझ सका। तबसे अब तक कई महत्वपूर्ण देशी-विदेशी घटनाएँ घटी हैं, फिर भी जनता और जनता के नेता सचमुच में समाजवादी-चेतना से प्रतिबद्ध नहीं हुए। बौद्धिक-वर्ग में भी कुछेक साहित्यकार उस चेतना से प्रतिबद्ध हुए हैं। वैसे, आम माहौल अब भी है—प्रतिबद्धता बहुत बुरी होती है और साहित्यकार को तो प्रतिबद्ध साहित्यकार होना ही नहीं चाहिए, क्योंकि प्रतिबद्धता और साहित्य में वैमनस्य है और प्रतिबद्ध साहित्यकार साहित्यिकता का सृजन ही नहीं कर सकता। प्रतिबद्ध साहित्यकार मौलिक नहीं होता। वह वर्गीय सिद्धान्तों से अनुशासित चेतना का प्रतिबिम्बन करता है, न कि विशुद्ध आत्मा की मौलिक कृतियाँ देता है। इस माहौल के बनाये रखने के लिए उत्तरदायी हैं, वे ही लोग जो समाजवाद को मानवीयता के लिए घातक समझते हैं। वे वर्गीकृत व्यवस्था को शास्त्रसम्मत मानते हैं और उसे नष्ट नहीं होने देना चाहते। वे भौतिक क्रांति के द्वारा वर्गविहीन समाज स्थापित करने के पक्ष में ही नहीं हैं, भौतिक क्रांति के द्वारा आध्यात्मिक (Spiritual) क्रांति की सम्भावना ही

नहीं देखते। आध्यात्मिक क्रांति को वे केवल व्यक्ति की क्रांति समझते हैं जिससे व्यक्ति अन्तर्मुखी होकर—संसार से विमुख होकर—परमब्रह्म को प्राप्त करता है। ब्रह्म की प्राप्ति को वह मुक्ति मानते हैं। ऐसी मुक्ति साधारण-जन की मुक्ति नहीं होती। साधारण जन तो बने-बनाये समाज का पुरातन-प्रिय जीवन जीने के लिए ही समर्पित बना रहता है, जन्म से लेकर मरते दम तक। समाजवादी विचारकों ने सामाजिक विकास के नियमों का पता लगाया कि श्रम के द्वारा ही यह विकास होता है और श्रमिक-वर्ग ही अगुवाई करके समाजवाद की स्थापना कर सकता है, जहाँ शोषण का नामोनिशान तक न होगा—प्रत्येक व्यक्ति के लिए उन्नति के सभी द्वार समान रूप से खुले होंगे। असल बात तो यह है कि प्रतिबद्धता के सिद्धांत को लोग उसके सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में नहीं समझते। रूस देश में तथा दूसरे समाजवादी देशों में जबसे समाजवादी व्यवस्था स्थापित होकर उत्तरोत्तर विकास करने लगी है, तबसे प्रतिबद्धता के सिद्धांत के विरुद्ध शोर-शराबा कम होने लगा है। फिर भी, अभी विरोध का स्वर शांत नहीं हुआ।

यदि समाजवाद का सविशेष अध्ययन किया जाय और समाजवादी देशों में हो रहे विकास-क्रम पर ध्यानपूर्वक गौर किया जाय तो प्रतिबद्धता की सच्चाई उजागर हो जाती है और यह भी भली भांति मालूम हो जाता है कि ऊपरी ढांचे को बिना परिवर्तन किये मानव को उसकी मानवीय गरिमा प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव मानवीय मुक्ति के लिए, मानवीय गरिमा के लिए उसकी चरम उन्नति के लिए, समस्त मानसिक शक्तियों के पूर्ण विकास के लिए, और देश-देश में पारस्परिक सहअस्तित्व के लिए और संसार से सदा-सदा के लिए युद्ध की समाप्ति और शांति की स्थापना के लिए प्रतिबद्धता के सिद्धांत का अपनाया जाना और उसका कार्यान्वयन किया जाना अत्यावश्यक है। साहित्यकार, समाजवाद से प्रतिबद्ध होकर, अपनी निजी इकाई से निकलकर, समाज की दूसरी इकाइयों से जुड़ता है और इस प्रकार दूसरों के साथ सम्बद्ध और सम्पृक्त होकर पूरे देश की जागरूक चेतना को विकसित और विवर्द्धित करता है। इस विकास और विवर्द्धन में उसकी अपनी चेतना भी विकसित और विवर्द्धित होती है और महान् मानवीय और जनवादी मान्यताएँ प्रतिष्ठित होकर सबका सर्वतोमुखी कल्याण करती हैं।

ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त महान् मानववादी वैज्ञानिक सिद्धान्त है। प्रतिबद्धता का सिद्धान्त इसी सिद्धान्त का कार्यकारी सिद्धान्त है। इस कार्यकारी सिद्धान्त से संसार में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं। क्रांतिकारी परिवर्तनों से संसार के कई देशों के ऊपरी ढांचे (super Structures) बदले हैं। वहाँ समाजवादी व्यवस्था स्थापित हुई है। समाजवादी व्यवस्था में रहने वालों की मानवीय

चेतना को नये-नये क्षितिज मिले हैं। नये क्षितिजों की ओर बढ़ते-बढ़ते वहाँ के लोगों का जीवन शोषण से मुक्त हुआ है। व्यक्ति-व्यक्ति की चेतना ने जगत् और जीवन के विकास-क्रम में सक्रिय सहयोग देकर निजी (एकाकी) आत्मिक इकाई (अहं) को दूसरों की वैयक्तिक इकाइयों से सम्बद्ध और सम्पृक्त किया है और इस प्रकार अपनी आत्मिक स्वायत्तता को विस्तृत और विवर्द्धित मानववाद को स्वायत्तता में रूपान्तरित किया है। यह रूपान्तरण व्यक्ति की आत्मिकता का हनन या विनाशन नहीं, वरन् उसका विश्वव्यापी स्वरूपन और विकासन है। इस स्वरूपन और विकासन के क्रम में व्यक्ति की आत्मिकता समग्र मानवीय आत्मिकता की ओर प्रयाण करती है और फिर सार्वजनिक आत्मिक स्वायत्तता और अपनी स्वायत्तता को एक-दूसरे से मिलने-मिलाने और प्रभावित होने देती है। समग्र मानवीय आत्मिकता में वैयक्तिक आत्मिकता के सभी तत्व रहते ही हैं, क्योंकि समग्र मानवीय आत्मिकता की स्वायत्तता को अवतरित ही इसलिए किया जाता है कि वैयक्तिक आत्मिकता को उस अवतरित स्वायत्तता में पूर्ण विकसित होने का व्यापक प्रसार और विस्तार सुलभ हो। मतलब यह कि पहले जो निजी आत्मिकता दूसरों की आत्मिकता से अलग होकर केवल अपनी भाववादी स्वायत्तता में ही पहुँचकर विश्वव्यापी ब्रह्म या परम सत्य या परम विचार में समाहित हो जाने का उपक्रम करती थी, वह अब प्रतिबद्ध होकर समाजवादी स्वायत्तता में पहुँचकर मानवीय आत्मिकता में समाहित हो जाती है। पहले प्रकार के समाहित होने को व्यक्ति की आत्मिकता का निरसंग एकाकी विलयन कहा जायेगा। तब आत्मीयता का सर्वनाश ही हो जाता है। दूसरे प्रकार के समाहित होने को व्यक्ति की आत्मिकता का समग्र मानवीय आत्मिकता में रूपान्तरित होना कहा जायेगा। तब आत्मिकता का सर्वनाश नहीं होता। पहले प्रकार के समाहित होने का यह भी मतलब होता है कि समग्र मानवीयता को ब्रह्म के रूप में माना जाये, ताकि वह धर्म की हानि होने पर अवतारी पुरुष बनकर मृत्युलोक में जन्मे और संसार को अधर्म से उबारे। सहज साधारण लोगों को यह दायित्व नहीं सौंपा जा सकता कि वह संसार को अधर्म से उबारें। इसके विपरीत दूसरे प्रकार के समाहित होने का यह मतलब होता है कि संसार की समस्याओं का निराकरण नित-निरन्तर इह-लोक का आदमी ही करता रहे। एक व्यक्ति के न रहने से कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि न रहनेवाले व्यक्ति की चेतना समग्र मानवीय चेतना में समाहित हो जाती है और अन्य लोग दुनिया सम्हाले रहते हैं और उसे फिर-फिर जन्म नहीं लेना पड़ता और न किसी ब्रह्म को अवतारी पुरुष बनकर आना पड़ता है। प्रतिबद्धता आदमी-आदमी की निजी (एकांगी) इकाई को तोड़ती है और समाज की अन्य इकाइयों की सार्वजनिक चेतना प्रदान करती है। प्रतिबद्धता सार्वजनिक शोषण-हीन मानवीयता को स्थापित करने का

सबसे मौलिक और वैज्ञानिक सिद्धान्त है। प्रतिबद्धता के द्वारा ही सर्वतोमुखी विकास की चरम उपलब्धियाँ जन-जन को प्राप्त होती हैं।

यह तो पूँजीवादियों और साम्राज्यवादियों का षड्यंत्र है कि वह अपने स्वार्थ के हित में प्रतिबद्धता के सिद्धान्त को अमानवीय सिद्धान्त घोषित और प्रचारित करते हैं। मानवीय स्वाधीनता के छद्म हिमायती बनकर अपने सभी साधनों से आदमी-आदमी को गुमराह करते हैं, जैसे कि मानवीय स्वाधीनता अलौकिक हो जो व्यक्ति, पैदा होते समय, अपने साथ लाता है और मरते दम तक उसी रूप में अक्षुण्ण लिए रहता है। और वह सिर्फ माध्यम होता है और उसे वैसे ही व्यक्त होने देता है जैसा उसका स्वभाव है। सुनने में यह प्रचार आकर्षक लगता है और ऐसी प्रतीति होती है कि जैसे इस प्रकार से व्यक्ति को बहुत बड़ी ऊँचाई मिलती है। परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर इसके पीछे चल रहा षड्यंत्र गोचर होने लगता है और व्यक्ति की तथाकथित उद्घोषित और प्रचारित स्वाधीनता का आधार साफ-साफ झलकने लगता है कि शोषण चला करे और व्यक्ति अपने अंदर-ही-अंदर सिकुड़ता चले और यथास्थिति ज्यों-की-त्यों बरकरार रहे, न कोई उलटफेर हो—न वर्गभेद मिटे—न सभ्यता और संस्कृति सबके लिए सुलभ हों।

प्रतिबद्धता निस्संदेह राजनीति से जुड़ी हैं। इसलिए यदि इसके विरुद्ध सविशेष-रूप से यह एक और आरोप लगाया जाता है कि साहित्यकार की चेतना और मौलिकता राजनैतिक चक्कर में पड़कर दूषित और भ्रष्ट हो जाती है और उसकी मौलिकता का सर्वनाश हो जाता है और राजनैतिक कार्यकर्ता होकर वह जो कुछ भी सृजन करता है, वह घटिया किस्म का साहित्य होता है। लेकिन विरोधी लोग यह भूल जाते हैं कि प्रतिबद्ध साहित्यकार की चेतना साहित्य की पूर्वाज्ञित विरासत के सभी मूल्यवान् तत्त्वों को स्वीकार करती है और उन्हें संरक्षण देती है और उन्हीं तत्त्वों से अपने नये कृतित्व की सम्भावनाएँ प्राप्त करती हैं। वह विरासत से प्राप्त तत्त्वों का ज्यों-का-त्यों पूर्ववत् प्रयोग नहीं करती, वरन् उन तत्त्वों को सही ढंग से समाजवादी मानवीयता के विकास के लिए प्रयुक्त करती है। प्रतिबद्ध चेतना का साहित्यकार यह बखूबी जानता है कि साहित्य और राजनीति की अपनी-अपनी विशिष्टताएँ होती हैं। राजनीति वस्तुपरक और कार्यकारी होती है, साहित्य आत्मपरक वस्तुवत्ता का बिम्बन करने वाला होता है। साहित्य कर्म करने की प्रेरणा और दिशा और दृष्टि दे सकता है और राजनीति अपने क्रिया-कलाप से साहित्यिक आत्मपरकता को सम्भावित कर सकती है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं, लेकिन एक-दूसरे का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। साहित्य की अपनी विशिष्ट पारम्परिक परिधि, निश्चय ही, राजनैतिक साहित्यकार की चेतना की नयी सृजन-धर्मिता से, नया युगीन जीवनाभिमुखी

विकास और विस्तार पाती है। विकास और विस्तार की अनंत साधना और सिद्धि ही साहित्य के विकास और विस्तार की साधना और सिद्धि है न कि उसके मूल्य की साधना और सिद्धि है। ऐतिहासिक द्वन्द्ववादीक भौतिकवाद जहाँ एक ओर देश-विदेश के पूर्ववर्ती जीर्ण-शीर्ण यथार्थ को बदलने का सोदेश्य कार्यक्रम प्रस्तुत करता है, वहाँ दूसरी ओर उस परिवर्तन के फलस्वरूप पूर्ववर्ती मानवीय चेतना को भी नयी मानवीय चेतना में बदलने का अभिप्राय रखता है। मानवीय चेतना आदिकाल से अबतक विकसित होती चली आई है। प्रतिबद्धता उसे विकसित करती है। लाजिम भी नहीं है कि साहित्यकार प्रतिबद्धित राजनैतिक कार्यकर्ता बने। उसे अपनी क्षमता के अनुसार अपना कार्यक्षेत्र चुनना चाहिए। लेकिन निश्चय ही उसे यह तो करना ही चाहिए कि वह संसार की गतिविधि को वैज्ञानिक तरीके से समझता रहे और अपनी चेतना को विकसित और विवर्द्धित करता रहे। वह पारम्परित अतीतधर्मिता से अपने को निकाले और समग्र मानवीय चेतना को अपनी निकली हुई चेतना से विकसित और विवर्द्धित करे। समग्र मानवीय चेतना भी तो परिवर्तनशील और विकासशील होती है। प्रतिबद्धता से न साहित्यकार की स्वाधीनता का हनन होता है और न उसकी मौलिकता का विनाश।

असमाजवादी देशों में, जहाँ साहित्यकार अप्रतिबद्ध रहकर निजी वैयक्तिक आत्मिकता और भौतिकता का साहित्य-सृजन करता है, वहाँ वह सार्वजनिक जीवन से विमुख होता चला आता है और इस विमुखता की बदीलत अन्ततोगत्वा अलगाव की भयावह स्थिति में पहुँचकर (anti-world) हो जाता है और इस बीच में उसका सृजित समस्त साहित्य, तरह-तरह की कथ्य और शिल्प की विसंगतियों से ओत-प्रोत हो जाता है। चरम परिणति यह होती है कि उसकी रचनायें 'अंगड़-खंगड़' बन जाती हैं और अमूर्तत्व का अभिशाप, उसे और उसकी चेतना को, अनस्तित्व में विलीन कर देता है।

विवेकवशवर्ती प्रतिबद्धता ही साहित्यकार के व्यक्ति को माँजती और निखारती है जो स्वयं चालित होकर रचना-प्रक्रिया के दौर से गुजरता है और फिर अपनी नयी विकसित आत्मपरकता की कृति को समाज को प्रत्यर्पित करता है। यह स्वचालन है, न कि बाह्यारोपण या कि Regimentation साहित्यिक रचना का उत्स हो ही नहीं सकता। वह उत्स तो आत्मपरकता में होता है। आत्मपरकता व्यक्ति की जीवनव्यापी क्षमताओं से रूपायित होती है। प्रतिबद्धता और Regimentation में अन्तर है। दोनों एक ही अर्थ में ग्रहण नहीं किया जा सकता। Regimentation सैन्यवाद का शब्द है, प्रतिबद्धता समाजवाद के क्षेत्र का शब्द है। हिन्दी में दोनों समानार्थी प्रचारित किये गये। यह गलत हुआ। नतीजा यह हुआ कि सन् १९३६

के बाद प्रगतिवाद की धारा के प्रवाह को पहले -‘लघुप्रयास’ से फिर ‘खुले विरोधी सामूहिक प्रयास’ से अवरुद्ध किया जाने लगा। इस प्रयास के लिए कटिबद्ध हुए परम्परावादी पीढ़ी के रूढ़िवादी लोग और उनका साथ दिया नवोदित विश्वविद्यालयीय बौद्धिकों ने। हिन्दी के तब के प्रतिष्ठित प्रतिष्ठानी सम्पादकों ने भी इस विरोध-अभियान में पूरा-पूरा सक्रिय सहयोग दिया। सरकार भी पीछे न रही। उसने ‘हंस’ का निकालना असम्भव कर दिया। अनेक प्रगतिशील साहित्यकारों को सरकार के कोप का भाजन बनना पड़ा। हाँ, अप्रतिबद्ध साहित्यकार प्रगतिशील साहित्य का सृजन करते रहे। ‘रूपाभ’ निकला। उसका स्वागत हुआ। अप्रतिबद्ध साहित्यिक चेतना ही प्रगतिशीलता का रूप और नाम उजागर किये रही। ऐसी प्रगतिशीलता के दौर में, सविशेष रूप से, हिन्दी-कविता आसमान से उतरकर ठोस मानवीय धरातल पर आयी और वह मजूर किसान के जीवन से सम्बद्ध हुई। काव्य के विषय बदले। काव्य के कथ्य और शिल्प में यथार्थ की तीखी और पैनी अभिव्यक्ति होने लगी। साहित्यिकता के नाम पर चली आ रही मात्र वैयक्तिक आत्मपरकता की अभिव्यक्ति की प्रणाली टूटने लगी। भावों की रहस्यवादिता खत्म की जाने लगी। आदमी के ठोस जीवन से आदमी का कथ्य और शिल्प प्राप्त किया जाने लगा। भाषा को संस्कृत-प्रदत्त भद्रता के क्षेत्र से निकाला गया और उसे सहज और सक्रिय जीवन की विविधता और प्रासंगिकता दी जाने लगी कि वह युग-बोध का निरूपण कर सके। जहाँ पहले कवि की अपनी वैयक्तिक विशिष्ट प्रतिभा प्रकाशित होती थी वहाँ वैसा होना बंद हो गया और युग के यथार्थ को प्रतिबिम्बित किया जाने लगा। जो कवि-वाणी, पहले कवि-मात्र की विशिष्ट वाणी थी और उसे ही समाज में प्रतिष्ठा दिलवाती थी, वह इस प्रगतिशील दौर में जनवाणी का रूप लेने लगी और समाज में जन-साधारण को—मजूर किसान को—साहित्यिक प्रतिष्ठा दिलाने लगी। पहले काव्य का लोक, मात्र विशिष्ट साहित्य का लोक था—वही अब जीवन का यथार्थवादी साहित्यिक लोक हो गया। पहले कवि की आत्मपरकता काल्पनिक उड़ान भरती और स्वच्छंद विहार करती हुई धूल और धरती से दूर रहती थी, अब प्रगतिशीलता उसे श्रम और स्वेद के मानवीय लोक में ले आयी। वह शोषण और दोहन के विरुद्ध गर्जन-तर्जन करने लगी। उसने पहले के तथाकथित अभिजात वर्ग के स्थापित सत्ताधारियों के मुखौटे उतारे—उनकी घृणित समाजविरोधी कुत्सित कथनी और करनी का वैषम्य व्यक्त किया। सभी सामाजिक क्षेत्रों में प्रगतिशीलता के विरुद्ध एक अनैतिक मानसिक वातावरण तैयार हो गया। उससे भारतीय संस्कृति को हानि होने की दावेदारी घोषित की जाने लगी। विरोधियों ने—व्यवस्था के सत्ताधारियों ने—विश्वविद्यालयीय बौद्धिकों ने यह न सोचा कि प्रगतिशीलता से,

प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन से हिन्दी के साहित्य की अभिवृद्धि होगी और वह पतनशील होने से बच जायेगा। उन्होंने प्रगतिशीलता के मूल तत्त्वों के प्रति घोर प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण अपनाया और उन्हें नकारने में ही अपनी भद्रता और विद्वता समझी। उसके मूलतत्त्व इसी भारत-भूमि के जन-जीवन के उपेक्षित वर्ग के सदस्यों से सम्बद्ध थे। फिर भी वर्ग-चेतना के इस भारतीय साहित्यिक आंदोलन को सब तरह से अभातीय कहा और बताया गया। वर्ग-चेतना को एकांगी निम्न-चेतना प्रतिपादित किया गया। परिणाम यह हुआ कि प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन उभार लेकर भी विरोधियों की नाकेबंदी की वजह से व्यापक प्रसार न पा सका। उसे जैसा प्रौढ़ और परिपक्व होने का अवसर मिलना चाहिए था, वह न मिला। चारों ओर की अवैज्ञानिक सूझ-बूझ की दुनिया में वह जनवादी चेतना का आंदोलन कुछेक व्यक्तियों और हिमायतियों तक ही सीमित रह गया। वे ही उसे सही समझकर अपनाये रहे और जनवादी-चेतना का कृतित्व करते रहे।

तभी प्रगतिशीलता को पीछे ढकेल कर प्रयोगवाद की धूम मचायी गयी। जनवादी चेतना के बजाय व्यक्तिवादी चेतना को उछाला गया। कृतिकार को यथार्थ से काटकर अहं की मौलिकता के प्रदर्शन की स्वतंत्रता दी गयी। प्रयोगवाद की मौलिकता आत्मान्वेषण की ओर चली और आत्माभिव्यक्ति को अपना चरम लक्ष्य मान बैठी। आत्माभिव्यक्ति की इन कृतियों में कृतिकार तो बिम्बित हुआ, मगर इनके माध्यम से वह समाज में बिम्बित न हुआ। कृतिकार का अपना रूप तो मिला मगर उसका वह रूप उसी का रहा, समाज का न हुआ। न कृतियों ने समाज को पाया न कृतिकार ने समाज को पाया। कृतिकार कृतित्व के धरातल पर, समाज का होकर भी, समाज का न हुआ। कृतिकार का समाजीकरण न हुआ। वह मौलिक हुआ, लेकिन उसकी मौलिकता सामाजिक मौलिकता न बन सकी। सामाजिक मौलिकता व्यक्ति की मौलिकता का व्यापक विविध रूप होती है। ऐसी मौलिकता में व्यक्ति की मौलिकता लिप्त नहीं होती, बल्कि सामाजिक मौलिकता को व्यक्त करती हुई वह मानववादी हो जाती है। मानववादी अथवा जनवादी हो जाना वैयक्तिक मौलिकता का विकास है। वैयक्तिकता और सामाजिकता के द्वन्द्व से कृतिकार को जिस मौलिकता की प्राप्ति होती है वह मौलिकता आत्मपरकता और वस्तुपरकता से निर्मित होती है, इसलिए वह वैयक्तिक भी होती है और दूसरों की भी होती है। तभी तो वह संवेदनशील और सम्प्रेषणीय हो सकती है। वैयक्तिक मौलिकता की कृति अपना ही जीवन जी कर अपनी मौत मर जाती है। वह न साहित्यिक विरासत लेकर आती है, न साहित्यिक विरासत देकर जाती है। उसका न कोई पूर्वज होता है, न आत्मज होता है। उसकी विशिष्टता ही उसे खो जाती है।

प्रयोगवाद के तीन 'सप्तक' मुद्रित और प्रकाशित हुए। इन सप्तकों में संकलित कविताओं के सभी कवि वास्तव में प्रयोगवादी नहीं थे। उनमें से कुछ ही कवि प्रयोगवादी थे और शेष अन्य कवियों में से कुछेक प्रगतिशील चेतना के और कुछेक नई कविता की चेतना के कवि थे। इन सभी कवियों को प्रयोगवाद के तीनों सप्तकों में स्थान देकर इस काव्यधारा को जान-बूझकर विस्तार दिया गया। वह इस विस्तार के सर्वथा अयोग्य थी। इस विस्तार की वजह से वह अन्तर अस्पष्ट किया गया जो प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और 'नई कविता' में था। विद्वानों ने तो इसपर भी उस अन्तर को बनाये रखा, लेकिन हिन्दी-काव्य का आम पाठक उसे कायम न रख सका, और वह काव्य की तीनों धाराओं की कविताओं को एक ही कोटि में रखने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि इन तीनों धाराओं की कविताओं का सही साहित्यिक मूल्यांकन कुछ-न-कुछ उलझन में जरूर पड़ गया। उनका उलझा मूल्यांकन अब भी निःशेष नहीं हुआ।

'नई कविता' प्रयोगवाद के बाद आयी। प्रयोगवाद का अपना वृत्त सीमित और संकुचित था। नई कविता का वृत्त उससे बड़ा और अधिक व्यापक था। 'नई कविता' के कवियों की संख्या प्रयोगवादी कवियों की संख्या से कई गुना अधिक थी। प्रयोगवाद के कवि अपने अहं के संस्थापक थे, मगर 'नई कविता' के कवि अहं से बाहर निकले हुए केवल अपनी व्यक्तिवादी चेतना की विशिष्ट मुद्राओं के निरूपक थे, इसीलिए 'नई कविता' की रचनाएँ सर्वसाधारण की चेतना के पास तक जाती थीं और प्रयोगवादी चेतना की रचनाएँ उससे अलग रह जाती थीं। परन्तु इस पर भी यह कहना न्यायसंगत न होगा कि 'नई कविता' की रचनाएँ सही अर्थ में सामाजिक जीवन की यथार्थपरक प्रगतिशील रचनाएँ थीं। व्यक्ति स्वातंत्र्य के जिस सिद्धान्त से प्रेरित होकर प्रयोगवाद की चेतना अहं में समाहित हो गयी थी उसी से 'नई कविता' की चेतना भी प्रेरित होकर अहं से बाहर निकली तो, फिर भी अपने कृतिकार के व्यक्तित्व की इकाई मात्र बनकर रह गयी। दोनों प्रकार की चेतना की रचनाएँ सहज मानवीय चेतना की आत्मपरकता और युगीन यथार्थपरकता से वंचित रह गयीं। 'नई कविता' का 'लघुमानव' कृतिकार का बनाया हुआ लघु मानव हुआ, लेकिन वह सामाजिक संघर्ष में संलग्न अन्तर्विरोधों से जूझता हुआ लघुमानव न हुआ। जहाँ कहीं 'नई कविता' में युग-बोध की झलक आयी थी, वहाँ वह समग्र सामाजिक परिवेश की तीव्रता और सघनता के साथ नहीं आयी। 'नई कविता' में आयी झलक में कृतिकार ही झलका। कृतिकार के आसपास का परिवेश नहीं झलका। यह सब होता रहा और 'नई कविता' आन्दोलन का रूप पाकर स्वयं भी प्रगतिशीलता से दूर-दूर चलती रही और हिन्दी के आम पाठक को भी प्रगतिशीलता

से अलग किये रही। वास्तव में 'नई कविता' का यह आन्दोलन भी प्रयोगवाद के वैयक्तिक आन्दोलन से भिन्न दूसरा वैयक्तिक आन्दोलन ही था। इन कवियों की वैयक्तिक चेतना बौद्धिक होती चली गयी और बौद्धिक होते-होते कथ्य और शिल्प की विशिष्ट वैयक्तिकता पाकर सार्वजनिक चेतना की वैयक्तिकता न पा सकी। 'नई कविता' वालों ने भी वही गलती की जो गलती प्रयोगवादियों ने की थी। बड़ा आश्चर्य होता है यह देखकर कि प्रयोगवादियों और नई कविता वालों ने अपने देश भारत के विशाल शोषित और दोहित जन-समुदाय के जीवन को छुआ तक नहीं। उनका भी यह सामाजिक उत्तरदायित्व था कि वह उस समुदाय के यथार्थ को अपने कविताओं का विषय बनाते। उनकी इसी संकुचित दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह सब-के-सब कविता को व्यक्ति की सम्पत्ति समझते थे और उसे समाज को देकर भी समाज की सम्पत्ति नहीं बनने देना चाहते थे। इसका यह भी निष्कर्ष निकलता है कि वह लोग अपनी वैयक्तिक चेतना को सामाजिक चेतना नहीं बनाना चाहते थे। व्यक्ति स्वातंत्र्य के सिद्धान्त की यह चरम परिणति इतनी दुखदायी हुई कि सहज मानवीय चेतना ज्यों-की-त्यों वहभ। उसी स्थिति से पड़ी रह गयी जहाँ वह पहले से थी। और हिन्दी की कविता का विकास-क्रम सही दिशा न पा सका।

अब जब हमारा देश समाजवाद की ओर जा रहा है, तब फिर प्रगतिशीलता सक्रिय हुई है और कवियों को यह स्पष्ट दिखने लगा है कि वैयक्तिकता का विशिष्ट बौद्धिक युग समाप्त हो चुका है और अब उनसे यह अपेक्षित है कि वह अपनी चेतना को सार्वजनिक जीवन से द्वन्द्व और संघर्ष से सम्बद्ध और सम्पृक्त करें, ताकि उनकी बौद्धिकता नहीं वरन् उनकी आत्मपरकता जनवादी ज्वार का, उसकी समग्रता में, रूपायन कर सके। कौन कवि किस हद तक ऐसा कर सकता है, यह उसकी क्षमता पर निर्भर है। यदि वह सामाजिक अथवा राजनैतिक कार्यकर्ता है तो निश्चय ही वह अपने आपको समाजवाद से प्रतिबद्ध करेगा और अपनी आत्मपरकता को उसी ओर ले चलेगा जिस ओर ले चलने का उत्तरदायित्व उसके ऊपर आ पड़ा है। यदि सामाजिक अथवा राजनैतिक कार्यकर्ता नहीं है तो भी वह एक नागरिक की हैसियत से इतना तो कर ही सकता है कि अपनी आत्म-परकता को युग और यथार्थ से जोड़े रहे और हो रहे तमाम परिवर्तनों की सही प्रतिक्रिया का बोध प्राप्त करे और अपने कृतित्व में उसे अपनी क्षमता के अनुसार आने दे। रुचि-वैचित्र्य का कभी भी यह अर्थ नहीं होता कि कृतिकार की चेतना, अपने आसपास के जीवन से प्राप्त हुई अवगतता को, सहज संवेदनशीलता और सम्प्रेषणीयता से वंचित कथ्य और शिल्प की इकाइयाँ बनाकर प्रस्तुत करे। यह महान् उत्तरदायित्व का काम है, इसका पालन आवश्यक है।

निश्चय ही समाजवादी कृतित्व के लिए प्रत्येक कवि को संघर्ष करना पड़ेगा। यह संघर्ष असाधारण होगा। पहले तो पारम्परिक वैयक्तिक दृष्टिकोण को तोड़ना पड़ेगा, फिर जनवादी यथार्थपरक जीवन-दर्शन को समग्र वैज्ञानिक और आलोचनात्मक दृष्टिकोण से ग्रहण करना पड़ेगा। विवेक और विवेचना से अन्तर्विरोधों के मूल कारणों को समझना पड़ेगा। नये बन रहे सम्बन्धों को पहचानना पड़ेगा। पहचानकर उन्हें आत्मसात् करना पड़ेगा और तब रचना-प्रक्रिया को उससे संचालित करना पड़ेगा और तब जाकर अपने मूर्त-चिन्तन को नये समर्थ बिंब-विधान के द्वारा भाषाबद्ध करना पड़ेगा। यह भाषा अपने कथ्य के अनुरूप ही शिल्पित होगी। समाजवादी देशों में वहाँ के कृतिकार ऐसा ही कर रहे हैं। उनके कृतित्व से हम लोग लाभ उठा सकते हैं। यदि हमने भी यह पथ पकड़ा तो हम भी अपने देश में समाजवादी साहित्य का निर्माण कर सकेंगे।

समाजवादी साहित्य कुत्सित समाजशास्त्रीय साहित्य नहीं होता। इसलिए नये साहित्य को समाजवादी बनाने के लिए सौन्दर्यपरक आयाम देने ही होंगे। सौन्दर्यपरकता समाजवाद के निर्माण को बिम्ब-विधान से स्थापत्य देती है, इसलिए समाजवादी कृतियों का कलात्मक होना भी विवाद से परे है।

समाजवाद में आदमी अपनी क्षमताओं को विकसित करने का अवसर पाता है। वह पहले से अधिक उन्नत होता है। उसकी चेतना महान् मानवीय गुणों को प्राप्त करने के लिए मानवीयकरण को संचालित करती है। समाजवादी कवि भी ऐसा ही आदमी होता है। इसलिए ऐसे कवि का कर्तव्य हो जाता है कि अपनी चेतना से समाजवादी जीवन को उसकी समग्रता में रूपायित करता रहे।

मैंने कविकर्म को ऐसा ही समझा है जैसा कि मैंने ऊपर कहा है। मैं प्रगतिवाद से सबद्ध रहा हूँ। मैंने प्रगतिशील कविताएँ लिखी हैं। मुझे अपने व्यक्तित्व को खोजने की आवश्यकता कभी भी महसूस नहीं हुई, वह मेरे आसपास के जनजीवन से निर्मित होता रहा है। मेरी चेतना इसी से बनती रही है। मैं मार्क्सवादी जीवन-दर्शन को जीवन के लिए ठीक समझता रहा हूँ और इसीलिए उसके बल पर जग और जीवन की विविधता और बहुरूपता को सही दृष्टिकोण से बूझता और कूतता रहा हूँ। मुझे भी ऐसा करने में आत्मपरक और वस्तुपरक संघर्ष करना पड़ा है और अब भी करता रहता हूँ। कविता से मुझे लड़कपन से लगाव रहा है। मेरे पिता जी प्राचीन काव्य के प्रेमी और सहृदय पाठक रहे हैं और स्वयं भी ब्रजभाषा की कविताएँ लिखते रहे हैं। वे अब भी काव्य में रुचि रखते हैं। मुझे उनके मुख से और उनके समसामयिकों से पुराने कवियों की कविताएँ सुनने का गौरव प्राप्त होता रहा है। तभी से मैं कविता की ओर आकृष्ट हो चला था और जब कुछ लिखने लायक

हुआ था तो लिखने भी लगा। मुझे गाँव में रहकर अपने देश की ऋतुओं का पूरा परिचय मिल चुका था। मैं धूप में नंगे पाँव दौड़कर धूप को पी लेता था। बरसात में बरसते पानी में भीगकर मैं भीतर तक बादल-बिजली की क्रीड़ाएँ भर लेता था। जाड़े की रातों के अंधेरे में रजाई ओढ़े धड़कते दिल से ठण्ड को भेदता रहता था। वसन्त के आने पर टेसू के फूलों की आग को आँखों-आँखों से पीकर अपनी आग बना लेता था। देहात का जन-जीवन सम्बन्ध और सम्पर्क का जीवन था। मैं कुलीन कुल का होकर भी अकुलीन लड़कों के साथ घुल-मिल जाता था और मैंने वहाँ रहते हुए यह कभी नहीं महसूस किया कि मैं कोई विशिष्ट लड़का हूँ। शिक्षा भी मैंने वहाँ से शुरू की, वह भी टाट पर बैठकर प्राप्त करता था। बुद्धि से कुशाग्र नहीं था, खेलकूद और भागदौड़ में रहता था। किताबों से अधिक आसपास के जीवन को देखता, सुनता और गुनता रहता था। जब सोलह-सत्रह साल का हुआ, तब ब्याह हो गया। उन्नीस वर्ष का हुआ, तो पिता हो गया। लेकिन घर-गृहस्थी का बोझ मेरे ऊपर नहीं पड़ा। यह भार तो मुझे सन् ३८ के बाद वकील होने पर ढोना पड़ा। इसलिए मैं, सन् ३८ के पहले, एक तरह का जंजाल-मुक्त जीवन जीता रहा। पढ़ने के सिवाय और कोई दूसरा काम मैंने नहीं किया। इसलिए मेरी कविता भी, मेरी ही तरह, मेरे साथ-साथ वैसे ही सम्बन्धों और सम्पर्कों से और वैसी ही अवगतता से रूपायित होती रही। मैंने हाईस्कूल तक साइंस पढ़ी थी। इन्टर में मैंने अर्थशास्त्र पढ़ा था। बी० ए० में मैंने दर्शनशास्त्र पढ़ा था। इन्टर में हिन्दी मेरा एक विषय था। मुझे पण्डित रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' ने हिन्दी पढ़ाई थी। वह इतने तन्मय होकर हिन्दी पढ़ते थे कि मुझे हिन्दी से विशेष मोह हो गया। आज भी मुझे जब कभी उनका पढ़ाना याद आता है तो ऐसा लगता है कि जैसे आसमान से कोई बादल झरझर पानी बरसा रहा है और मैं उसमें नहाए चला जा रहा हूँ। लेकिन वकील होने के पहले तक मैंने दुनिया का वह यथार्थ रूप नहीं देखा था, जो मैंने वकील होने के बाद, कचहरी में देखा। मुझे आदमी के इतने विकृत रूप दिखे कि मैं घबड़ा गया और मानव-जीवन को ही व्यर्थ समझने लगा। संसार तो मुझे धोखाधड़ी, दाँवपेंच, जाल-फरेब और ठगी का ठौर ही दिखने लगा। उस समय इन सबसे मुक्ति पाने का ध्येय ही मुझे जीवन का ध्येय लगा। मैं करनी तो करता नहीं था, इसलिए मेरी रुचि कर्म करके इस संसार को बदल देने की नहीं हुई। लेकिन 'निराला' जी के सम्पर्क में आकर उन्हें काव्य की अडिग साधना करते हुए देखा और उन्हीं के साथ मैं रहते हुए डॉक्टर रामविलास शर्मा से घनिष्ठ हुआ। शर्मा जी से ही मुझे मार्क्सवाद का दर्शन पढ़ने की प्रेरणा मिली। मैंने उसे मनोयोग से निरन्तर पढ़ा और तब मैंने दुनिया को और आदमी को समझा-बूझा। पहले का भाववादी मैं अब मार्क्सवादी

हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मैं यथार्थपरक होकर अपनी आत्मपरकता बनाने लगा और दोनों में तालमेल से प्रगतिशील कविताएँ लिखने लगा। बी० ए० में मेरे सहपाठी थे—सर्व श्री शमशेर बहादुर सिंह और नरेन्द्र शर्मा। दोनों ही कवि थे। उनके साथ-साथ उस समय अंग्रेजी-हिन्दी और उर्दू की कविताएँ पढ़ने और सुनने का सुअवसर मिला करता था। वह दोनों भी कविता ही प्रस्तुत करते थे। इसलिए वकील होकर मैं यथार्थपरक हुआ और कवियों और कविताओं के सम्पर्क में आकर कला के संस्कार से कलाभिमुखी हुआ। मैंने कविता को न तब और न अब शुद्ध कला समझा। मेरी यही समझ विकसित हुई कि जीवन से ही कविता निकलती है और जीवन को ही कलात्मक बनाकर व्यक्त करती है।

P

कविता क्या है?¹

कविता, कोई भी हो, किसी की हो, किसी भी युग की हो और किसी भी भाषा में लिखी गयी हो, शब्द और अर्थ की संहति दी हुई कृति होती है।

संहति में ही कविता व्यक्त होती चली आयी है और भविष्य में भी संहति में ही व्यक्त होती रहेगी।

संहति-विहीन कृति कविता नहीं होती, भले ही विकृति हो।

कृति तभी विकृति की संज्ञा पाती है जब उसमें प्रयुक्त हुए शब्द, संकेतबद्ध संस्कारों की क्षमता के संवाहक न होकर, केवल कृतिकार की निस्संग वैयक्तिकता की एकाकी आत्मनिष्ठा के संवाहक होते हैं। ऐसी एकाकी आत्मनिष्ठा के संवाहक शब्द अर्थवन्त नहीं होते।

अर्थवन्त शब्दों के अभाव से विकृति हुई कृति-निस्संग वैयक्तिकता की एकाकी आत्मनिष्ठ कृति—सृष्टि की सृष्टि नहीं होती, अपितु सृष्टि-विहीन सृष्टि होती है। इस सृष्टि-विहीन सृष्टि में वे सभी तत्व और तथ्य नहीं होते जो सृष्टि में पाये जाते हैं और आदमियों द्वारा अपनाये जाते हैं। तत्वात्मक और तथ्यात्मक न होने की वजह से सृष्टि-विहीन सृष्टि स्वयं में सम्पुटित होकर दूसरों के लिए निरर्थक, अबूझ रचना-इकाई बन जाती है। ऐसी निरर्थक, अबूझ रचना-इकाई का कोई मानव-मूल्य नहीं होता। मानव-मूल्य न रहने से ऐसी रचना-इकाई सामाजिक स्वीकरण पा सकने में असमर्थ होती है। सामाजिक स्वीकरण न पा सकने से वह दूसरों की चेतना में पहुंच नहीं पाती और उनकी मानसिकता को प्रभावित और रूपायित नहीं कर पाती और इस प्रकार वह, वह सब कुछ, कर नहीं पाती जो कविता को करना चाहिए और जिसे आज तक वह करती चली आयी है।

स्वयं में सम्पुटित हुई इस सृष्टि-विहीन सृष्टि की अवतारणा करने वाले कृतिकार यह समझते हैं कि उनकी वैयक्तिकता और उनकी आत्मनिष्ठता उन्हें उनके भीतर से प्राप्त होती है जिसका निरूपण और रूपांतरण उनके बाहर से नहीं होता। वस्तुनिष्ठता को वह अपनी वैयक्तिकता और आत्मनिष्ठता के लिए, कतई जरूरी नहीं मानते। तभी तो वह वस्तुनिष्ठता की उपेक्षा करते हुए निरंतर उससे मुँह मोड़े रहते हैं। परिणाम यह होता है कि उनकी आत्मनिष्ठता का निरूपण और रूपांतरण

1. 'पंख और पतवार' (1979) की भूमिका

एकांगी और संकीर्णकाय हो जाता है। उसकी यह एकांगिकता और उसकी यह संकीर्णकायिकता वस्तुनिष्ठता को प्रभावित कर सकने में पूर्णतया अक्षम बनी रह जाती है।

इसके विपरीत, लेनिन की अवधारणा अत्यंत वैज्ञानिक और महत्वपूर्ण है। वह कहते हैं :—

"Cognition is the eternal, endless approximation of thought to the object. The reflection of nature in man's thought must be understood not lifelessly, not 'abstractly', not devoid of movement, not without contradictions, but in the eternal process of movement, the arising of contradictions and their solution"

आत्मनिष्ठ कृतिकार संज्ञान (cognition) की इस धारणा की सरासर उपेक्षा करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से प्रेरित कृतिकार ऐसे संज्ञान की अवधारणा को स्वीकार करते हैं और उससे लैस होकर अपनी सर्जनात्मक चेतना को बनाते हैं, उसका निरूपण और रूपांतरण करते हैं, रचना-प्रक्रिया से गुजरते हुए, वस्तुनिष्ठता से प्रभावित होते हुए, आत्मनिष्ठ होते हैं, और जीवन के रंग-रूप की समग्रता को लिये हुए, भाषा-बद्ध कृतियाँ प्रस्तुत करते हैं। इन कृतियों में आयी हुई सृष्टि सार्वजनिक होती है। इनमें व्यक्त चेतना, कृतिकारों की चेतना होते हुए भी, दूसरों की चेतना से सम्बद्ध और सम्पृक्त होने की क्षमता रखती है। इनमें व्यक्त चेतना कृतिकारों की वैयक्तिकता का अपहरण किये हुए नहीं होती, वरन् वह वैयक्तिकता के उन आयामों को समोये हुए होती है, जो जन-जीवन के लिए दरकार होते हैं और जिनसे कृतिकारों और दूसरे आदमियों की एकात्मता स्थापित होती है। कृतिकारों की चेतना इसी तरह से व्यापक प्रसार पाती है और तब वह छुद्र संकुचितकाय इकाई के बजाय जन-मानस की प्रियतर समष्टित निधि बन जाती है।

आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता का बहुत गहरा सम्बन्ध सम्प्रेषणीयता से है। कविता जितनी अधिक आत्मनिष्ठ होती चली जायेगी, वह उतनी ही अधिक सम्प्रेषणीयता का परिहार करती चली जायेगी। हो सकता है कि किसी कुशल आत्मनिष्ठ कृतिकार की कुछेक कृतियाँ अल्पांश में सम्प्रेषणीय बनी रह सकें। वैसे आमतौर से आत्मनिष्ठ कृतियाँ सहजतया सम्प्रेषणीय नहीं होतीं। उनके सम्प्रेषणीय न होने की वजह बहुत स्पष्ट है। उनमें वस्तुनिष्ठता का प्रतिबिम्बन (reflection) कम-से-कम होता हुआ अन्ततः समाप्त हो जाता है। प्रतिबिम्बन की ऐसी कमी से और उसके ऐसे समाप्त होने से कृति में कृतिकार का वस्तुनिष्ठ इन्द्रिय-बोध आ ही नहीं पाता और अगर आया भी तो नाममात्र को आया हुआ होता है। वस्तुनिष्ठ

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 385

इन्द्रिय-बोध ही तो कृतिकार की अवगतता निर्मित करता है। जब कृतिकार अपनी अवगतता को परिवेश की समग्र वस्तुनिष्ठता से अलग कर लेता है और अन्तर्मुखी होकर अपनी आत्मनिष्ठता में डूब जाता है, तब वह बन्द इकाई हो जाता है और फिर भीतर-ही-भीतर अपनी निस्संग निजता से जूझने लगता है और जूझते-जूझते निजत्व को ही रचने लगता है, जो उसकी कृति होकर प्रकट हो जाता है। ऐसी कृति में व्यक्त निस्संग निजता कृतिकार की निस्संग मानसिकता होती है। यह मानसिकता दूसरों की मानसिकता से भिन्न होती है। तभी तो यह मानसिकता दूसरों की मानसिकता में रच-पच नहीं पाती। नतीजा यह होता है कि दूसरों का इन्द्रिय-बोध-जग नहीं पाता और उसके जग न पाने से वे अवगतता से वंचित रह जाते हैं और कृतिकार की रचना का मर्म समझ नहीं पाते। दूसरे तो अभ्यस्त होते हैं परिवेश की वस्तुनिष्ठता से उद्वेलित होने के और उससे अवगतता प्राप्त करने के। तभी तो वे वस्तुनिष्ठता के अभाव में निस्संग निजता की मानसिक कृति को आत्मसात् नहीं कर पाते। इसीलिए कहा जाता है कि कृति में वस्तुनिष्ठता को बराबर बनाये रखना चाहिये। ऐसा न होना चाहिए कि वस्तुनिष्ठता कृतिकार की आत्मनिष्ठता का कारण तो बने, लेकिन कारण बनकर वहीं से गायब हो जाये और वह आत्मनिष्ठ वस्तुनिष्ठता का स्वरूप न पाये, न ही कृति में आयी हुई सम्बद्ध और सम्पृक्त सृष्टि हो।

वस्तुनिष्ठता को ही सर्वस्व माननेवाला कृतिकार भी जब आत्मनिष्ठता की उपेक्षा करने पर तुल जाता है, चाहे अपने स्वभाव की वजह से हो, चाहे अपनी शिक्षा-दीक्षा की वजह से हो, तब वह भी अति के छोर पर पहुँच जाता है और ऐसी स्थिति में वह जो कुछ भी लिखता है, वह केवल वस्तुनिष्ठ विवरण होता है जो सतही सपाटबयानी के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। बहुत हुआ तो वह नारेबाजी हो गया। किसी सिद्धान्त का प्रतिपादनमात्र हो गया। इस विवरण में—इस प्रतिपादन में—कृतिकार की आत्मनिष्ठता का अभाव ही रहता है। कृतिकार की आत्मनिष्ठता ही तो प्रतिबिम्बन से प्राप्त हुई वस्तुनिष्ठता को अपनी तरह से निरूपित करती है और उसे मानवीय मानसिकता देती है और फिर एक नयी सृष्टि के रूप में नयी कृति देती है। इस नयी कृति से ही दूसरे प्रभावित होते हैं और तब उनकी वस्तुनिष्ठ अवगतता आत्मनिष्ठ अवगतता में बदल जाती है। यह वैज्ञानिक सत्य है। प्रत्येक अच्छी कृति में इस सत्य का समावेश रहता है।

कृतिकार की आत्मनिष्ठ वस्तुनिष्ठता वाली कृति सम्प्रेषणीय होकर भी यदि कलात्मक न हुई तो वह जहाँ-की-तहाँ पड़ी रह जाती है और वैसी ही कृतियों के समूह में खो जाती है। कलात्मक कृति अपनी निजता में साधारण को विशिष्ट बना देती है। विशिष्ट बना साधारण मौलिकता से सम्पन्न होता है, जो साधारण पहले छू नहीं

386 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

पाता, वही साधारण, मौलिकता से सम्पन्न होकर, दूसरों को छूने लगता है और उनका अपना बन जाता है। साधारण अल्प जीवी होता है, वही विशिष्ट बनकर दीर्घजीवी हो जाता है। साधारण उत्प्रेरक नहीं होता, वही विशिष्ट बनकर उत्प्रेरक हो जाता है। साधारण असम्बद्धता और असम्पृक्तता में निजत्व खोये रहता है, वही विशिष्ट बनकर सम्बद्धता और सम्पृक्तता से निर्मित निजत्व से उजागर रहता है। साधारण को दिक् और काल छिपाये रखते हैं, विशिष्ट बने साधारण को दिक् और काल सिर पर चढ़ाये रहते हैं। साधारण गूंगा रहता है, वही विशिष्ट बनकर गुड़ का स्वाद बनने लगता है। साधारण मानसिकता-विहीन होता है, वही विशिष्ट बनकर मानसिकता का उद्घाटन करने लगता है। साधारण में मानव-मूल्य पनप नहीं पाते, वही विशिष्ट बनकर मानव-मूल्यों का संपोषण और संवर्धन करने लगता है।

कलात्मकता कोई अजनबी और आरोपित गुण-धर्म नहीं है कि उसे परित्याग कर दिया जाये। वही तो कृति को विकृति होने से बचाती है। वही तो सूक्ष्म संवेदनों को रूप और आकार देती है। वही तो भावनाओं और विकारों को सुन्दर सजीव स्थापत्य देती है। वही तो असम्बद्ध वस्तुनिष्ठता को मानवीय चेतना से गत्यात्मक बनाती है और जड़ता का संहार करती है। वही तो सृष्टि का रूपांतरण करती है और वही उसे मानव का वशवर्ती बनाती है। वही मानवीय बोध को निरन्तरता में जीवित रखती है। वही मानव-मूल्यों की महत्ता के फहराते केतुओं का रंग बदरंग नहीं होने देती। वही मानवीय सम्बन्धों को दृढ़तर और पावनतम बनाती है। वही अरूप को रूप और कुरूप को सुघर बनाती है। वही मर्त्य जीवन को अमर्त्य बनाती है। वही भूतल को स्वर्ग बनाती है।

आदमी ने कलात्मकता अर्जित की है। संघर्ष करते-करते उसने उसे पाया है। युग-युग की यात्रा करते हुए उसने उसे उत्तरोत्तर विकसित किया है और आज तक अब तक वैसा ही करता जा रहा है।

कलात्मकता का विरोध आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता का विरोध होता है। इन दोनों का विरोध मानव-जाति की निरन्तर विकसित हो रही प्रगतिशीलता का विरोध है। हाँ, उसी कलात्मकता का विरोध किया जा सका है जो रूढ़ि हो चुकी है और विकासोन्मुख नहीं है। वह भी गत्यात्मक और रूपांतरण-कामी होती है। उस पर भी ऐतिहासिकता का प्रभाव पड़ता है और वह भी प्रभावित होकर, ऐतिहासिकता को जीती हुई, नये-नये भावों और विचारों के अनुरूप अपनी सांहित्यिक स्थिति बदलती है। यह साहसिक बदलाव हो, मगर मानव-मूल्यों को विरूपित करनेवाला न हो, अन्यथा कलात्मकता पतनशील हो जाती है।

राजनीति के इस जीवन-व्यापी युग में कविता भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। जिन कवियों की चेतना में राजनीति ने सर्वोपरि स्थान पा लिया है और जो उससे अपने जीवन में सीधे जुड़े हुए हैं उन कवियों की कविताओं में राजनीति ही वस्तुनिष्ठता का रूप लेकर व्यक्त हुई है। वह राजनीतिक वस्तुनिष्ठता कवियों की आत्मनिष्ठता का कलात्मक रूप नहीं ले सकी। इस वजह से राजनीतिक कविताएँ सरल एवं सपाट हो गयी हैं। यह राजनीति का दोष नहीं, उनके लिखने वालों की समझ का फेर है। वह राजनीति और कविता के बीच का अन्तर नहीं समझते। कविता में आयी राजनीति वही राजनीति नहीं हो सकती जो बाहर होती है। कविता में आने के लिए, उसमें प्रवेश पाने के लिए, उसमें बिम्ब-विधान पाने के लिए और सफल और सुन्दर कृति का रूप पाने के लिए राजनीति को अपना बाहरी जामा छोड़ना पड़ता है और संवेदनशील होने के लिए कवि के आत्मनिष्ठ व्यक्तित्व में समाहित होना पड़ता है और फिर रूपायित होकर बाहर निकलना पड़ता है। बाहर आयी राजनीति तब वही राजनीति नहीं होती जो बाहर से भीतर गयी होती है। कृति-रूपा राजनीति आवेगों और संवेगों की राजनीति होती है। फिर भी वह राजनीति नहीं कविता कहलाती है। पाब्लो नेरूदा की कविताएँ राजनीति से सम्बद्ध और सम्पृक्त कविताएँ हैं। उनमें राजनीति के घटना-क्रम भी हैं और घटना-चक्र भी। उनकी कविताओं में स्थल-स्थल पर तथ्यात्मक विवरण भी है। परन्तु खूबी तो यही है कि इस पर भी कविताएँ कविताएँ हैं, राजनीतिक गोलाबारी या उसका धुआँ-धक्कड़ नहीं हैं। वे प्रतिबद्ध कविताएँ हैं लेकिन प्रतिबद्धता ने उनके काव्य-रूप को विरूपित नहीं किया। बजाय विरूपित करने के प्रतिबद्धता ने उन कविताओं को नये ऐतिहासिक और आत्मनिष्ठ आयाम दिये हैं और वे पूरी तरह से कलात्मक कृतियाँ हो गयी हैं। वह पूरे बल और वेग के साथ पतनशील राजनीति का पर्दाफाश करती है और अक्रामक स्वर में चोट-पर-चोट करती है। फिर भी काव्यात्मक की काव्यात्मक बनी रहती हैं वे।

प्रतिबद्धता का सिद्धान्त एक वैज्ञानिक संवर्ग है। यह, संकीर्ण वस्तुनिष्ठता और अहंवादी आत्मनिष्ठता की प्रवृत्तियों का विरोध, वैचारिक स्तर पर, करता है और इन दोनों प्रवृत्तियों की गलत सामाजिक और कलात्मक परिणतियों का भंडाफोड़ करता है। संकीर्ण वस्तुनिष्ठता में उन सब सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक स्थितियों से बने सम्बन्धों का प्रतिबिम्बन रहता है जो अंधरूढ़िवादी, भाग्यवादी और शोषणवादी व्यवस्थाओं को निरन्तर चालू रखते हैं और आदमी को आदमी नहीं रहने देते। अहंवादी आत्मनिष्ठता, साहित्य के क्षेत्र में घोर अराजकता की ओर संक्रमण करने का प्रतिपादन करती है। इन दोनों अतियों से साहित्य को बचाने का 388 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

वैज्ञानिक उपक्रम एकमात्र प्रतिबद्धता करती है। प्रतिबद्धता ही कृतिकार की चेतना को सही समझ देती है—जिसे प्राप्त करती हुई वह ऐतिहासिक युगबोध से बन रहे नये मानवीय सम्बन्धों की पक्षधरता करती है, ताकि आदमी का शोषण आदमी न कर सके और शांति और समृद्धि में सभी रह सकें। होता यह है कि प्रतिबद्धता की वजह से कृतिकार गलत रूझान वालों को अपनी सहानुभूति और सहृदयता नहीं देता बल्कि, उल्टे, उनके क्रिया-कलाप और उनकी विस्तृत भौतिक माया-जाल की विसंगतियों को निर्ममता के साथ ध्वंस करता है और प्रगतिशील शक्तियों का पथ प्रशस्त करता है।

स्वयं पाब्लोनेरूदा अपने अन्तिम दिनों में अधिक सरल और सुबोध और सीधी राजनीतिक कविताएँ लिखने लगे थे। उनकी पहिले की काव्यात्मकता और कलात्मकता बदल कर सामान्य जन की राजनीतिक चेतना से सम्बद्ध हो गयी थी। तभी तो वे अपनी इन अभिव्यक्तियों में अधिक आक्रोशी और आक्रामक हो गये थे। निस्संदेह वह अब राजनीति के वस्तुनिष्ठ प्रभाव से सोचने-विचारने लगे थे। इसीलिए उनकी कविताओं में बिम्ब-विधान और संश्लिष्टता की कमी हो गयी थी। नेरूदा की यह नयी आत्मनिष्ठता परिस्थितिवश, पहिले के अपने गुण-धर्म त्याग कर, राजनीति के गुण-धर्म को अपना चुकी थी। अन्यथा इस परिवर्तन का कोई दूसरा कारण समझ में नहीं आता।

नाजिम हिकमत भी अपने देश की राजनीति से सम्बद्ध सफल कवि रहे हैं। उनकी आत्मनिष्ठता और उनकी वस्तुनिष्ठता नेरूदा की दोनों निष्ठताओं से भिन्न प्रकार की थी। इसीलिए नाजिम हिकमत की कविताओं में वह संश्लिष्टता और समग्रता नहीं मिलती जो नेरूदा की कविताओं में बराबर मिलती रही है। नाजिम हिकमत सरल, सहज स्वभाव के प्रतिबद्ध कवि थे। उनकी सहजता और सरलता अन्त तक उनकी कविताओं में भी बनी रही। वह वस्तुनिष्ठता के घटनाक्रम और घटनाचक्र को पूरी जटिल बुनावट के साथ नहीं ग्रहण करते थे, अपितु वह, अपनी सीधी राजनीतिक अवगतता से प्रभावित होकर उसको उसी अवगतता से रूपायित करते थे। नेरूदा और नाजिम हिकमत की कविताओं की तुलना करना इसीलिए समीचीन न होगा। दोनों ही उच्चकोटि के, दो तरह की आत्मनिष्ठ वस्तुनिष्ठता के कवि थे।

मायकोवस्की प्रतिबद्ध कवि थे और अपने समय की राजनीति से पूर्णतया सम्पृक्त कवि थे। उनकी कविताओं में उनकी आत्मनिष्ठता वस्तुनिष्ठता के धरातल पर वैसे ही आवेग और संवेग से झराझर झरती थी, जैसे कोई पर्वतीय प्रपात निर्विरोध झरता हो। नाजिम हिकमत से अधिक संश्लिष्ट चेतना के कवि मायकोवस्की थे।

लेकिन नेरूदा की बहुआयामी वस्तुनिष्ठता की अवगतता उनकी कविताओं में नहीं मिलती। तीनों ही कवि अपनी-अपनी तरह की आत्मनिष्ठता के कवि थे और तीनों ने अपनी-अपनी तरह से अपनी-अपनी आत्मनिष्ठता व्यक्त की है। तीनों ही समाजवादी चेतना के शीर्षस्थ कवि थे और तीनों की कविताएँ देश-विदेश के लोग बड़ी रुचि से पढ़ते हैं और उनसे सम्पृक्त होते हैं।

इसीलिए यह कहना अनुचित होगा कि कौन कवि कौन सा काव्य-पथ अपनाये और किस प्रकार की कविताएँ लिखे। प्रत्येक कवि को अपना पथ स्वयं बनाना पड़ता है और अपनी क्षमता के अनुसार, उसपर चलकर, कविताएँ प्रस्तुत करना पड़ता है। यदि कवि की दृष्टि सही और सटीक समाजवादी चेतना और जनवादी वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता से विरचित हुई है तो निश्चय ही उस दृष्टि से रची गयी कविताएँ सम्प्रेषणीय होंगी और दूसरों की मानसिकता को वैसा ही बना सकने में सक्षम होंगी।

इसलिए आज के इस दौर में लिखी जा रही अनेकानेक कवियों की रचनाओं का मूल्यांकन इसी दृष्टि के आधार पर करना श्रेयस्कर होगा। इतनी छूट तो देनी ही होगी कि कविगण एक ही साँचे में ढली हुई एक ही प्रकार की मानसिकता की कविता लिखने के लिए बाध्य न हों। ऐसा करने से ही कवियों की मानसिकता पूरा विकास पा सकेगी और काव्य के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न शैलियों के रूप प्रस्तुत हो सकेंगे। प्रतिबद्धता कभी भी किसी कवि की आत्मनिष्ठ मौलिकता के आड़े नहीं आती और न ही उसके विकास को अवरुद्ध करती है।

इधर अपने यहाँ हिन्दी की लघु-पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाली तमाम छोटी-बड़ी और लम्बी कविताएँ देखने को मिली हैं। इनके कथ्य यथार्थ से लिए गये होते हैं और इनका शिल्प भी वैसे ही वस्तुनिष्ठता से विरचित होता है। इनमें व्यक्त आत्मनिष्ठता में वह कलात्मक गठन नहीं होती जो कृति को सहज साधारण से अधिक प्रियतर बनाये। इसका मूल कारण सम्भवतः यही है कि कवि कविता का भी जनतंत्रीकरण कर रहे हैं और इनकी अवधारणा भी यही है कि कविता को भी अपने वे सब, पहिले से प्राप्त और उपलब्ध किये हुए, कलात्मक गुणों को छोड़ना पड़ेगा और भाषा और शिल्प के धरातल पर भी केवल तथ्यात्मक विवरण प्रस्तुत करना पड़ेगा और अगर ऐसा नहीं होता तो कविता जन साधारण के पल्ले नहीं पड़ सकती।

ऐसी अवधारणा निश्चय ही सही नहीं है। कविता को जनतांत्रिक बनाने के लिए उसे न तो अखबारी वक्तव्य बनाया जा सकता है, न ही उसकी भाषा को मात्र सड़क और बाजार में प्रयुक्त होनेवाली बोली से निरूपित किया जा सकता है।

कविता ऐसे जनतंत्रीकरण से कविता नहीं रह जाती। कविता की अपनी कलात्मक विशिष्टता और भाषायी संवेदनशीलता होती है, जिसे कवि को अर्जित करना पड़ता है। जनतंत्र कविता में आये, लेकिन वह भी आत्मनिष्ठता से अपना रूप बदलकर, सविशेष होकर आये। सम्प्रेषणीयता के नाम पर और जनतंत्र की अभिव्यक्ति के लिये कविता को वही कलात्मक कथ्यात्मकता अपनानी पड़ेगी जो जनतंत्र के कथ्य को गुणात्मक रूप से हृदयग्राही बना सके। कविता का स्तर, बजाय नीचे गिराने के, ऊपर उठाया जाना चाहिए और इसके लिए कवि को अपने सामने उन महान कवियों की समाजवादी रचनाओं को रखकर उनसे अच्छा लिखने के वे आयाम लेने चाहिए जो उनकी मौलिक क्षमता के अनुरूप और अनुकूल हों। इसीलिए आज की अनेक लंबी जनतांत्रिक कविताएँ पाठकों को नहीं पकड़ पातीं और उनकी मानसिकता को प्रखर और प्रवेगपूर्ण नहीं बना पातीं। लगभग सभी कविताओं का धरातल एक जैसा लगता है। यही वजह है कि इन कविताओं को वही जनता अपना नहीं पाती, जिस जनता के लिये यह लिखी जाती हैं। न ऐसी जनतांत्रिकता से कविता का कोई भला होता है, न उस जनता का जिसके लिए इसकी दुहाई दी जाती है।

वास्तव में जनतंत्र और कविता के बीच में कोई विरोध नहीं होता। जनतंत्र भी आदमी को ऐसी परिस्थितियों में ले जाकर जिलाता है और जागरूक बनाता है जो उसे श्रेष्ठ नागरिक बनाती है। कविता भी यही काम करती है। इन दोनों के बीच का तथाकथित विरोध, जो सामने लाया जाता है वह विरोध उन लोगों के द्वारा उछाला जाता है जो जनतंत्र की पीठ पर, महावत की तरह सवार होकर, उसपर अपना निजी अंकुश लगाए रखना चाहते हैं, ताकि जनतंत्र उन्हीं की व्यवस्था को और उन्हीं की यथास्थिति की राजनीति को निरन्तर पूर्ववत् कायम किये रहे। यदि जनतंत्र से यह अंकुश हटा लिया जाये और वह अपना विकास महान मानववादी आदर्शों से करने की छूट पा जाये तो, निश्चय ही, उस जनतंत्र की राजनीति वह राजनीति न होगी, जो आज के तथाकथित जनतंत्र की राजनीति है। आज का जनतंत्र, जिसे हम सब रो-रोकर जी रहे हैं, हम लोगों को ही नहीं, बल्कि हमारी समग्र मानवीय क्षमताओं को, मौलिकता को, वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता को, सामर्थ्यहीन बनाकर दुर्बल और निर्बल कर देता है। होता यह है, कि आज की गर्मागर्म राजनीति कवियों को भी अपने लक्ष्य से भटका देती है और वे लोग अपने कविकर्म को कम महत्व देते हुए राजनीतिक वक्तव्य देने लगते हैं। इसीलिये इनकी कविताओं की भाषा कलात्मक नहीं हो पाती। वे केचुओं की तरह रेंगती रह जाती हैं, इसीलिए आज की कविता को इस दुखद स्थिति से निकालना चाहिए। अन्यथा वह बड़ी दीन-हीन और श्री-विहीन हो जायेगी।

सवाल यह है कि यह किया जाये तो कैसे किया जाये? क्या उसे सब तरह से नंगा कर दिया जाय? क्या उसे अजनबी और अनजान बनाकर विशिष्ट इकाई बना दिया जाय? क्या उसे सम्प्रेषणीयता के सभी तत्वों से वंचित कर दिया जाय? क्या उसे भावनाओं और संवेगों से कतई दूर कर दिया जाय? क्या उसे बौद्धिकता और आधुनिकता के चक्कर में डालकर सब तरह से अकविता बना दिया जाय याकि गद्य का ही रूप दे दिया जाय?

यही वे प्रश्न हैं जो आज कविता के सम्बन्ध में ज्वलन्त रूप से उभरकर सामने आते हैं। कविता को नंगा करने की कोशिश चल रही है। वह जहाँ-तहाँ नंगी भी की जा रही है। उसके नंगे करने को प्रमुखता भी दी जा रही है। ऐसी जितनी भी कविताएँ लिखी गई हैं, वे अपने-अपने कवियों की अक्षमताओं को ही प्रतिबिम्बित करती हैं। कविता को नंगे करने का मतलब होता है उससे उसकी अबतक की समस्त उपलब्धियों को छीन लेना। दूसरे शब्दों में इसे कहा जाय तो कहना पड़ेगा कि कविगण अपनी कविताओं में उनके वे गुणधर्म लाये ही नहीं जो गुणधर्म लाये जाते रहे हैं। ऐसी नंगी कविता की वकालत वही कवि करते हैं जो कविता के विकास को मानवीय विकास से अलग करते हैं और दोनों को एक-दूसरे के लिए आवश्यक नहीं समझते। यह धारणा नितान्त भ्रामक है। न ऐसी धारणा से कविता का सांस्कृतिक विकास होता है, न आदमी की सांस्कृतिक गतिमयता ही बनती है। कविता, अकेली होकर, अकेले में ही, मरती जाती है और अपनी अकेली स्वायत्तता में लीन होकर कवि के निजत्व के चारों ओर चक्कर काटने लगती है, और नहीं तो वह या तो रहस्योन्मुख होकर अनन्त की ओर दौड़ जाती है या बौद्धिकता की कैंची से अपनी सुन्दर सुकुमार भावना के पक्षों को कतरवा डालती है और केवल मानसिक ऊहापोह करने लगती है। इसीलिए ऐसी कविता भाषा का भी अतिक्रमण करने का प्रयास करती है। तब भाषा से प्राप्त होनेवाली उसकी सम्प्रेषणीयता भी समाप्त हो जाती है।

इसलिए कविता को उसके तमाम, उपलब्ध किये हुये, गुण-धर्मों, से वंचित न करना चाहिये, अपितु उसके उन गुणधर्मों को अपनाए रहना चाहिए जो उसे चमकाते और निखारते रहते हैं और उसे आदमी की सही सार्थक मानसिकता देते रहते हैं।

संज्ञान¹ की कलात्मक अभिव्यक्ति : कविता

कविता आदमी रचता है। इसलिए कविता के रचने में वह अपने को भी रचता चलता है। इसलिए अपनी रची हुई कविता में वह, बराबर प्रच्छन्न या अप्रच्छन्न रूप में विद्यमान जरूर रहता है। उसके अलावा भी उसकी रची हुई कविता में जो कुछ और विद्यमान रहता है, वह उसके बाहर के संसार का प्रतिबिम्बन होता है। इस प्रतिबिम्बन में बाहर का संसार उसी के माध्यम से, उसी की भाषा में व्यक्त होता है। यह व्यक्त हुआ संसार अपने आंशिक रूप से हर रचना में आता है। यह आंशिक रूप में आया संसार या तो प्रकृति की अभिव्यक्ति होता है या समाज के किसी पक्ष की अभिव्यक्ति होता है अथवा किसी सामाजिक या राजनीतिक घटना-क्रम से सम्बद्ध होता है। अलावा इसके भी और भी कई प्रकार की वस्तुवत्ता इसमें आयी हुई होती है। अतएव कविता केवल व्यक्ति की मानसिकता या चेतना की इकाई मात्र नहीं होती। वह वस्तुवत्ता से निरूपित हुई एक नितान्त नयी संश्लिष्ट इकाई होती है। यह संश्लिष्ट इकाई मानवीय बोध की इकाई होकर दूसरों के मानवीय बोध की इकाई बन जाती है। ऐसा ही क्रम बराबर चलता रहा है और आदमी ऐसे क्रम के द्वारा ही अपने को, अपने समाज को, अपने परिवेश को और देश-काल के घटना-क्रम को और उसके विभिन्न आयामों को और तदनु रूप कविता को रचता रहा है। इसलिए आदमी को और उसकी कविता को एक साथ उनके ऐतिहासिक सन्दर्भ में जाना और पहचाना जा सकता है।

अपनी प्रारम्भिक अवस्था में आदमी प्रकृति से संघर्ष करता रहा और उसे अपने अनुकूल बनाने का श्रमशील प्रयास करता रहा। समूह में रहना उसने सीखा, सामूहिक श्रम करना उसने सीखा; एक साथ मिलकर जंगल काटना उसने सीखा; आग जलाकर, मिलकर यज्ञ करना उसने सीखा; जानवर पालना उसने सीखा; जानवरों से भूमि जोतना उसने प्रारम्भ किया और बीज बोकर अन्न उपजाना और फसल काटकर घर लाना उसने शुरू किया। इसी अवस्था में वह जमीन, जानवर

1. लेनिन ने संज्ञान को यों व्यक्त किया है : Cognition is the eternal, endless approximation of thought to the object, the reflection of nature in man's thought must be understood not lifelessly, not 'abstractly', not devoid of movement, not without contradictions, but in the eternal process of movement the arising of contradiction and their solution.

और अपनी सुरक्षा के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने लगा और धीरे-धीरे पूर्ण-कुटी और आवास बनाने लगा। अपने इस संघर्षशील जीवन के युग में उसने जो कविता लिखी, वह प्रकृति के उदार और अनुदार, सुखद और दुःखद रूपों को अभिव्यंजित करते हुए लिखी। वह तब तक यह नहीं जान सका था कि बादल क्या होता है; बिजली क्या होती है; पानी क्यों और कैसे बरसता है? इसलिए उसने प्रकृति को शक्तिरूपा माना और उसने इन्द्र, वरुण, सूर्य, चन्द्र, जल, थल, पेड़ और पहाड़ के, अँधेरे-उजाले के; और ऋतुओं के देवी-देवताओं की कल्पना की और उन्हीं का स्तवन वह करने लगा कि वे उस पर प्रसन्न हों और उसका भौतिक जीवन सहज और सरल हो और वह समाज की स्थापना करते हुए सम्पत्ति अर्जित करे और ऐसा करने में यदि उसे दूसरे आदमियों के समूहों से युद्ध करना पड़े तो वह युद्ध भी करे और हारे हुए लोगों की जमीन-जायदाद पर अपना प्रभुत्व स्थापित करे। इसी क्रम में आगे चलकर उसने गण बनाये; गणों में पंचायतें बनायीं; राज्य बनाये; जातियाँ और वर्ग बनाये और निरन्तर अनेक प्रकार के विचारों से संघर्ष करता हुआ आज की इस राष्ट्रीय परिस्थिति में पहुँचा, जहाँ वह वैज्ञानिक विचार-बोध से विभिन्न जीवन-दर्शनों से तरह-तरह की राजनीतिक विचारधाराओं से कई तरह की शासकीय व्यवस्थाओं से गुजरता हुआ अपने मानवीय जीवन का लक्ष्य खोज रहा है।

विभिन्न युगों में चिन्तक हुये हैं। उन्होंने अपने चिन्तन से अपने युगों को प्रभावित किया है और अब भी प्रभावित कर रहे हैं। मुख्यतः रूसी क्रान्ति के पहले विश्व के अधिकांश देशों में भाववादी विचार-दर्शन का ही बोलबाला रहा है और आदमी का जीवन उसी विचार-दर्शन से तदनु रूप सत्य की पकड़ करता रहा है। उस दर्शन से आदमी स्वयं तो त्यागी और तपस्वी हो जाता था, किन्तु दूसरों को केवल परिकल्पनात्मक अमूर्त आदर्श देकर अपनी दैहिक मुक्ति पा लेता था। वह अपने ऐसे निजी प्रयास से मूलभूत भौतिक और सामाजिक परिवर्तन करने की कल्पना तक नहीं कर सकता था। परिणाम यही होता था कि वह सांसारिक बन्धन से अपनी मुक्ति का परमपद या निर्वाण तो पा लेता था, पर समाज के दूसरे सभी लोग यथावत् प्रपंच का जीवन जीते रहने के लिए बाध्य बने रहते थे। इस मानवीय जीवन का वैज्ञानिक और चेतन लक्ष्य मरते दम तक वे नहीं खोज पाते थे। तब के महापुरुषों की यह विवशता थी। तब गरीबी दूर करने का और सबको समान अवसर देने का कोई व्यापक आर्थिक या राजनीतिक कार्यक्रम नहीं होता था। आदमी भाग्य और विधाता और देवी-देवताओं की शरण में समर्पित होकर अपनी जीवन-यात्रा तय करता था। आत्म-संतोष कर लेना बड़ा भारी मानवीय गुण समझा जाता था। इसी वजह से आज तक आते-आते उन्हीं आदर्शों और उन्हीं गुणों को लिये-लिये आदमी 394 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

नेता भले ही बन गया हो, व्यापारी और पूँजीपति भले ही बन गया हो; अधिकारी और सरकारी भले ही बन गया हो, मंत्री, मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री भले ही बन गया हो; लेकिन देश के तमाम-तमाम लोग एक घटिया जीवन जी रहे हैं, जो मानवीय नहीं, बल्कि अमानवीय कहा जा सकता है। इसीलिए अपने देश के बहुसंख्यक आदमी वैज्ञानिक और समाजवादी विचारों को आज तक अपना नहीं सके। रूसी क्रान्ति के प्रभाव अपने देश में पड़े। यह प्रभाव-क्षेत्र केवल ट्रेड यूनियन के कार्यकर्ताओं तक और कुछ एक मध्यमवर्गीय पढ़े-लिखे व्यक्तियों तक ही बना। वे भी अपने देश की व्यापक भाववादी विचार-प्रणालियों से इतने अधिक निरन्तर घिरे हुये हैं कि उनका समाजवादी दृष्टिकोण, परिवर्तनकामी होते हुए भी, सक्रिय रूप से सफलता पाने में अक्षम हो जाता है।

ऐसी स्थिति के राष्ट्रीय जीवन-क्रम में मूलभूत भौतिक और मानवीय मूल्यों के समतावादी सिद्धान्त के द्वारा परिवर्तन लाने के लिए अब एक ही रास्ता बच रहा है कि देश की चेतना 'संज्ञान' के सिद्धान्त से लैस होकर, समाजवादी यथार्थवाद की अवतारणा करने के लिए कटिबद्ध हो और समस्याओं के समाधान तदनुरूप खोजे।

बात तो समाजवादी यथार्थवाद की सभी करते हैं। ऊपर से लेकर नीचे तक, शासक और व्यवस्थापक और इनके कार्याधिकारी इस बात के पक्षपाती नजर आते हैं। पढ़ी-लिखी जनता के नुमाइन्दे भी और बौद्धिक भी, इसके समर्थन में, अपनी लम्बी-लम्बी जबानें लपलपाते हैं और उत्सुकता और व्यग्रता दिखाते हैं। पर प्रयास करने में पिछड़ जाते हैं और पुराने पचड़े की राजनीतिक समझ से ही काम करने में लगे रह जाते हैं। मूलभूत परिवर्तन करने की जो मानसिकता उन्हें बनानी चाहिए और जो समझ उसके लिए उन्हें जनता में पैदा करनी चाहिए, वह उसे नहीं करते-कराते। कारण चाहे उनकी अपनी निजी विवशता हो, चाहे दूसरों की कठिनाइयाँ हों। फिर देशव्यापी रूढ़ियों से और उसके बनाये इस ऊपरी ढाँचे से लोहा लेना और उन्हें भरभराकर चूर कर देना कोई आसान काम नहीं है। ऐसा करने में चारों ओर त्राहि-त्राहि मच जाया करती है और देशभर में विरोध स्वर तीव्र-से-तीव्रतर मुखर हो जाता है। तभी सबकुछ उसी पुराने ढर्रे से चलाने का कार्य-क्रम लागू कर दिया जाता है। भले ही ऐसे कार्य-क्रम से राहत के कुछ रास्ते निकाल लिये जायें, पर व्यवस्था रहती यथास्थिति के चक्कर में ही है। यह सब इसलिए होता रहता है, क्योंकि हम सबकी अपनी-अपनी सीमाएँ हैं—संकीर्णताएँ हैं—मान्यताएँ हैं—घिसे-पिटे असमर्थ और अमूर्त भाववादी आदर्श हैं और स्वार्थों की टकराहट और कशमकश आड़े आकर अवरोध पैदा कर देती हैं। उसको स्पष्ट रूप से देखा जा

सकता है। शासन ऐसे ही राहत कार्यों के लिए पुराने कानूनों में कुछ नये-नये अधिकार देनेवाली धाराएँ जोड़ देता है या कि आर्डिनंस जारी कर देता है और जनता के सामने अपनी जनप्रियता का साक्ष्य उपस्थित कर देता है। जनता है कि ऐसे में फँसकर फिर नये भूल-भुलैया में पड़ जाती है और कुछ समय के उपरान्त ऐसी मिली हुयी राहत से बचने के लिए ललकने लगती है। पिछले कई दशकों का इतिहास इसी तरह का रहा है।

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विषमताएँ कम होती दिखाई नहीं देतीं, वरन् दिनों-दिन उग्र और तीव्र होती जाती हैं। अखबारों में जो समाचार आये दिन पढ़ने को मिलते हैं उनसे इस बात की पुष्टि होती है कि देश के लोग, देश में अव्यवस्था और असुरक्षा के चंगुल में फँसते जाते हैं। अपराध-वृत्ति और व्यापक उच्छृंखलता क्यों प्रकट होती है? और क्यों उसके निराकरण के प्रयास भी विफल हो जाते हैं? यह एक ऐसी समस्या है, जिसे गहरे जाकर समझना होगा। आदमी जब कोई अपराध करता है तब भी वह, आदमी रहता है और जिसके खिलाफ अपराध करता है, वह भी आदमी ही होता है। आदमी ही आदमी को अपना शिकार बनाता है। इसके पीछे सामाजिक सम्बन्धों की विषमता काम करती रहती है। साम्प्रतिक सम्बन्ध शाश्वत नहीं हैं, फिर भी शाश्वत समझ लिये जाते हैं और उसी को बनाये रखने के लिये, उन्हीं के भीतर, जीते रहने की योजना चलायी जाती है। इसीलिए समाज में कोई बहुत छोटा है तो कोई बहुत बड़ा। किसी के पास जमीन नहीं है तो किसी के पास बहुत जमीन-जायदाद है। कोई दिन-भर हाड़-तोड़ परिश्रम करके दो जून की रोटी कमा पाता है तो कोई, न कुछ करके भी, आराम से दूसरों का श्रम चुराकर अत्यधिक आर्थिक लाभ उठाता है। यही हालत व्यापार के कार्य-क्षेत्र में दिखाई पड़ी है। सच तो सभी बोलते हैं लेकिन हर एक का सच उनके स्वार्थ का और हित का सच होता है और दूसरे की क्षति और अहित का कारण बनता है। औरतों को आदमियों के समकक्ष अधिकार देने की घोषणा खूब होती है। लेकिन, अब भी औरतें उन अधिकारों से वंचित रह जाती हैं और जैसा जीवन जीने के लिए वे बाध्य बनी हुयी हैं, वैसा कदापि मानवीय जीवन नहीं कहा जा सकता। पिता अपनी पुत्रियों को अपनी जायदाद से, वसीयत लिखकर, वंचित कर देता है। अपने पुत्रों को ही उसे दे जाता है। हर घर में पुत्र की स्थिति, पुत्री से अधिक सुरक्षित रहती है। आदमी ने औरतों को देवी और लक्ष्मी बनाया है और उसे चाँदी-सोने के अलंकारों के मोह से मोह रक्खा है। वह बेचारी शोषित और अपमानित रहती हुयी, अपदस्थ सामाजिक जीवन का दुःख भोगती रहती है। कभी किसी युग में मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने पैर के स्पर्श से शिला हो गयी, अहिल्या को फिर से नारी होने

का गौरव प्रदान किया था। ऐसा सम्भव नहीं था, फिर भी पुरुष-प्रधान समाज में अपनी मान-मर्यादा के लिये यह कल्पना-प्रसंग गढ़कर प्रस्तुत किया गया और अब तक की मानसिकता इसे सत्य ही समझती है। यह विडम्बना की स्थिति है। नारी को कोई शाप क्यों दे और वह पत्थर क्यों हो जाये और फिर उसका उद्धार क्यों किया जाये? यह अत्यंत सोच-विचार का विषय है। आज के वैज्ञानिक युग में नारी के उद्धार के लिये, उसके अधिकारों की माँग प्रबल हुयी है, जिन्हें पाकर ही वह पुरुष के साथ सहकर्मी होकर, अपनी खोयी हुयी मान्यता प्राप्त कर सकती है। लेकिन इसपर भी तो पुरुष-प्रधान समाज इस माँग की बराबर अवहेलना करता जा रहा है। वह इस सत्य को समझने से बराबर इनकार कर रहा है कि नारी पुरुष की दासी है और वह भी पुरुष के समान जीवन जीने की अधिकारिणी है। लिंग-भेद के कारण वह नर से नीची नहीं है। इसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में भी अनेक प्रकार की विडम्बनाएँ देश भर में व्याप्त दिखती हैं। शिक्षा की सही दिशा यही है कि वह मानव-जीवन को वैज्ञानिक और समाजवादी विवेक से ऐसे संस्कार दे कि अन्धकार से निकलकर प्रकाश पाये। वर्ग-विभक्त समाज वर्ग-हीन समाज हो और विषम साम्प्रतिक सम्बन्धों की बनी-बनायी अवधारणाएँ नष्ट हों और लोक-चेतना, समग्र मानवीय चेतना की निरन्तरता में समाहित हो और नयी कथनी-करनी का नया मानव-समाज बने।

जैसी सामाजिक मानसिकता है, वैसी ही मानसिकता कवियों की भी है। कवि विशिष्ट सम्वेदनशील व्यक्ति होता है। उसके पास भाषा होती है, वह दूसरों के समान ही साम्प्रतिक सम्बन्धों से बँधा हुआ तदनु रूप जीवन जीने का अभिलाषी होता है। अपने ऐसे ही समाज के लिए वह लिखता है और लिख कर अपनी तुष्टि करता है और दूसरों को वैसी ही मानसिक तुष्टि प्रदान करता है। वह भी पुरुष-प्रधान समाज के आदर्शों से लगा-लिपटा होता है और वह भी शासन और व्यवस्था की तरह अपने भाव-बोध और विचारों में यदा-कदा परिवर्तन करने का प्रयास करता है। फिर भी, उसके किये हुए परिवर्तन के प्रयास, मूलभूत परिवर्तन के प्रयास नहीं होते। इसीलिए कवियों को भी वैज्ञानिक और समाजवादी यथार्थवाद के जीवन-दर्शन से ही अपनी कविताओं की रचना करना परम आवश्यक है। अन्यथा उनकी कविताएँ भी नये आदमी को नयी मानसिकता नहीं दे सकेंगी।

हिन्दी-कविता के अबतक के इतिहास से यही पता चलता है कि वह उसी ऐतिहासिक जीवन के नाना रूपों को जीती चली आयी है, जिस ऐतिहासिक जीवन के रूपों को आदमी का समुदाय जीता चला आया है। पहले जब आदमी ने प्रकृति की विराट शक्तियों से साक्षात्कार किया तो जैसे आदमी ने प्रकृति में देवी-देवताओं

की अवतारणा की और वह उनके प्रति समर्पित हुआ, वैसे ही उसी के साथ-साथ उसकी कविता ने भी अपने-आपको देवी-देवताओं को समर्पित किया और उनके अस्तित्व को सर्वमान्य ठहरा कर उनके विविध रूपों को अंकित करती रही। हिन्दी की तब की सरस्वती इसीलिए देवी के पद पर आसीन कर दी गयीं और वह कमल पर बैठी, वीणा बजाने लगीं। बाद को, जब राजे-महाराजे आये और प्रभुता-सम्पन्न हुए तो हिन्दी की वही देवी सरस्वती राज-दरबारों की मानसिकता की सम्पोषक, रणरागी और अनुराग-रागी वरदायिनी शारदा हो गयीं। मीराँ ने राज-दरबारी मानसिकता त्यागी तो लेकिन वह राज-दरबार से अलग होकर कृष्ण के बड़े राज-दरबार में प्रविष्ट हो गयीं और तब उनकी मानसिकता मानवीय से दैवी हो गयी, और जो कुछ वह गाने लगीं वह नितान्त अलौकिक हो गया। कृष्ण उपास्य देव बन गये। और मीराँ उनकी उपासिका बन गयीं। साम्प्रतिक सम्बन्धों को तोड़कर भी, मीराँ सामाजिक जीवन में प्रवेश नहीं कर सकीं और धर्म की शरण में पहुँचकर नारी के कर्तव्यों को नकार गयीं। उनकी मानसिकता उदात्त होकर भौतिक धरातल से ऊपर उठ गयी और उनकी कविता जन-जीवन तक न पहुँच सकी। कबीर ने अपने युग के जन-जीवन को एक आलोचक की दृष्टि से देखा और तब के युग की विरूपताओं से उनकी आँखें लड़ीं और उन्होंने वर्गहीन मानसिकता से आम जीवन को जाँचा और परखा। तभी उनकी कविता में निर्भीक आदमी की मानसिकता, धर्मान्धता और पाखंड को तोड़कर जीवन्त शब्दों में व्यक्त हुई। यह उनका बड़ा साहसिक काव्य-कर्म था। लेकिन इस काव्य-कर्म की धारा आगे उसी रूप में प्रवाहित न हो सकी और हिन्दी-कविता यथावत् अपने पुराने पथ पर अग्रसर होती रही। सूर और तुलसी ने भी कृष्ण और राम के चरित्रों का गुणगान किया। सूर के पदों में कृष्ण की बाल-लीलाओं का, उनके खेल-कूद का, उनके ग्वाल-बालों का बड़ा मनमोहक चित्रण मिलता है। यही नहीं, सूर की मानसिकता ने कृष्ण का संघर्षशील व्यक्तित्व भी प्रस्तुत किया। कृष्ण कालियानाग नाथते थे और उसके फन पर सवार होकर अपने असाधारण वीरत्व का परिचय देते हैं, ताकि उस नाग से संतुष्ट समाज सुख और शान्ति से जीवनयापन कर सके। इसी तरह वह पर्वत छिगुली पर उठाकर मूसलाधार वर्षा से उस क्षेत्र की जनता को उबार लेते हैं। पूतना को भी कृष्ण मारते हैं और कई दैत्यों का भी संहार करते हैं। इसी प्रकार वह कंस का भी सर्वनाश करते हैं और ग्वाल-बाल और गोपियों के जीवन के संरक्षक-सखा बन जाते हैं। वही कृष्ण कौरवों-पाण्डवों के युद्ध के समय पाण्डवों का पक्ष लेते हैं। इन सब बातों की जो भी अभिव्यक्ति सूरदास ने की है, वह ब्रजभाषा में उस मण्डल की भाषा में की है। इसी कृष्ण-काव्य का प्रभाव व्यापक जन-मानस पर पड़ा और कृष्ण आराध्य देव

बन गये। इसी कृष्ण-काव्य को पढ़कर और गाकर सहज साधारण लोग आनन्द प्राप्त करते रहे और भव-बाधा से मानसिक मुक्ति प्राप्त करते रहे।

तुलसी ने राम-काव्य की रचना की। उन्होंने 'रामचरितमानस' लिखा। उनकी भाषा अवधी थी। उनकी कविता इसी भाषा में साकार हुयी। उन्होंने राम को भगवान् माना, लेकिन उनके चरित्र की वजह से उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम राम के रूप में उजागर किया। आज भी 'रामचरितमानस' देश के बहुसंख्यक लोगों का प्रिय और पूज्यकाव्य बना है।

सूर और तुलसी के कृष्ण और राम के गुणगान में ही जनता अपने जीवन की सार्थकता और सिद्धि समझती है। उन्हीं के गुणगान में डूबकर वह सांसारिकता से मुक्ति पाती है। इस बात से यही सिद्ध होता है कि देश की आम जनता का अपने भौतिक जीवन से वह लगाव नहीं है, जो लगाव पारलौकिक जीवन से है। इस लगाव से जनता की मानसिकता का रूप प्रकट होता है। यह मानसिकता भौतिक जीवन से परे की दैवी मानसिकता कही जा सकती है। यह अवश्य है कि ऐसी मानसिकता से भी मनुष्य ने जीवन जीकर उसी के अनुरूप अपना समाज बनाया और भक्तिभाव से परमात्मा में लीन हो गया। यह सब तत्कालीन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही सम्भव था। तब छन्द के समाहार का केन्द्र-बिन्दु अलौकिक सत्ता थी। फिर भी इस अलौकिक केन्द्र-बिन्दु तक पहुँचने के लिए, सभी को, उस अलौकिक सत्ता को, आदमी की तरह देखना, सुनना और समझना पड़ा। मतलब यह है कि वह अलौकिक सत्ता मनुष्य के बीच मनुष्य के रूप में ही चरित्र को चित्रित करने के लिये विवश और बाध्य हुयी। इसी विवशता और बाध्यता की वजह से आदमी ने भगवान् को स्वीकार किया और इसी मनोवृत्ति से संलग्न अपना जीवन-यापन करता रहा कि जब भगवान् को ही दुःख-द्वन्द्व और कष्ट भोगना पड़ता है तो उसकी बिसात ही क्या है, कि वह उस दुःख-द्वन्द्व और कष्ट को न भोगे। अतएव आदमी की यह आत्मपरकता ही उसे जिलाती रही और वह सक्रिय रूप से दुःख-द्वन्द्व से उबरने के लिये कोई मौलिक और भौतिक समाधान नहीं खोज सका। उसकी तत्कालीन वस्तुवत्ता पूर्ववत् कायम रही। उसमें मूलभूत मौलिक परिवर्तन नहीं हो सके। तब की मानसिकता और सत्य के पकड़ने का संज्ञान दुर्बल था। वह न तो वैज्ञानिक हुआ था न ही लोकवादी हुआ था।

ऐसी मानसिकता का यही क्रम बराबर चलता रहा। आदमी ने भगवान् को अपनी आत्मा समर्पित कर लोक-जीवन से अपने को अलग कर लिया। उसकी आस्था न अपने लोक-जीवन के पक्ष में रही, न आदमी-आदमी में रही। आदमी मात्र यान्त्रिक होकर दैनिक जीवन जीने लगा रहा। इसीलिए समाज और देश में कोई आमूल परिवर्तन न हो सका। देश जैसे धर्मबद्ध होकर भवसागर से पार उतर गया। हर एक आदमी जैसे सम्पुटित कमल की इकाई बन गया और जिस पंक में वह

जन्मा, वह पंक, पंक ही रह गया। भारतेन्दु के समय में जातीय चेतना जगी और उनके प्रयास से हिन्दी-कविता को मानवीय स्वर और सम्वाद मिले। कविता जीवनमुखी हुयी और आदमियों के पारस्परिक आचार-व्यवहार में पैठने और पल्लवित होने लगी। आदमी को आदमी होने की और आदमी की तरह जीने की लालसा और ललक हुयी। कविता शास्त्रीय काव्य-लोक से निकलकर लोक-जीवन के हर्ष-विषाद से आलौकिक होने लगी। आदमी ने अपने अस्तित्व को मूल्यवान् समाज की संगठित इकाई होने की, मानसिक प्रक्रिया पैदा की। उसे समाज की महत्ता समझ में आयी। राष्ट्रीयता का भाव भी जागा। कविता तबसे इसी ओर आगे बढ़ती चली गयी। उसका प्रसार लौकिक हो गया। यह तो नहीं कहा जा सकता कि कविता पूर्णतः अलौकिकता से मुक्त हो गयी, लेकिन उसकी पहले की अलौकिकता मन्द और क्षीण अवश्य हो गयी। जब बाद को राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए विदेशी सरकार से लड़ाई होने लगी और स्वतंत्रता की प्राप्ति का आन्दोलन कई-कई कठिनाइयों को पार करता हुआ, जन-जीवन को प्रभावित करता हुआ और आम आदमी को समेटता हुआ, बल और वेग पाकर, उभरता चला गया तो हिन्दी कविता भी, उसी के अनुरूप, वैसी ही मानसिकता से रची जाने लगी। स्वदेशी का आन्दोलन छिड़ा। कविता का स्वर स्वदेशी हुआ। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार हुआ। कविता विदेशीपन के प्रति अनुदार हुयी। देश की चेतना जातीय संस्कारों से सम्पुष्ट हुई। देश एक बड़ा परिवार बन गया। सभी के दुःख-दर्द, एक-दूसरे के दुःख-दर्द हो गये। पारस्परिक प्रेम एवं सद्भाव बढ़ा। प्रान्त-प्रान्त के लोग एक बड़ी माला में गुँथ गये। प्रथम महायुद्ध के बाद जन-जागृति जोरदार हुई। हिन्दी-कविता ने इस जागरण की अभिव्यक्ति पायी। कवियों के मन पंख खोलकर मुक्त आकाश में उड़ने लगे। प्रकृति के सौन्दर्य से वह अभिभूत हुई। उसकी कल्पना सूक्ष्म और स्पंदनशील हुई। जो प्रकृति पहले उद्दीपन के लिए प्रयुक्त होती थी, वह प्रकृति अब स्वयं कविता का विषय बन गयी। आदमी को अब अपने देश की प्रकृति से प्यार हो गया। आदमी उसके अनूठे रूप-सौन्दर्य को अपने जीवन जीने के लिए आवश्यक समझने लगा। इस प्रकार प्रकृति भी हिन्दी-कविता की काव्य-भारती बन गयी। यंत्रवत् जीवन-यापन करनेवाला आदमी, दैनिक समस्याओं के घेरे से निकलकर कल्पनाशील हुआ और उसकी चेतना में रंग-रूप भर गये। प्रकृति को वह अपने ही समान जीवंत समझने लगा। कविता की जकड़-बंदी टूटी। छंदों के अवरोध हटे। देश के व्यापक जन-जीवन की लय उसे प्राप्त हुयी और वह आदमी की समग्रता की कविता हुयी। पन्त, प्रसाद, निराला और महादेवी इसी युग के प्रमुख कवि हैं। इन लोगों ने हिन्दी-कविता को अपना योगदान देकर कई प्रकार से समृद्ध किया।

इतिवृत्तात्मक काव्य की परिधि टूटी और मानवीय मनोवेगों को स्वच्छंद होने का अवसर मिला। खड़ी बोली मानवीय मनोवेगों की समर्थ बोली हुई, लेकिन छायावादी मानसिकता आम आदमी की मानसिकता तक न पहुँच सकी। निराला ने इस दिशा में पर्याप्त संतोषजनक काव्य-सृजन किया। उन्होंने अपनी कविताओं के संकलन 'नये पत्ते' को देकर आम आदमी की मानसिकता को प्रभावित किया। इस संकलन की कविताओं में शोषित और श्रमजीवियों के मनोवेग बड़े आवेगपूर्ण ढंग से उन्हीं की आम भाषा में, व्यक्त हुये हैं। अपने पूर्वकालीन रूप का छायावाद, उत्तरकालीन छायावाद तक आते-आते लोक-जीवन से जुड़ गया था। तभी सन '36 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुयी। फिर तो कविता साहित्यिक घेरा-बंदी तोड़कर मजदूर, किसान और आम आदमी तक पहुँच गयी और प्रगतिशील कवि, इन लोगों की मानसिकता बदलने लगे। इन कवियों के पास ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का जीवन-दर्शन था और ये रूसी क्रान्ति की सफलता से प्रेरित हुये थे तथा अपने यहाँ भी शोषणहीन समाज की स्थापना करना अपना कर्तव्य समझते थे। जन-जीवन के लिये समर्पित हुयी इस कविता ने पूर्वकालीन और पारम्परिक साहित्यिकता से कविता को बाहर निकाला, ताकि आम आदमी भी कविता को कविता की तरह प्यार करने लगे और समाजवादी यथार्थवाद की मानसिकता से वह सम्बद्ध होने लगे। उद्देश्य यही था कि आदमी को उसके अधिकार मिलें, वह धर्मनिरपेक्ष हो जाये। समता के आधार पर वह न्यायप्रिय जीवन जिये और सबको, जीने का समान अवसर मिलते रहें। यह प्रमुख रूप से जीवनमूलक प्रतिबद्ध मानसिकता का काव्य-आन्दोलन था। इसीलिए इस आन्दोलन के कवि वैयक्तिकता के उद्घोषक कवि नहीं थे। वे कवि की मानसिकता को जनता की मानसिकता से अलग नहीं लिखते थे। न ही वह व्यक्ति की निजी अभिव्यक्ति करते थे, न ही वे आत्माभिव्यक्ति की मौलिक प्रवंचना से अपने अहं का काव्य लिखते थे। वह विशिष्ट सम्बेदनशील होकर भी अपनी रचना को दूसरे की या समूह की रचना बना देने के लिए अपने इसी दायित्व का निर्वाह करने में लगे रहते थे, लेकिन देश के राष्ट्रीय कर्णधारों ने जब शासन का कार्यभार सम्हाला, तब वह इस आन्दोलन से सहम गये। पूँजीवादी प्रेस ने उनका साथ दिया। देश के बुर्जुआ मनोवृत्तिवाले पढ़े-लिखे लोगों ने दल बनाकर इस आन्दोलन को कुचल डालने का, जानकर या अनजानकर, षड्यंत्र रचा। प्रगतिशील कविता को आरोपित कविता घोषित किया गया।

उसे रूसी होने का नारा दिया गया। विरोध में प्रयोगवाद का नया आन्दोलन चलाया गया। कवि की वैयक्तिकता को काव्य में सबकुछ लिखने की छूट दी गयी। कवि की इकाई अहं की इकाई बन गयी और जनता से भाग कर, वह

अपने को ही सर्वोपरि मान बैठा। उसका सम्बन्ध न किसी दूसरे से रहा और न किसी दूसरे का सम्बन्ध उससे रहा। वह अपनी अस्मिता को खोजते-खोजते अपने निजत्व में जा पहुँचा। न उसके जीवन का कोई महान् मानवीय उद्देश्य रहा और न वह लोक-जीवन की दिशा बदलने के लिये उत्सुक हुआ। उसका जीवन-दर्शन उसी का गढ़ा हुआ जीवन-दर्शन था। देश और काल में रहकर भी वह उनसे अछूता बना रहने की साधना सिद्ध करता रहा। कुछ दिन तक प्रयोगवाद का झण्डा लहराता रहा, लेकिन अन्ततोगत्वा जो होना था, वही हुआ और उसका झण्डा ओझल हो गया। हिन्दी-कविता को इस प्रयोगवाद ने सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों से शून्य कर दिया। अब आयी 'नयी कविता'। व्यक्ति-स्वातंत्र्य और आत्माभिव्यक्ति के समर्थक ये कवि, प्रयोगधर्मी न होकर, केवल अपने ही मनोवेगों और वैयक्तिक निजता को कविता में लिखने लगे। इन्होंने भी अपनी मानसिकता को सार्वजनिक मानसिकता के आयाम नहीं दिये। युगीन जीवन से विचलित होने पर भी ये व्यापक जीवन-दर्शन की खोज पर नहीं चले, बल्कि व्यक्ति की परिक्रमा ही करते रहे और अपनी निजता में ही और अपनी अनुभूतियों में ही अपनी मौलिकता रचते रहे। यह प्रयोगवाद से आगे तो गये, लेकिन ये भी बिना किसी ठोस जीवन-दर्शन के खोखले मानववाद के वृत्त में भ्रमण करते रहे और इस बात में खुश होते रहे कि वे व्यक्ति के मौलिक अधिकारों के लिये जी रहे हैं। इसलिए नयी कविता का कथ्य और शिल्प लोक-जीवन का कथ्य और शिल्प नहीं हो सका। इसलिए नयी कविता भी लोक-जीवन के सत्य को पकड़ने वाले 'संज्ञान' से वंचित रह गयी और उसकी दी हुई मानसिकता कवि के घर में ही उसी की ढिबरी की तरह, टिमटिमाती और धुआँती रही।

अब देश की राजनीति में फिर परिवर्तन हो रहा है। पता नहीं यह परिवर्तन दक्षिण पथगामी होगा अथवा पहले की तरह का ही कुछ फेर-बदल के साथ होगा। वाम विचारवाले लोग अबतक विभाजित रहे हैं, अब वे एक होने की ओर उन्मुख हुये हैं। यदि ऐसा हो गया तो समाजवादी मानसिकता के पनपने और प्रभावित करने का अवसर मिलेगा। लेकिन दिन दूर है अवरोध बड़े-बड़े हैं। टक्कर तगड़ी है। सरकार और जनता छोटे-मोटे हितों को दे-लेकर चल रही है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक समझदार कवि का सबसे पहला दायित्व यह है कि वह अपनी मानसिकता ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के जीवन-दर्शन से बनाये और देश के राजनीतिक कार्य-कलाप को सूझ-बूझ के साथ समझे और फिर 'संज्ञान' से अनवरत संघर्ष करते हुए वर्तमान वस्तुवत्ता के यथार्थ का आकलन करे और तब उन ठोस सत्यों को पकड़े, जो पूरे देश को सही रास्ते पर ले जाने में समर्थ हों। केवल ऊपरी हेर-फेर 402 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

से थोड़ी-बहुत राहत से, छोटी-मोटी समस्याओं के समाधान से, कुछ होने-हवाने का नहीं है। कवि कह सकते हैं कि कविता और राजनीति एक-दूसरे से भिन्न हैं और इनका मेल-मिलाप कतई सम्भव नहीं है। यह दलील देखने में तो बड़ी अच्छी मालूम होती है, लेकिन इसमें कोई जान नहीं है। अब इस दौर में तो और भी उभरकर, यह बात सबके सामने आ गयी है कि जो राजनीति आजकल शासन चला रही है, वह राजनीति न समाजवादी है, न लोकतंत्रवादी है, न आदर्शवादी है, न यथार्थवादी है। वह है, तो बस यथास्थितिवादी है। इसका दायित्व सब पर है कि वह इस राजनीति की बुनावट बदले और समाजवादी यथार्थवादी की राजनीति के लिए यथाशक्ति संघर्ष और प्रयत्न करे। सब कवि एक-से नहीं होते। सबकी क्षमताएँ और परिस्थितियाँ एक-सी नहीं होती। कोई इस ओर अपना पूरा योगदान दे सकता है तो कोई केवल कविता लिखकर अपनी जनता की मानसिकता बदलने में रत रह सकता है। इसलिए इन सभी से प्रगतिशील कविता का आन्दोलन फिर से चल सकता है। अन्य कोई उपाय किसी कवि या कवि-समूह के पास नहीं है, जो जनता की मानसिकता को बदल सके और उसे फिलहाल लोकवादी बना सके।

अपने इस अभियान में और भी कई बातों की ओर ध्यान देना पड़ेगा। सबसे पहली बात तो यह है कि 'संज्ञान' से प्राप्त हुये सत्य की अभिव्यक्ति करनेवाली कविता तभी कविता होगी, जब वह कलात्मक होगी। कलात्मक होने की पहली शर्त यह है कि वह समाज जिसकी अभिव्यक्ति कविता करती है, स्पष्ट और लोक-जीवन को बिम्बित करनेवाला हो, यानी कि वस्तुगत सत्य को उसकी समग्र वस्तुवत्ता के साथ एवं अन्तर्विरोधों के साथ व्यक्त करनेवाला हो। अस्पष्टता और दुरूहता कविता की कलात्मकता को नष्ट करनेवाले तत्त्व होते हैं।

दूसरी बात यह है कि जिस तथ्य की या सत्य की अभिव्यक्ति की जाये, वह सशक्त बिम्ब-विधान से उद्दीप्त हो, अर्थात् वह केवल सत्य की नंगी पकड़ न हो, वरन् वह आवश्यक वस्तुवत्ता की बुनावट के रूप में उभरकर अभिव्यक्त हुआ हो। अन्यथा पाया हुआ सत्य यदि केवल प्रतीकात्मक शैली में ही व्यक्त हुआ तो वह दुर्बल और क्षीण हो जाता है, और अपने समग्र परिवेश के बिना, धुँधली लालटेन की तरह या मैले दर्पण की तरह, मानसिकता लिये हुये होता है।

तीसरी बात यह है कि यदि 'संज्ञान' से पाया हुआ सामाजिक या राजनीतिक सत्य अखबारी भाषा में या मोहल्ले की चलताऊ भाषा में व्यक्त किया गया तो वह वैसे स्थायित्व की संरचना के रूप में नहीं होगी, जो समय के प्रहार से ढहने से बच सके।

चौथी बात यह है कि जनता की बनी-बनायी मानसिकता तभी टूट सकती है, जब नयी मानसिकता मानवीय जीवन के अन्तर्विरोधों की समस्या का कोई समाधान दे सके। इसके लिए कविता को वे वस्तुवत्तीय तत्त्व व्यक्त करने होंगे, जो आदमी को विरूपित करते रहते हैं।

पाँचवीं बात यह है कि कवि की अनुभूतियाँ दूसरे की अनुभूतियाँ बनें। इसके लिये कविता को परिवेशीय तत्त्वों से निर्मित करना पड़ेगा न कि कल्पना से उसकी रचना करनी होगी।

छठीं बात यह है कि कोई भी कला शाश्वत नहीं है। कविता भी शाश्वत नहीं है। कला भी बदलती है और कविता भी बदलती है। इसलिए इस मोह में नहीं पड़ना चाहिए कि कविता स्वयं में कोई सिद्धि है और वह देश और काल का अतिक्रमण कर सकती है।

सातवीं बात यह है कि कवि को किसी शिल्प विशेष से कोई मोह न हो। सत्य का और शिल्प का द्वन्द्व जब चलता है तभी कथ्य का अपना शिल्प तैयार हो जाता है और वह अर्थ-बोध देने लगता है।

आठवीं बात यह है कि कला भी और कविता की कला भी आदमी की चेतना का बिम्बन करती है, ऐसा न हो कि कवि की आत्मपरकता ही कविता में व्यक्त हो और वस्तुवत्ता के वे तत्त्व उसमें न आये जो उस आत्मपरकता के कारण खो चुके हैं।

नवीं बात यह है कि न कला, कला के लिए है, और न कविता, कविता के लिए है। इसलिए शुद्ध कविता मानवीय मूल्यों से वंचित कविता होती है। शुद्ध कविता आदमी के संज्ञान की कविता नहीं होती।

अन्त में कविता की संश्लिष्ट कविता बनाये जाने की अवधारणा औचित्यपूर्ण लगती है। तभी कविता बोलती है और कवि नहीं बोलता।

इसीलिए संज्ञान की कलात्मक अभिव्यक्ति कविता हो, तभी वह समाजवादी यथार्थवाद की, परिवर्तनकारी मानसिकता की कविता होगी अन्यथा नहीं—

शुद्ध कला के पारखी
कहते हैं उस पार को
हाथी, घोड़ा, पालकी
जय कन्हैयालाल की।

पुस्तक समीक्षा

कला का स्वभाव और उद्देश्य

अज्ञेय कहते हैं—

‘कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।’

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 23 व 25]

दूसरे शब्दों में अज्ञेय के अनुसार, कला के जन्म के लिए, नीचे लिखे तीन बातों की उपस्थिति अनिवार्य है।

1. व्यक्ति ऐसी परिस्थिति में पड़ जाय कि वह अपने समाज के जीवन में कुछ भी योग न दे सके, अर्थात् समाज के किसी भी काम का न रह जाय।
2. व्यक्ति यह अनुभव करे कि वह समाज के लिए किसी काम का नहीं रह गया।
3. यही नहीं, इस वैयक्तिक भावना के उत्पन्न होने पर वैसी स्थिति में भी व्यक्ति कुछ ऐसा काम करे, जो उसको इस मनोभावना को समूल नष्ट कर दे। अज्ञेय शायद इसी को ‘विशेष’ कहते हैं। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति किसी प्रकार समाज को उपयोगी सिद्ध हो।

अज्ञेय ने अपने उद्धृत कथन को स्वयं ही कल्पना कहा है। देखिए—

‘इस स्थापना की परीक्षा करने के पहले कल्पना के आकाश में एक उड़ान भरी जाय। आइये, हम उस अवस्था की परिकल्पना करने का प्रयत्न करें, जिसमें पहली-पहली कलात्मक चेष्टा हुई—जिसमें कला का जन्म हुआ।’

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 23]

और यह भी मनुष्य के उस काल की है, जब वह घास-पात खाकर रहता था, गुफाओं में वास करता था। नागरिक सभ्यता का तब जन्म भी न हुआ था। अज्ञेय ने कहा है—

‘अतएव हम जिस अवस्था की कल्पना चाहते हैं, वह वाल्मीकि से बहुत पहले की अवस्था है। वैज्ञानिक मुहावरों की शरण लेकर कहें कि वह नागरिक सभ्यता से पहले की अवस्था होनी चाहिए, वह खेतिहर सभ्यता से और चरवाहा (Nomadic) सभ्यता से भी पहले की अवस्था होनी चाहिए—यह अवस्था जब

मानव करारों में कन्दराएँ खोदकर रहता था, और घास-पास या कभी पत्थर या ताँबे के फरसों से आखेट करके मांस खाता था।’

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 24]

इतनी कल्पना कर लेने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक अनुपयोगी व्यक्ति के भीतर रचनात्मक प्रतिक्रिया हो ही—वह आत्मनाशक भी हो सकती है। तथापि अज्ञेय कहते हैं कि—

‘हम ऐसे ही व्यक्ति को सामने रखें, जिसमें इतना आत्मबल है कि इस ज्ञान की प्रतिक्रिया रचनात्मक हो, न कि आत्मनाशक।’

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 25]

इतना ही नहीं, इस रचनात्मक काम के बारे में भी अज्ञेय ने निम्नांकित कल्पना की है—

‘हमारी कल्पना देखती है कि जब उस समाज के समर्थ और बलिष्ठ अहेरी अपने अस्त्र सँभालते हैं, तब वे पाते हैं, उनके अस्त्रों के ‘हथ्यों पर शिकार की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं, जिनमें अपनी सामर्थ्य का प्रतिबिम्ब देखकर उनकी छाती फूल उठती है कि जब वे दल बाँधकर खोहों से बाहर निकलते हैं, तब शिकार के रणनाद और घमासान के तुमुल स्वर न जाने कैसे एक ही कंठ के अलाप में रणरंगित हो उठते हैं, कि जब वे लदे हुए कन्धों पर थके और श्रमसिंचित मुँह लटकाये खोहों की ओर लौटते हैं, तब पाते हैं कि, खोहों का मार्ग पत्थर की बुकनी से आँकी गयी फूल-पत्तियों से सजा हुआ है; कि जब वे दाम्पत्य जीवन की द्विगुणित एकान्तता में प्रवेश करते हैं, तब सहसा पाते हैं कि उस जीवन की चरमावस्था सहचरी के वक्ष पर किसी फल के रस से गोद दी गयी है।’

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 25 व 26]

यह भी काल्पनिक सम्भावना है। इसमें वास्तविकता का स्पर्श तक नहीं है। नीचे लिखी पाँच बातों से मालूम हो जाता है कि वह सम्भावना भी.....इतिहास-विरोधी, मनोविज्ञान-विरोधी, एवम् प्राणिशास्त्र-विरोधी है—

1. इस स्थापना के आधार पर अन्य ललित कलाओं-संगीत, नृत्य और काव्य-की प्रारम्भिक उत्पत्ति के बारे में कोई विचारपूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता।

जार्ज टामसन ने संगीत, नृत्य और काव्य की उत्पत्ति के विषय में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बहुत ही तर्कपूर्ण बात कही है, जो हिन्दी में रूपान्तरित करके पाठकों की जानकारी के लिए नीचे दी जाती है।

‘नृत्य, संगीत और कविता, इन तीनों कलाओं का श्रीगणेश एक ही रूप में हुआ था। मनुष्य के सामूहिक श्रम के समय उसके अवयवों के लययुक्त प्रकम्पन 408 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

में इन तीनों का उद्गम एक था। इस प्रकम्पन के दो रूप थे, एक दैहिक, दूसरा मौखिक। दैहिक से नृत्य और मौखिक से भाषा का आविर्भाव हुआ। प्रारम्भ में अस्पष्ट उच्चरित ध्वनियों के द्वारा लय व्यक्त करती हुई भाषा कालान्तर में काव्यात्मक और कथनात्मक रूपों में विभक्त हो गयी। स्वर से बहिष्कृत होकर और औजारों से टकराकर पैदा होकर वह अस्पष्ट उच्चरित ध्वनियाँ वाद्ययंत्रों के संगीत के आकर्षण की केन्द्र बन गयीं।

‘नृत्य का परित्याग ही कविता के आरम्भिक विकास का प्रथम कारण हुआ, तभी गीत का जन्म हुआ। गीत में कविता संगीत का सार है और संगीत कविता का आकार है। किन्तु फिर कविता और संगीत का वियोग हो गया। कविता का आकार उसकी लययुक्त बनावट है, जिसे उसने गीत से विरासत में पाया है और जिसे उसने ऐसा सरल कर दिया है कि वह उसमें युक्तिपूर्ण सामग्री ही भर सके। कविता एक कथा कहती है, जिसमें उसकी खुद की अपनी आन्तरिक सम्बद्धता है और वह सम्बद्धता लययुक्त आकार से सर्वथा भिन्न है। और इस हेतु बाद को कविता से गद्य, रोमांस और उपन्यास प्रकटे, जिनमें काव्यात्मक भाषा के स्थान पर बोलचाल की भाषा का प्रयोग हुआ और जिनमें वाद्ययंत्रों से कोई भी सम्पर्क न रह गया, किन्तु इतना तो रहा ही कि कथा एक संतुलित और एक समताल के रूप में रची जाने लगी।’

[माक्सवादा और कविता, पृष्ठ संख्या 19, 1945 संस्करण]

चित्रकला की उत्पत्ति के बारे में जार्ज टामसन ने अपनी पुस्तक में कोई मत प्रस्तुत नहीं किया। किन्तु पता यही चलता है कि मनुष्य ने जब औजार पकड़ना सीख लिया होगा, तब उसने गुफाओं में चित्रांकन करना भी सीख लिया होगा। अज्ञेय की स्थापना से जार्ज टामसन की स्थापना अधिक वैज्ञानिक और युक्तिपूर्ण है। फलतः अज्ञेय की स्थापना अमानवीय है।

2. अज्ञेय ने अपने ‘कमजोर’ व्यक्ति में उस सामाजिक भावना को स्थापित किया है, जो उस युग के व्यक्ति में वैज्ञानिक रीति के अनुसार स्थापित ही नहीं की जा सकती।

तब व्यक्ति अपनी ही छोटी, संकुचित इकाई में रमा रहता था। उसमें पारम्परिक आदान-प्रदान की प्रवृत्ति ही नहीं सकती थी।

कुटुम्ब की भावना तो बहुत बाद की है। अब मनुष्य को भूख मिटाने के लिए पर्याप्त आखेट न मिलने लगा, तब वह दूसरे क्षेत्रों की ओर गया, जहाँ दूसरे मनुष्यों से संघर्ष में आया। उनमें से एक जीता, एक हारा। अकेले बल को बढ़ाने की प्रेरणा मिली इसी हार-जीत से। हारे व्यक्ति ने कुटुम्ब जोड़ा सुरक्षा के हेतु और भूख मिटाने

के हेतु। जीते व्यक्ति ने कुटुम्ब जोड़ा आक्रमणकारी को पराजित करने के हेतु और बली होकर विजयी बने रहने के हेतु। किन्तु इन दोनों को प्रेरणा मिली एकमात्र भूख से।

यही समय था, जब मनुष्य ने संग्रह की भावना से परिचय पाया होगा। तभी, उन परिस्थितियों में, उपयोगिता भी, अस्पष्ट ही मनुष्य के मस्तिष्क में आयी होगी। उपयोगिता के साथ ही, अनिवार्य रूप से, अनुपयोगिता भी व्यक्त हुई होगी। उपयोगिता का नकारात्मक रूप ही तो अनुपयोगिता है।

ऐसी दशा में अज्ञेय की ‘कल्पना के युग’ में सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति का होना ही असम्भव है। जब ऐसी अनुभूति ही असम्भव है, तब उसके विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने की आवश्यकता ही नहीं आती। फिर कैसी अपर्याप्तता और कैसा विद्रोह? सब हवा है।

इसलिए कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह—नहीं है।

3. फिर उस ‘गुहा-काल’ में मनुष्य इतना चेतन हो ही नहीं सकता कि अज्ञेय की भाँति अन्तर्दर्शन कर सके और अपनी तथाकथित अनुपयोगिता की पूर्ण स्थिति पर तर्कपूर्ण विचार कर सके कि जिससे उसमें उपयोगिता प्रमाणित करने की बलवती कामना जागरित हो सके।

अज्ञेय ने जिस ‘मानसिक-विद्रोह’ को उस समय के मनुष्य में आरोपित किया है, वह कदापि न्याय-संगत नहीं है। विद्रोह की यह भावना, बहुत बाद की, उन्नतिशील मनुष्य की है।

इस हेतु और इस कारण से भी अज्ञेय की स्थापना असंगत है।

4. उस युग के मनुष्य में केवल भौतिक सहयोग दे सकने की क्षमता रहती है। मानसिक प्रक्रिया से उत्पन्न सहयोग की भावना तो बहुत विवेकी मनुष्य की भावना है। भला ऐसी भावना अशिक्षित, बनैले मनुष्य में कैसे हो सकती है?

उस समय मनुष्य का सहयोग मस्तिष्कीय नहीं होता था, केवल शारीरिक ही रहता था।

इस दृष्टि से भी अज्ञेय की स्थापना कुछ नहीं है।

5. और सबसे बड़ी बात तो यह है कि मनुष्य ने जब औजारों का प्रयोग सीख लिया, तब उसने, क्रमशः ऐसे भी औजार बनाये, जिनके द्वारा उसने अपनी गुहाओं के भीतर पशुओं की आकृतियाँ इस उद्देश्य से प्रेरित होकर आँकना प्रारम्भ कर दिया, कि उसे उन पशुओं के आखेट में कठिनाई न हो और वे पशु उसकी भूख मिटाने के लिए सहज ही सुलभ हो जायें।

इस बात को डब्लू० जे० पेरी ने अपनी पुस्तक 'सभ्यता के विकास' में निम्नांकित रूप में व्यक्त किया है :—

“जब पुराने पाषाण-युग के उत्तरार्ध के मनुष्य, जोकि निःसंदेह हमारी जाति के हैं, यूरोप में आये, तब वे अपने साथ अरिगनैशियन (Auriganacian) संस्कृति लाये, जो उनके पूर्ववर्तियों की संस्कृति से अत्यधिक उन्नतिशील थी.....किन्तु वे तमाम काम-काज में हड्डी काम में लाने लगे थे और उन्होंने कलात्मक अभिव्यक्ति में अच्छी आश्चर्यजनक सुगमता प्राप्त कर ली थी, जिसके बहुत से उदाहरण फ्रांस और स्पेन की गुहाओं की दीवारों पर खोजे जा चुके हैं।

उनकी कला मुख्यतः बनैले पशुओं के चित्रण तक ही सीमित थी, जिनका कि वे भोजन के लिए आखेट करते थे। वह अपनी गहरी खोहों के भीतर के दूर अँधेरे गतों की दीवारों और छतों पर, मुख्य द्वार पर नहीं, जहाँ कि वे रहते थे, बनैल साँड, बन सुअर, रीक्ष और हिरन इत्यादि की आकृतियाँ पहले खोदते थे और फिर उनको रंगते थे। मालूम यह होता है कि उनकी इस कला का सम्बन्ध भोजन की सामग्री जुटाने से था। पशुओं के चित्रांकन का ध्येय यही था कि ऐसा करने से खाये जानेवाले पशु के आखेट में और उनको पकड़ने में सहायता मिलती है।”

[सभ्यता का विकास : पेलिकन पुस्तकमाला, 1937 संस्करण, पृष्ठ संख्या 26-27]

तो निष्कर्ष यही निकला कि तब मनुष्य महामूढ़ था। उसमें उपयोगिता की युक्तपूर्ण भावना पैदा ही नहीं हुई थी। वह पशुओं का चित्रांकन केवल इस हेतु करता था कि आखेट में सहायता मिले। वह इस ध्येय से अधिक बढ़कर आगे नहीं जा सका था। उसमें ऐन्द्रजालिक सम्भावना ही सम्भावना पर्याप्त मात्रा में व्याप्त थी। ज्ञान का विकास तब नहीं था। उसी ऐन्द्रजालिक प्रवृत्ति से वह प्रेरित होता था और उसी प्रेरणा से वह पत्थरों पर औजार चलाता था। जब उसे पानी की आवश्यकता होती थी, तो वह बादल का नृत्य करता था। वह युग ऐन्द्रजालिक युग था। जार्ज टामसन ने उपर्युक्त विचार नीचे लिखे रूप में यों व्यक्त किया है :—

“दूसरी ओर जब कि यह प्राकृतिक नियमों की वस्तु-विषयक आवश्यकता के पहचान सकने में असमर्थ हुआ, तब अपने चारों तरफ की दुनिया को यह इस प्रकार इस्तेमाल करने लगा, जैसे कि वह उसकी स्वेच्छाचारी इच्छाशक्ति के अनुकूल परिवर्तित की जा सकती थी। इन्द्रजाल का यह एक आधार है। इन्द्रजाल को मायावी विद्या कहा जा सकता है, जोकि सच्ची विद्या की क्षतिपूर्ति करने में सहकारी होती है। और उपर्युक्त शब्दों में कह सकते हैं कि यह सत् विद्या का मानसिक रूप है। ऐन्द्रजालिक कार्य वही कहलाता है, जिसके द्वारा असभ्य मनुष्य

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 411

अपनी इच्छाशक्ति को अपने वातावरण पर अप्राकृतिक अवस्थाओं का अनुकरण करके, जिनको कि वह सम्भावित करना चाहते हैं, आरोपित करते हैं। यदि वे जल की वर्षा चाहते हैं, तो वह एक ऐसा नृत्य करते हैं, जिसमें एकत्रित होते बादलों का अनुकरण होता है, जिसमें उनकी गर्जना होती है, जिसमें झरती हुई फुहार की फुहियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं। अब भी हम इस देश में अक्सर यह सुनते हैं कि अमुक व्यक्ति ने कहीं दूर के अपरिचित प्रदेश में अपने शत्रु की मोम की एक मूर्ति बनायी है और उसमें तमाम आलपीनें चुभा दी हैं, या कि उसे आग में गला दिया है, यही इन्द्रजाल है। विद्वेषी के सर्वनाश की आकांक्षा अनुकरणमात्र में कार्यान्वित होती है।”

[माक्स और कविता, 1945 संस्करण, पृष्ठ संख्या 8]

अब तो इस सबसे सिद्ध हो गया कि अज्ञेय की काल्पनिक स्थापना वास्तविकता से पूर्णरूपेण विमुख है। वह बे-सिर-पैर की है। निस्सन्देह अज्ञेय ने कला के जन्म के बारे में घोर अवैज्ञानिक दृष्टिकोण बना रखा है, जो सर्वथा हेय है। साहित्य में उसका कोई मूल्य नहीं हो सकता।

अब कला के उद्देश्य को देखिये। अज्ञेय ने नीचे लिखे दो उद्देश्य गिनाये हैं :—

1. “अतएव अपनी सृष्टि के प्रति कलाकार में एक दायित्व-भाव रहता है—अपनी चेतना के गूढ़तम स्वर में वह स्वयं अपना आलोचक बनकर जाँचता रहता है कि जो उसके विद्रोह का फल है, जो समाज को उसकी देन है, वह क्या सचमुच इतना आत्यंतिक मूल्य रखती है कि उसे प्रमाणित कर सके, सिद्धि दे सके? इस प्रकार कला-वस्तु-रचना-का एक नैतिक मूल्यांकन निरन्तर होता रहता है।”

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 18]

2. “ऊपर कहा गया है कि कला एक प्रकार का आत्मदान है, जिसके द्वारा व्यक्ति का अहं अपने को सिद्ध प्रमाणित करना चाहता है। अगर इस वाक्य के पूर्वार्द्ध पर आग्रह था, अब उसके उत्तरार्द्ध पर विचार किया जाय। आत्मदान अहं को ही पृष्ठ करने के लिए है, क्योंकि अहं को छोटा करके व्यक्ति सम्पूर्ण नहीं रह सकता, बल्कि शायद जी भी नहीं सकता। इस प्रकार कलाकार का आत्मदान केवल एक नैतिक मान्यता के लिए ही नहीं होता, सच्चे अर्थ में ‘स्वान्तः सुखाय’ भी होता है, और वह सुख अपनी सिद्धि पा लेने का, समाज को उसके बीच रहे होने का प्रतिदान दे देने का सुख है।”

[त्रिशंकु, पृष्ठ संख्या 28-29]

412 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

दूसरे शब्दों में अज्ञेय के अनुसार आत्मदान और आत्मबोध ही कला के दो उद्देश्य हैं। जो दोनों बहुत ही अच्छे उलझे शब्द हैं। आत्मदान को समझने के लिए पहले अहं की सत्ता स्वीकार कीजिये, फिर उस अहं के अनुपयोगी हो जाने पर उसमें हुए विद्रोह को स्वीकार कीजिये और तब उस अहं में ऐसी शक्ति भी स्वीकार कीजिये, जो उसे प्रमाणित कर सके अथवा उसे सिद्धि दे सके। वाह रे आत्मदान! ऐसे आत्मदान के लिए अज्ञेय को बधाई दी जाय या उनकी बुराई की जाय!

कलाकार का तथाकथित अहं, उसके व्यक्तित्व से, और मन, प्राण और आत्मा से भिन्न ही कुछ होगा। अज्ञेय को इस अहं की पहचान मालूम है, वही इसे समझ-बूझ सकते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि जिन परिस्थितियों में अज्ञेय ने अहं की कल्पना की है, उनमें ऐसा कुछ अहं जैसा हो नहीं सकता। इसका विचार पहले ही किया जा चुका है। जब अहं ही नहीं रहता, तो कैसा उसका विद्रोह और कैसी उसकी अन्य बातें?

आत्मदान की भावना सामन्तवाद और पूँजीवाद की देन है, ज्ञात होती है। 'दान' शब्द ही इसका सूचक है। अज्ञेय ने कलाकार को सामन्त और थैलीशाह के समकक्ष ला बिठाया है, यह अनुचित है। कलाकार तो एक ऐसी इकाई है, जो समाज से सम्बन्धित होकर देश और विश्व से अन्य इकाइयों के साथ जुड़ा हुआ है। उसका अस्तित्व कोई अलग की इकाई नहीं है। वह सामाजिक नियमों से निर्धारित होता है, राष्ट्र के नियमों से निर्धारित होता है, और विश्वबन्धुत्व से निर्धारित होता है। यही नहीं, वह प्राकृतिक नियमों से उसी तरह निर्धारित होता है, जैसे भौतिक-वस्तुवाद का संसार। उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार उन्हीं नियमों की प्रक्रिया मात्र होता है। फिर कलाकार का अपना कुछ रह ही नहीं जाता। मनुष्य का मस्तिष्क भौतिकवाद की योजना का ही एक अंग है। कलाकार जो कुछ भी अपना कहकर देने का अभिनय करता है, वह उसका नहीं होता, एकमात्र भौतिक होता है, जो कलाकार को पहले भौतिक जगत् में मिलता है, जिसे वह मानसिक प्रक्रिया के बाद, फिर संसार को लौटा देता है। इस मानसिक प्रक्रिया का कर्ता कलाकार नहीं है। उस क्रिया की सारी जिम्मेदारी प्रकृति के नियमों पर है। इसलिए आत्मदान बेकार की कल्पना है, जिसका कोई अस्तित्व इस युग में नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए पानी के उबालने की क्रिया लीजिये, पानी यह कहे कि भाप मेरा 'अहं' है, तो कितनी बेकार चीज होगी। एक विशेष तापमान पर पानी से भाप बनता है। इसलिए भाप पानी का 'अहं' नहीं है, केवल मात्र प्रकृति के नियम की क्रिया है। जुलाहे का करघा यदि यह कहे कि उसका बुना हुआ कपड़ा उसका 'अहं' है, तो बिल्कुल पागलपन मालूम होगा। मनुष्य की समस्त मानसिक क्रिया स्वयमेव होती

रहती है, किन्हीं नियमों के अनुसार। उस मानसिक क्रिया को बाहरी 'अहं' चालू नहीं करता, न कर सकता है। इस हेतु 'अहं' का सारा खिलवाड़ ऐन्द्रजालिक है। न कोई 'प्रमाणित करने की भावना' होती है, न किसी सिद्धि की। जो कुछ भी भावना होती है, वह भौतिक नियमों से परिचालित होने की होती है। उस परिचालित होने की भावना को 'प्रमाणित करना' कहना भाषा के साथ बलात्कार करना होगा। जिसे अज्ञेय नैतिक मूल्यांकन कहते हैं, वह भी भौतिक जगत् से हुए तादात्म्य का ही रूप है। दूसरे शब्दों में तादात्म्य स्थापित करके नियमों का पालन किया जाता है, उसकी अवहेलना नहीं। तथापि आत्मदान की भावना निस्सार है।

अब 'आत्मबोध' को लीजिये। यह 'आत्मदान' के साथ ही आता है। जहाँ आत्मदान है, वहाँ यह है। 'आत्मदान' कारण है, तो यह करण है। जब 'आत्मदान' ही ढह गया, तब यह स्वयमेव ढह जाता है।

जब मानव-मस्तिष्क ही वस्तु-जगत् का अंग बन चुका है, तब किसी 'बोध' की कल्पना अवैज्ञानिक ही नहीं, निरर्थक भी है। किसी 'अ' की पुष्टि का विचार फिर कैसा? उसके जीवित रखने की कैसी भावना, कहाँ की सिद्धि और कहाँ का प्रतिपादन देने का सुख? यह बस कोरी बकवास है।

मनुष्य मस्तिष्क और लोहार की भट्टी की प्रज्वलित अग्नि दोनों ही एक समान है। यदि वह आग यह 'बोध' अनुभव करे कि उसने लोहे को गलाकर ताँगे की पहिया का हाल बनाकर अपनी अनुपयोगिता के प्रति विद्रोह करके, समाज को 'आत्मदान' किया है और चूँकि उस 'आत्मदान' से समाज का कल्याण भी हो रहा है, इसलिए वह सुख पा रही है, तो कैसा होगा? क्या यह पागलों की बात न होगी? यह कोरी तुलना नहीं है। वस्तु-धर्म के आधार पर ऐसा उदाहरण दिया गया है। आग और मस्तिष्क के वस्तु-तत्त्व में विभिन्नता है, लेकिन दोनों ही भौतिक नियमों से परिवेष्टित हैं।

तुलसी के युग में 'स्वातः सुखाय' की भावना देखी जा सकती थी, क्योंकि तब विज्ञान अविकसित था। किन्तु इस सदी में अज्ञेय को इसकी चर्चा करते देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है। बजाय सुलझाने के अज्ञेय ने उलझन पैदा कर दी है। इसमें कोई सार नहीं है।

'आत्मदान' और 'आत्मबोध' दोनों ही व्यक्तिवाद की मिथ्या उपज हैं। अज्ञेय घोर व्यक्तिवादी हैं। उन्हें इस व्यक्तिवाद से मुक्ति पानी चाहिए।

कला का उद्देश्य जीवन का उद्देश्य है। जीवन का उद्देश्य न 'आत्मदान' है, न 'आत्मबोध'। उसका उद्देश्य है वर्गहीन समाज और राष्ट्र की स्थापना करना, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को सम्पूर्ण स्वतंत्रता रहेगी कि अपनी योग्यतानुसार काम कर उसी

के अनुरूप फल पाये। इस उद्देश्य के अतिरिक्त कोई दूसरा उद्देश्य नहीं है। कला को इसी उद्देश्य से प्रेरित होना है, उसका कोई अन्य उद्देश्य नहीं हो सकता।

अज्ञेय ने गलती यह की है कि असली उद्देश्य को छोड़कर उन्होंने उद्देश्य के सफल होने के उपरान्त की संतोष की भावना को ही उद्देश्य मान लिया है। ऐसा करना अनुचित है। सारा बखेड़ा इसी गलती से खड़ा हो गया है। स्तालिनग्राद की रक्षा के समय जब वहाँ के वीर सैनिकों ने प्राण की बाजी लगाकर, जर्मनों का सामना किया था, तो उन्होंने आत्मबोध से प्रेरित होकर नहीं किया था, न ही उसमें 'आत्मदान' का भाव था। उन लोगों ने समस्त सोवियत-संघ के सामूहिक जीवन से प्रेरित होकर सामना किया था और विजय पायी थी।

संतोष का सुख—'आत्मबोध' उद्देश्य के सफल होने के बाद की चीज है। वह किसी कला में निहित नहीं होता।

फलतः हिन्दी का कल्याण इसी में है कि अज्ञेय के 'आत्मदान' और 'आत्मबोध' को रसातल भेज दिया जाय। 'आत्मदान' और -आत्मबोध' कलाकारों, अथवा सुधरे दिमाग वाले मनुष्यों के लिए नहीं है। उनको तो विकृत व्यक्तियों के लिए ही छोड़ देना चाहिए।

P

डॉ० रामविलास शर्मा का काव्य संग्रह : रूप तरंग

यह समीक्षा केदारजी ने 'प्रतिकल्पा' के लिए संभवतः अगस्त 1958 में लिखी थी, जैसा कि रामविलासजी के 25.08.1958 के पत्र ('मित्र संवाद', पृ० 215-सं : रामविलास शर्मा, अशोक त्रिपाठी, संस्करण 2010, साहित्य भंडार, इलाहाबाद) से पता चलता है। लम्बी होने के कारण डॉ० महेन्द्र भटनागर ने इसे 'आलोचना' में भेज दिया। उस समय आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी उसके सम्पादक थे। यह समीक्षा काफी अर्से तक वहाँ पड़ी रही। इस बीच 'आलोचना' का प्रकाशन स्थगित हो गया—वाजपेयीजी संपादक नहीं रहे, तो 7 मई, 1960 को यह समीक्षा केदारजी को वापस भेज दी गयी। इसी को केदारजी ने अपने 'प्रिय डाक्टर' रामविलासजी को पढ़ने के लिए भेजी। रामविलासजी ने इसपर जगह-जगह अपनी सहज स्वतःस्फूर्त प्रतिक्रिया बड़े ही मजाकिया अंदाज में अंकित की। पाद टिप्पणियाँ रामविलासजी की ऐसी ही प्रतिक्रियाएँ हैं। (सं०)

प्रस्तुत कविता-संग्रह निराला जी की साठवीं जन्मतिथि के अवसर पर वसंत पंचमी, संवत् 2012 में प्रकाशित हुआ था। यह कविता-संग्रह उन्होंने अपने कवि-मित्र नरेन्द्र शर्मा को शुक्लजी के शब्दों के साथ समर्पित किया है। शुक्ल जी के शब्द हैं— 'संसार सागर की रूप तरंगों से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसी की रूप गति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है।'¹

इस संग्रह में कुल मिलाकर छच्छठ कविताएँ हैं। इनमें से 'विद्रोही' नाम की कविता काज़ी नज़रुल इस्लाम की बँगला कविता का स्वतंत्र रूपांतर है। शेष अन्य कविताएँ कवि की मौलिक रचनाएँ हैं। इसमें सन् 1932 ई० से लेकर सन् 1956 ई० तक की कविताएँ संगृहीत की हैं।²

पहली कविता 'कवि' है। यह निरालाजी पर लिखी गई है। यह कविता निरालाजी की सांध्य-बेला के उस जीवन का मार्मिक चित्रण करती है जब उनका कवित्व और आर्यत्व शिथिल हो गया था। इस समय उनके एकाकीपन के साथी केवल शृगाल थे।³ यह लिखकर रामविलास जी ने करुणा और व्याकुलता की तीव्र

1. इससे तुम क्या समझे? कविताओं से इस बात का संबंध?
2. इसमें 1956 नहीं, 1955 तक की कविताएँ संगृहीत हैं क्योंकि इसकी प्रति प्राप्त होने की चर्चा केदारजी 1.3.1956 के पत्र में करते हैं। (सं.)
3. शृगाल कौन? इलाहाबादिये।

अनुभूति व्यक्त की है, किन्तु उन्होंने इसी के साथ-ही-साथ 'अमित रक्त-चिन्हों की रहे शान' लिखकर और पीछे आनेवाले नव-जवानों की बात कहकर उस समय का सामन्ती और जनवादी दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है।¹ कविता की अन्तिम पंक्ति में जन-सत्ता की विशाल नगरी के निर्मित होने की भविष्यवाणी की गई है। इस कविता की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इसमें दो संस्कृतियों का एकसाथ सफल निरूपण हुआ है और इस निरूपण से यह सिद्ध हुआ है कि सामन्ती संस्कृति से ही जनवादी संस्कृति का जन्म और विकास होता है।² इस कविता को पढ़ते ही निराला जी का पूरा रूप³ आँखों के सामने आ जाता है। इसके अतिरिक्त निराला जी का सम्पूर्ण काव्य-वैभव भी इस कविता में सिमट कर आ गया है।⁴

इस संग्रह की अन्तिम कविता 'अमर सरस्वती' है। यह निराला जी से सम्बन्धित है। रामविलास ने इसमें निराला की सरस्वती को धरती की अन्तर्धारा कहा है। उनका यह कथन सर्वथा सत्य है। इसी सरस्वती से कवि का जीवन योग्य बन सका है कि उसके जीवन का अन्धकार रूपी पर्वत उसे दबाकर भी दलित नहीं कर सका।⁵ निराला जी के जीवन और काव्य को देखकर यह बड़ी अच्छी तरह से ज्ञात होता है कि उन दोनों में एक एकता रही है। निराला जी दुःख सहते हैं, अधीर होते हैं और संघर्ष करते हैं तो उनकी कविता भी उन्हीं की तरह दुःखी होती है, अधीर होती है, और संघर्ष करती है। निराला जी न जाने कितने कठिन पतों को तोड़ते हैं, और ऊपर उभरते हैं, और उनकी कविता भी उन्हीं की तरह न जाने कितनी गहन पतों को तोड़ती है, और ऊपर उभरती है। तभी तो रामविलास ने इस कविता में यह लिखा है—

**एक बार हो जाय क्षीण जलहीन भले ही धरती पर गंगा की धारा,
है कवि अमर सरस्वती है पर तेरी सरस्वती धरती की अन्तर्धारा।**

'अमर सरस्वती' इस संग्रह की अन्तिम कविता भले ही हो, किन्तु वह इस संग्रह की श्रेष्ठ कविता है।⁶ इसमें जीवन, यथार्थ, और काव्य एकसाथ घुलमिल कर सार्थक रूप में व्यक्त हुए हैं।

1. और निराला के व्यक्तित्व और कवित्व का चित्र? सामन्ती क्या? रहस्यवादी?
2. दोनों संस्कृतियाँ निराला में। उनका अन्तर्विरोध व्यंग्य द्वारा इंगित।
3. कैसा है वह रूप?
4. और मेरा छन्द?
5. मतलब यह कि हाथी कितना भी लटे, हाथी ही रहता है।
6. गलत।

'प्रत्यूष के पूर्व' इस संग्रह की तीसरी कविता है। यह दिन-प्रति-दिन के व्यवहृत शब्दों में बद्ध इस दृश्यमान जगत् की एक छोटी-सी कसी हुई कविता है। इसमें वह कलाकारिता भले ही न हो जो 'अमर सरस्वती' में है। फिर भी इसकी सादगी इसकी जान है।¹ इसमें शीतकालीन रात्रि के पाले से मारे चाँद का पीला पड़ना, बरगद के नीचे पतुरियों का नाचना, दारू में लोगों का डूबना और टीले से सियार का बोलना, उस वातावरण की सही अभिव्यक्ति करता है जो देहात में सामन्ती और साम्राज्यी शासन के कारण कायम रहता है और जिसे मिटाने की अभिलाषा सबको रहती है। यह लोक-जीवन की ठेठ शैली में लिखी गई बड़ी अच्छी कविता है। यह कविता यह सिद्ध करती है कि साधारण बोली में लिखी गई कविता भी मार्मिक होती है और यथार्थ का चित्रण भी इसी बोली में सफलता पूर्वक हो सकता है। कविता किसी विशेष प्रकार की सभ्य और सुसंस्कृत भाषा में ही हो सकती है—इस बात का खंडन यह कविता बड़ी अच्छी तरह करती है। Fantasy के वातावरण की यह कविता यथार्थ की अभिव्यक्ति करती है।

'कतकी' इस संग्रह की चौथी कविता है। लेकिन यह कविता 'प्रत्यूष के पूर्व' से इसलिए घट कर है कि इसमें वह साधारण भाषा तो है लेकिन वह विचार की खराद और व्यंग्य नहीं है जो उस कविता में है। यह कविता गद्य के निकट चली गई है। गंगा नहाने जानेवालों की भीड़ का वर्णन सम्पूर्ण अवश्य है।²

इस संग्रह की छठवीं कविता 'सिलहार' है। इसमें सीला बिनने वालों का चित्रण है। वह चित्रण सादा है। उसमें न कल्पना है और कोई सचेत कला।³ फिर भी यह वर्णन उस शोषण की ओर इशारा करता है, जो शीला बिनने वालों को फटे अँगूठे पहनाता है और धूप में तपाता है। यह कविता भी साधारण बोली में लिखी गई जन-जीवन से सम्बन्धित सफल कविता है। इस कविता से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि अच्छी कविता होने का लक्षण यह नहीं है कि वह किसी बड़े दार्शनिक विचार को व्यक्त करे या वह कल्पना की उड़ान भरे।⁴ लोक-जीवन काव्य की विषय वस्तु है। यह बात इस कविता से भली-भाँति प्रमाणित होती है।

इस संग्रह की सातवीं और आठवीं कविताएँ क्रमशः 'दिवा-स्वप्न' और 'किसान-कवि और उसका पुत्र' है। इन दोनों को एकसाथ पढ़ने से एक-दूसरे ही

1. तुमने ईर्ष्या के वातावरण को तूँ समझा है।
2. कविता की सांकेतिक व्यंजना तुम नहीं समझे।
3. दोपहर का चित्रण तो देखो।
4. तुम हर कविता से किसी-न किसी थ्योरी की वकालत क्यों करते हो?

प्रकार का आनन्द मिलता है। यह तुकान्त कविताएँ हैं और इनका काव्य-प्रवाह ऊपर लिखी हुई कविताओं से भिन्न है। भाषा में भी अंतर है, किन्तु इन दोनों में देहात का पूरा वातावरण उसी तरह व्यक्त हुआ है जिस तरह पिछली कविताओं में व्यक्त हुआ है। 'दिवा-स्वप्न' में बचपन के खेल-कूद के दिनों की याद में वर्तमान को भूलकर उस समय के खेल-कूद के ग्राम्य-दृश्यों में फिर से डूब जाने की अनुभूति है और वही अनुभूति सजीव होकर शब्दों में जादू करती है। इसका छन्द लम्बा है। मीठी याद के वातावरण की यह कविता अपने वर्णन में करुणा की गम्भीरता ले आई है और मिठास के साथ कसकन भी व्यक्त करती है।¹ इस कविता से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि जिस कवि का खेत-खलिहानों से और पशु-पक्षियों से जितना ही अधिक रागात्मक सम्बन्ध होगा, वह कवि उनके वर्णन में उतना ही अधिक काव्य दे सकने की सामर्थ्य रखेगा। न तो ऐसे कवि को कठिन शब्दों की जरूरत होती है और न किसी काव्यमय कलाकारिता की आवश्यकता होती है। अलंकार और कल्पना पीछे छूट जाते हैं। और लोक-जीवन पूर्णतया व्यक्त हो जाता है।² आठवीं कविता के चरित्र किसान कवि पढ़ीस जी हैं और उनके पुत्र श्री बुद्धिभद्र दीक्षित हैं। इन्हीं को लेकर रामविलास ने यह आठवीं कविता लिखी है। अब तक कविगण इस प्रकार की रचना नहीं करते रहे हैं। यह कविता इसीलिए और महत्वपूर्ण है कि किसान-कवि और उसके बेटे पर लिखी हुई हिन्दी में सबसे पहली मार्मिक कविता है।³ रामविलास ने कवि को पक्षी बनाकर वहाँ के पत्तों को छार-छार दिखा कर यह बता दिया है कि दोनों, कवि और उसके पुत्र की करुणा जनक मृत्यु में और वहाँ की प्रकृति में 'आत्मीय साम्य है'। फिर भी रामविलास ने इन दोनों की मृत्यु से विचलित होकर निराशा में इस कविता का अन्त नहीं किया है। उन्होंने हरियाली को चित्रित किया है और फागुन की लाली की याद दिलाई है, अनाज के दानों को उन्होंने उन्हीं की हड्डियों के रूप में दिखलाया है। अंग्रेजी की प्रसिद्ध कविता ग्रे ने लिखी है। उसमें शोक है। उसका काव्य-तत्त्व कृत्रिमता की सीमा तक पहुँचता है और उसमें हृदय की संवेदना समा नहीं पाई।⁴ रामविलास की इस कविता में न तो काव्य-तत्त्व की कृत्रिमता है और न संवेदना की कमी है। यहाँ जीवन दुःख में दब नहीं पाया है। रामविलास ने शाब्दिक हा-हा-कार नहीं किया है। उनके लिखने में

1. पुनः वकालत।
2. कैसा लोक-जीवन? कैसा वातावरण।
3. क्यों मार्मिक?
4. ग्रे के प्रति अन्याय

वेदना की रोकथाम है। निराला जी की 'सरोज-स्मृति' भी करुणा काव्य है, किन्तु वह करुणा उनके व्यक्तिगत जीवन से अधिक सम्बन्धित है और उस काव्य की प्रकृति दारुण है।¹ रामविलास की यह कविता उनके वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित नहीं है। इसलिए यह कविता इतनी दारुण नहीं हो सकी है। लोक-मानस के दुःख के अनुभव करने का जो तरीका है और जो सोचना है वह सब रामविलास की इस कविता में पूरी तरह आ गया है। इस कविता की करुणा गाँव में जन्मी है और वहीं इसका निवास है। यह करुणा अगर अधिक साहित्यिकता लेकर निकलती है तो वह गाँव छोड़ कर सौर-मंडल पहुँच जाती और तब पढ़ीस जी और उनके पुत्र की याद भी उस साहित्यिकता में खो जाती। यह कविता बीज-रूप में प्रबन्ध-काव्य के गुणों से परिपूर्ण है।

इस संग्रह की तैतालीसवीं कविता 'कोहरे के बादल' है। इस कविता का आरम्भ और अन्त एक ही है। बीच में दृश्य हैं। सबेरे का समय है। माह—पूस का सूरज निकला है। खेत पाले से भीगे हैं। वह सूरज अपनी किरणों से कोहरे के धुँधले बादल ऊपर उठाता है। इसी बीच में एक युवती खेत में खड़ी होती है। वह झुक कर पानी लगाती है। फिर कमर सीधी करने को खड़ी होती है। उसे वे कोहरे के बादल घेर लेते हैं। वहीं पर बड़े तड़के से पुरहाई लगाये हुये किसान पुर से पानी खींचता है और उसके बैल उस पुर को खींचते हैं। वह पुर झूम-झूम कर ऊपर आता है। ऊपर आने पर उड़ला जाता है और वह पानी दुलहरे में छल-छल करता हुआ उछलता है और बरहे में बह चलता है। वह युवती उस बहते पानी की धार को रुका देख कर उन पेड़ों को हटाती है और घवा फोड़ती है। फिर बिगही भर जाती है और वह युवती इसी काम में लगी आगे बढ़ती है। कड़ी मेहनत करती हुई वह फिर खड़ी होती है। तब तक किरणें उन कोहरे के बादलों को पी जाती हैं और ठण्डी हवा सुरसुराती हुई उस युवती को छूने लगती है। अब वह किरणों से चमक उठती है और कोहरे के वे बादल ओझल हो जाते हैं।² इसी दृश्य को रामविलास ने बड़ी सादगी से चित्रित किया है। श्रम में रत उस युवती का चित्रण ला-मिसाल है। किरणें सुन्दर हैं और युवती सुन्दर है। इसलिए ही किरणें काम में लगी हुई युवती को घेरे हुये बादलों को काटती हैं और उस युवती को ठंडक से बचाकर गरम करती हैं। किरणें और युवती एक हो जाती हैं। यहाँ न अलंकार की छटा है और न चमत्कार का चढ़ाव। वह नख-शिख-परिपाटी का सौन्दर्य-निरूपण भी यहाँ नहीं है। भाषा

1. निरालाजी का जीवन ही सामाजिक संघर्ष का प्रतीक है।
2. कविता का कथानक?

वातावरण के अनुकूल ही है। यह कविता तुकान्त है, किन्तु इसमें एकरसता नहीं आने पाई है।¹ इस कविता से यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रम से सम्बन्धित कविता भी सीधे-सादे शब्दों में उसी तरह काव्य का रूप ले सकती है जिस तरह बड़े आदमियों के ऊपर लिखी गई कल्पनात्मक रचनायें काव्य का रूप ले सकती हैं। इस कविता में तीसरी, चौथी, सातवीं और आठवीं कविताओं से बिल्कुल भिन्न कला मिलती है। इसमें सचेत कला अत्यधिक सहज स्वभाव लेकर व्यक्त हुई है। इसलिए यह कविता इस संग्रह की बड़ी प्रिय कविता है।

‘शारदीया’ इस संग्रह की पाँचवीं कविता है। यह एक शाम का सुनहला चित्रण है। सूरज डूब रहा है। सोने जैसे रंग फैला हुआ है। एक अधेड़ औरत² ज्वार के खेत में खड़ी हुई गला-गला कर गलरियों को गुफना से हाँकती है। इसका रंग भी सोने से अधिक निखरा रंग है और इसकी जवानी भी उसी तरह पककर झुक गई है, जिस तरह ज्वार के भरे-भुट्टे पककर झुक गये हैं।³ ऐसा सजीव सांगोपांग चित्रण इतनी सरल भाषा में शायद ही कहीं देखने को मिलेगा। इसको पढ़ते समय कालिदास के सुन्दर चित्रणों की याद आ जाती है। इस चित्रण में वही रस है जो किसी भी श्रेष्ठ कविता में होता है। जो लोग यह कहते हैं कि उत्तम कविता की उत्तम भाषा होनी चाहिए। वे लोग इस कविता को देखें और यह सार ग्रहण करें कि समर्थ कवि सीधी-सादी भाषा में भी रूप निखारकर भर सकता है, यदि वह दृश्य को अपने हृदय में आत्मसात कर ले। इस कविता से यह भी बहुत अच्छी तरह से प्रमाणित होता है कि खड़ी बोली में लोक-जीवन के दृश्य भी उसी सहज भाव से व्यक्त हो सकते हैं, जिस सहज भाव से सभ्य जीवन के दृश्य व्यक्त होते हैं।

‘चाँदनी’ इस संग्रह की दूसरी कविता है। लेकिन इसका शिल्प ‘शारदीया’ के शिल्प से बिल्कुल अलग है। इसमें कवि रामविलास ने चाँदनी को झीनी चादर, चाँदी का झूठा पानी, माया के सपने बुननेवाली, लोहे से दुःख को न काट सकने वाली और चुराई हुई चीज लानेवाली कहा है। यह वर्ण कवि के दिमाग से निकला है। उसके हृदय से यह चाँदनी नहीं निकली है।⁴ यह उनके आचार्यत्व को प्रदर्शित करती है, उनकी सरसता या करुणा को नहीं। यह युग के कटु यथार्थ को भी व्यक्त

1. नहीं-वादी आलोचना।
2. सिद्धः।
3. लड़की है।
4. शरद की साँझ युवती से भी सुन्दर है।
5. हृदय में चाँदनी नहीं सूर्य का प्रकाश है।

नहीं करती है। इसके विपरीत ‘शारदीया’ सहज सौन्दर्य-बोध की कविता है। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन इस बात को प्रमाणित करता है कि अच्छी कविता और खराब कविता में कितना अन्तर होता है। वही कवि जब ‘शारदीया’ लिखता है तब कितना सफल होता है आर वही कवि जब ‘चाँदनी’ लिखता है तब कितना असफल होता है। यह देखकर आश्चर्य होता है। ‘चाँदनी’ में कलात्मकता मिलती है जो काव्य की सृष्टि नहीं कर सकती। ‘समुद्र के किनारे’ इस संग्रह की नवीं कविता है। यह कविता भी चाँदनी की तरह की है। किन्तु इसमें जन-जीवन समुद्र का जय स्वर ले कर व्यक्त हुआ है¹ और इसमें जीवन की गहराई अधिक है। ‘चाँदनी’ में यह बात नहीं मिलती है। इसमें रामविलास ने जन-सागर को जल के सागर से बढ़कर दिखाया है और इसकी लहरें, समुद्र की लहरों से अधिक महत्वपूर्ण हैं। जन-सागर की लहरें अपनी सीमायें तोड़ती हैं और समुद्र की लहरें नक्षत्र के बुझे हुये स्थान पर पहुँचकर केवल रोती भर हैं। विद्रोह को व्यक्त करने की यह कला बड़ी भली प्रतीत होती है। किन्तु इसमें रागात्मकता का भराव बहुत कम है। यहाँ भावना प्रस्फुटित नहीं हुई। यहाँ विचार लहरें लेता हुआ मिलता है। इसमें विचारों की अभिव्यक्ति की वैचारिक कला मात्र है। यह कला जीवन की कला नहीं बन सकी है। इस कविता में रामविलास ने ठेठ शब्दों का प्रयोग किया है और इस प्रयोग से उन्होंने अपने विचारों में और उनकी अभिव्यक्ति में सरसता लाने का प्रयास किया है। फिर भी वह ऐसा नहीं कर सके हैं। उनका यह प्रयास स्पष्ट झलकता है। उनकी यह प्रतीकात्मक शैली सुन्दर अवश्य है, किन्तु उसका यह सौन्दर्य जीवन-जात और भाव-जात नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि विचार का सौन्दर्य कविता का सौन्दर्य नहीं है।

इस संग्रह की विचार-प्रधान कवितायें दसवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं, चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं कवितायें हैं। ‘कार्य-क्षेत्र’ में किसानों के जीवन का मटीलापन, उसकी एक-रसता और उसकी मलिनता की बात कही गई है। रामविलास ने इन किसानों को विद्रोह करने का निमंत्रण दिया है। यह कविता स्वभाव से काव्यमुखी नहीं है। इसमें वर्णित यथार्थ विश्लेषणात्मक और प्रेरक मात्र है। ‘हड्डियों का ताप’ भी इसी प्रकार की कविता है। इसमें भी भाव-पक्ष की कमी और विचार की प्रबलता है। ‘विश्व-शान्ति’ वर्णनात्मक और व्याख्यात्मक विवेचन मात्र है। ‘कलियुग’ विचारोत्तेजक, तीव्र तथा तित्त सत्य को प्रकट करने वाली कविता है। यह कविता भी विवेक और विचार का रूप लेकर अपनी सहज तित्तता खो बैठी है। किन्तु यह कविता छूती अवश्य है। जन-शक्ति की सेवा में समर्पित होकर यह

1. समुद्र का वर्णन

सत्य-प्रिय कविता पिछली कविताओं से कुछ-अधिक ओज-मुखर है। 'परिणति' एक साधारण कविता है। 'तूफान के समय' में मनुष्य के उस विचार का अंकन हुआ है जो उसे उस तूफान से लड़-भिड़ कर या तो आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है या उसे शीश झुका लेने के लिये और अचल खड़े होने के लिये विवश करता है कि वह देखे कि वह तूफान अन्तर्ज्योति को कैसे भस्म करता है और मानव पर कैसे विजय पाता है। इसके अतिरिक्त इस कविता में और कुछ बात नहीं है। यह तटस्थ दर्शक के स्वभाव को व्यक्त करनेवाली छोटी-सी एक कविता है। 'कलकत्ता' केवल कलावादी कविता है। यह प्रतीकात्मक हो जाने के कारण कलकत्ते को यह खुलकर नहीं प्रकट कर सकी और न वहाँ के जीवन की कटुता ही दिखला पाई है।¹ कलकत्ता एक ऐसा नगर है, जहाँ आत्मा और परमात्मा के विश्वासी मनुष्य भी रहते हैं और जीवन में रत कर्मण्य मनुष्य भी रहते हैं। कलकत्ता केवल आत्मा और परमात्मा के विश्वासी मनुष्य का नगर ही नहीं है। इस कविता में उस कलकत्ते का कोई भी वर्णन नहीं है जो कर्मण्य व्यक्तियों का भी कलकत्ता है। यह एकांगी वर्णन की कविता है। इसमें बादलों का बहते हुए हिमालय की ओर जाना दिखलाया गया है। यदि केवल बादलों के कलकत्ते का ही यहाँ वर्णन होता तो भी कोई बात थी, मगर ऐसा नहीं है। यहाँ तो केवल कल्पना की पकड़ मात्र है। इसमें कोई कविता नहीं है। यह सब कवितायें अतुकान्त छंद में हैं।

'जल्लाद की मौत' इस संग्रह की उन्नीसवीं कविता है। यह एक सोवियत चित्र को देख कर लिखी गई है। इसमें युद्ध के समय का वर्णन है। युद्ध की विभीषिका और उस समय का संपूर्ण अत्याचार इस कविता में पूरी तरह व्यक्त हो गये हैं। किन्तु इसका स्वर आशावादी है और यह स्वर प्रेरक है। यह जीने की आस्था देती है, इसलिए यह अच्छी बन पड़ी है। 'गुरुदेव की पुन्य भूमि' इस संग्रह की अठारहवीं कविता है। लेकिन यह कविता 'जल्लाद की मौत' वाली कविता से कहीं अधिक सशक्त और प्राणवान है। इसमें भी यथार्थ है और वह यथार्थ विदग्ध है।² इसमें युग की ललकार है जो कविता की तलवार बनकर चमक उठी है, जैसेकि वह झाँसी की रानी की तलवार हो।³ 'संतरण' इस संग्रह की बीसवीं कविता है, यह बेकार-सी है।

1. प्रकृति के सौन्दर्य और कलकत्ते की समरसता का Contrast.
2. ?
3. Undeserved Compliment.

बेकार, पर्व, बरदान, अज्ञान, अग्नि-शैया, दर्शन, नया गौरव, वर्तमान, अभिशाप, सार्थकता, चुनौती, पाषाण, आशा, विदा से पहले, पथहारा, पराजय, परिचय, सुख-दुःख, सृष्टि से पहले, उपसंहार, यज्ञ-प्रतिमा, तीसरे पहर, पंजाब का हत्या-काण्ड, आगरे में इलियाएरेनबुर्ग, और सानेट, कविताएँ इस संग्रह की साधारण कविताएँ हैं। इनमें कवित्व तत्व कहीं एक पंक्ति में मिलता है तो कहीं कुछ शब्दों में। इन कविताओं को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता है।¹ कई स्थलों पर छायावादी शिल्प और स्वर मिलता है। कहीं-कहीं केवल विचार मात्र मिलता है। लेकिन इनको पढ़कर यह मालूम होता है कि अन्य कविताओं की तुलना में इनका कोई भी स्थान नहीं है।

खजुराहो, कैमासन, बैसवाड़ा, डलमऊ में गंगा, कृष्ण तट पर विजयवाड़ा, महाबलिपुरम् का समुद्र तट, पीरपंजाल, चिदम्बरम्, मातृतीर्थ : तिरुच्चिरापल्ली, केरल, और ऋतु संहार लगभग एक-सी हैं, किन्तु इनमें पर्याप्त विभिन्नता भी है। 'खजुराहो' की खूबी यह है कि यह जैसे-जैसे आगे बढ़ती है खुलती जाती है। इसकी शुरुआत वहाँ की प्राकृतिक कुरूपता से होती है। कवि ने मन्दिरों को काले, नाटे, और सूने, विशेषणों से विभूषित किया है। दूसरे स्टैन्जा में चमेली के फूलों की महक जादू करती है और पादपीठिका पर छायायें आकर मेला लगाती हैं। प्रेमियों और प्रेमिकाओं की प्रणय-लीला होती है। शिवलिंग की पूजा होती है और अन्त में इन सबका निरावरण हो जाना दिखलाया गया है। कवि ने इसपर भी सब पर अंधकार फैला दिया है। तीसरे स्टैन्जा में कवि ने पिछली बात को स्वप्न कह दिया है कि वह कभी सत्य था। इसलिए सूर्योदय होते ही अब के खजुराहो का यथार्थ-दर्शन होता है। अब वहाँ के लहलहाते हुए खेत दिखाई पड़ते हैं। गरीब जनता दिखलाई देती है। उनके टूटे घर दिखते हैं। घरों के खपड़े दिखते हैं। गोबर की बदबू आती है। अगरु की खुशबू नहीं आती। पहले का शिल्प-सौन्दर्य जो खजुराहो में था वह ध्वस्त दिखाई पड़ता है। अति तो तब होती है जब देवग्रह का प्रस्तर-खण्ड नाबदान में जा कर ठहर जाता है। कल के चेल और चंदेल सब-के-सब टेढ़े-मेढ़े, काले, दुबले पेड़ हो गये हैं और यह पेड़ विन्ध्याचल के पेड़ हैं। कल की वे नायिकाएँ अब गँवार हो गई हैं और उनका गँवारूपन उन्हें इतना भयभीत बना चुका है कि वे सिपाही को आता देखकर घूँघट खींच लेती हैं और जूते हाथ में उतार लेती हैं। इस चित्रण में पहले का सौन्दर्य और अब का यथार्थ बड़ी विदग्धता/तिक्तता से व्यक्त हुआ है।²

1. ठीक है।
2. विदग्धता=व्यंग्य based on contrast.

यदि यह कविता यहीं पर खत्म हो जाती तो काव्य का सौन्दर्य पूरा निखार न ले पाता और कवि का कार्य अधूरा रह जाता। चौथे स्टैन्जा में रक्त से सींचे गये खेतों को हरा-भरा दिखला कर और उसके साथ में जीर्ण सभ्यता के तमाम चिन्हों को ध्वस्त कर कवि ने कमाल किया है। वे चिन्ह केवल याद में शेष रह गये हैं। उन चिन्हों में जीवन नहीं हैं। पाँचवाँ स्टैन्जा विचार की अभिव्यक्ति के कारण सर्वोपरि हो गया है। इससे पूरी कविता चमक उठी है। महाकवि रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' कविता केवल कल्पना प्रसूत है।¹ वह इस कविता के टक्कर की नहीं है। इसी प्रकार ताजमहल पर लिखी गई अनेक कविताएँ भी इस कविता के सामने फीकी पड़ जाती हैं। इस कविता से यह भलीभाँति विदित हो जाता है कि बिना यथार्थ के संयोग के कला और कल्पना किसी भी कविता को सुन्दर नहीं बना सकती। यथार्थ कविता में जीवन की मार्मिकता भरता है और कल्पना उस मार्मिकता को सहला कर सहज ग्राह्य बना देती है। इस कविता से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि गत वैभव का सदुपयोग यथार्थ के सम्मिश्रण से ही कवित्वपूर्ण हो सकता है और तभी वह जातीय जीवन के लिये महत्वपूर्ण हो सकता है। कोई भी कविता लोक-पक्ष को बिसार कर कला-पक्ष को उभार कर जातीय जीवन की कविता नहीं हो सकती। 'कैमासन' कविता में कवि टोरियों पर जाकर सूर्यास्त देखता था तब वह लड़का था। कवि अपनी उस समय की मनोदशा का चित्रण करता है। वह सदर का फौजी बिगुल बजता सुनकर झांसी की रानी के समय की लड़ाई का स्वर सुनता है और उसकी आँखों के सामने सन् 1857 के गदर का दृश्य आ जाता है। वह युद्ध बलिदान का था और आतताइयों के दमन का था। कवि ने इस कविता में अकेला शाम का वर्णन ही किया होता तो यह कविता इतनी प्राणवान न होती जितनी अब है। यह कविता भी खजुराहो की तरह जातीय जीवन से सम्बन्धित होकर उसी तरह अच्छी बन गई है।² 'ऋतु संहार' में वसंत के आने पर दिगन्त का सौरभ से पुलकित हो जाना और कामदेव का पूनों के चन्द्रमा का छत्र लगाये हुये आना और किंशुक की धनुही खींचना इत्यादि वर्णन अचानक ही कालिदास की याद दिलाते हैं। इस कविता में जो वर्णन है वह प्रकृति का परम्परागत वर्णन मात्र है³ और वह वर्णन पुराने प्रतीकों द्वारा हुआ है। इस कविता में कल्पना की उड़ान अवश्य है, परन्तु वह उड़ान स्वाभाविक नहीं है। किन्तु आग लगने पर बासों का चट-चट करके जलना, लपटों का धूँ-धूँ कर उठना,

1. नहीं मित्र; कहाँ वह, कहाँ यह!
2. साँझ के वातावरण का चित्रण।
3. पुरानी रोमांटिक कल्पना पर व्यंग्य है।

कच्ची दीवारों का ढह-ढह पड़ना, जाँघों से मोटी शहतीरों का तड़प-तड़प कर टूट-टूट पड़ना, और छतों का गाज-सा गिरना, यह सब इतना सशक्त और दमदार वर्णन है कि इसकी वजह से सम्पूर्ण कविता महत्वपूर्ण हो गई है। इसमें कमल-पत्र की छाँह में बैठकर गानेवाले मनुष्य की ओर भी इशारा किया गया है और यह भी एक बहुत अच्छा इशारा है। यह कविता 'खजुराहो' की तुलना में कमजोर कविता है। इस कविता में कवि ने कई पैतरे बदले हैं। कवि ने पहले स्टैन्जा में वसंत-वर्णन अनूठे ढंग से लिखा है।¹ दूसरे स्टैन्जा में उसने नूपुर-सज्जित चरणों की याद दिलाई है और उनके छू जाने से अशोक के लहलहा जाने का स्मरण कराया है। उसने तीसरे स्टैन्जा में मधु और प्रेम का वातावरण दिया है। उसने चौथे स्टैन्जा में अकारण ही भाई का खून पीनेवाले का आकस्मिक वर्णन करके यथार्थ को नाहक ठूस दिया है।² पाँचवाँ स्टैन्जा में ग्रीष्म के प्रकोप की बात कही है। उसने छठे स्टैन्जा में आग का प्रकोप दिखलाया है। उसने सातवें स्टैन्जा में दुर्दिन में कमल-पत्र की छाया में गानेवाले की मौजूदगी का बोध करा कर विडम्बना दिखाई है। उसने आठवें में फिर से अतीत की याद दिलाई और अन्त में उसने नवें स्टैन्जा में फिर यथार्थ की भूख को उभारा है। इसके देखने से पता चलता है कि इस कविता में कई कुशियाँ लड़ी गईं और जीती गईं हैं। इसका शिल्प इसीलिए कमजोर है। 'ऋतु संहार' के बाद ही 'बैसवाड़ा' पढ़ने से यह बात और भी साफ तौर से उभर आती है कि 'ऋतु संहार' क्यों अच्छी कविता नहीं है। उसमें उन चित्रों का अभाव है, जिनसे कविता सजीव और सम्मोहक बनती है। 'बैसवाड़ा' में कवि ने उसे अवध का हृदय कहा है।³ यही नहीं, उसने उस हृदय को घनी अमराई-सा कहा है। 'घनी' शब्द से वहाँ की जनसंख्या का बोध होता है और वहाँ के हजारों आदमियों के हृदय का स्पन्दन सुनाई पड़ता है। इस कविता का प्रथम भाग द्वितीय भाग से अलग पड़ गया है। यही इस कविता की कमजोरी है। यदि इन दोनों को किसी कथानक से जोड़ा गया होता तो बहुत अच्छा होता। धरती की पतों में गंगाजल के सीझ जाने की बात बे-मिसाल है। किसानों का रूढ़िवादी तरीके से खेती करना और चूहों से पुरवाई करना और उनका आपस में लड़ना-झगड़ना और परदेश कमाने जाना, यह सब कवित्वमय चाहे भले ही न हों, लेकिन इस कविता के आवश्यक अंग हैं। धरती के मालिक सब गदर के गद्दर हैं और जमींदार और ताल्लुकदार सुन्दर शरीर पर

1. प्रकृति का परम्परागत वर्णन मात्र।
2. यहीं से Contrast शुरू होता है।
3. बैसवाड़ा अवध का हृदय है, not viceversa.

कुष्ठ रोग-से हैं। यह कथन बड़ा ही आकस्मिक-सा लगता है। इस कथन को किसान की जिन्दगी से निकलना था और किसान के किसी कथानक से जुड़कर उभरना था। ऐसा नहीं हुआ। यह एक खराबी है। डलमऊ में गंगा बहती है। उसी को लेकर रामविलास ने 'डलमऊ में गंगा' नाम की कविता लिखी है। इसमें अतीत, वर्तमान, और भविष्य तीनों काल, तीन धारायें बनकर व्यक्त हुये हैं। कविता की उठान ही गंगा की तीन धाराओं से दिखाई गई है जो जनता के पद-चाप में भविष्य में एक होगी। इस गंगा के किनारे पण्डित, पण्डे, काली भैंसें, पदच्युत अफसर रहते हैं और इन्हीं का कीचड़ उठ-उठ कर गंगा के जल पर छा जाता है। गंगा के किनारे चिताएँ जलती हैं, लेकिन उन मनुष्यों की जलती हैं जो पहले ही क्षुधा से जल चुके होते हैं। दो धाराओं के बीच में रेत की पाटी गर्मी से जलती है और गंगा का जल ठंडक नहीं दे पाता। लेकिन इस कविता का अन्तिम स्टैन्जा बहुत अच्छा है। इसमें जनता की बेखबरी की ओर संकेत है और धाराधर के बरसने की पूरी आशा है। जोती हुई जमीन में बादलों का बरसना और फिर उनका दाने बनकर उगना कहकर कवि ने अपनी इस बात से वहाँ के आगामी जन-जीवन की सुन्दर कल्पना की है और यह कल्पना बड़ी अनूठी है। इस कविता की अन्तिम पंक्तियाँ बड़ी मारू हैं। गंगा के समान ही नये युग की मेहनतकसों की पद-चाप सुनाई पड़ेगी। यह उसी प्रकार का अन्त है, जिस प्रकार का अन्त 'समुद्र के किनारे' का अन्त है।

'कृष्णा तट पर विजयवाड़ा' एक सुन्दर कविता है। इसमें भी वहाँ का इतिहास उभारा गया है और इसका भी अन्त विजय-पर्व के आगमन में हुआ है। दक्षिण और उत्तर की संस्कृतियों का संगम और जनता की मैत्री का स्थान महाबलिपुरम् का समुद्र तट है। इस कविता में समुद्र में डूबे हुये मन्दिरों की बात कही गई है। एक मन्दिर डूबने से बच गया है। इस मन्दिर के आँगन में ध्वस्त बैल हैं और वे आँधी-पानी सहते हुये अडिग बने रहकर, समुद्र की ओर, ऊँचा सिर किये हुये देखते हैं। यहाँ शिव के साथ शक्ति है और आंध्र और केरल, तमिलनाडु से जुड़े हैं। चट्टानों पर कला के अमर लेख हैं। कृष्ण गोपियों के साथ गोवर्धन उठाये खड़े हैं। बूढ़े द्रोण अभी तक समर भूमि में धनुष चढ़ाये हुए हैं। नीला समुद्र और नीला आकाश शताब्दियों से उसी तरह जीवित है जिस तरह अतीत में था। यह मैत्री का पुन्य स्थल है।¹ यह कविता भी महत्वपूर्ण और अपने ढंग की एक ही है। 'चिदम्बरम्' में कला का जादू लोक-नृत्य में रत देश-काल के द्वारा व्यक्त किया गया है। जड़ प्रतिमायें अब भी जीवित हैं और गाती हैं। देखनेवाले उन्हें देखते-

1. यह सब कविता की हड्डियाँ हैं, उसका रक्त-मांस नहीं।

देखते मौन खड़े रह जाते हैं। ऐसा लगता है कि जैसे समुद्र की तरंगें मृदंग के सम पर हैं और नटराज अभंग मुद्रा में नाच रहे हैं और स्वयं काल चरणों के छन्दों में बँध गया है। यहाँ के मंदिर खजुराहो के मन्दिर की तरह नहीं हैं। यह मन्दिर साँचे में ढले हुये खम्भों सहित खड़े हैं। यह कविता भी 'अमर सरस्वती' की तरह श्रेष्ठ है। इस कविता में रामविलास की कला अपने पूरे विकास पर है।¹ मातृ-तीर्थ वाली कविता दक्षिण के प्रसिद्ध कवि भारती को याद करके लिखी गई है। उन्हें दमन ने दिवंगत कर दिया था। किन्तु वह दमन करनेवाले स्वयं मर गये और कवि आज भी वहाँ जीवित है और अमर है। जन-मन की वाणी में और वातावरण में वह अब भी साकार है। वह भारत-समुदाय बन गया है। रामविलास ने इस कविता में यह प्रतिज्ञा करायी है कि भारती के स्वप्नों के अनुकूल जीवन की रचना की जाये। इससे कवि की देश-भक्ति का पता चलता है। उत्तर और दक्षिण की शक्ति का जागरण जन-जन में फिर से अवतरित हो, इसलिए यह कविता कही गयी है। किन्तु यह कविता न तो प्रचारात्मक है और न नारावादी है। 'केरल' भी उसी तरह की सुन्दर कविता है जिस तरह की 'कोहरे के बादल' है। इसमें वही सरलता और वही सहज वातावरण है जो उस कविता के शब्दों द्वारा व्यक्त हुआ है। हरियाली का सागर उमड़ पड़ता है। पहाड़ों के बादल की नीलिमा और यह हरियाली मिलकर केरल पर सिन्धु-राग-सी छा जाती है। वहाँ घनी धूम की गुन्जें पहाड़ों के शिखरों पर हाथियों की तरह झूमने लगती हैं। यहाँ पर कजली वन की याद आ जाती है और समुद्र बाहें फैलाये हुये दिखता है जिसमें सब नदियाँ, सीमा खोकर एक हो गई हैं। इसके बाद ही उन मेहनतकसों का वर्णन है जो जटायें कूटकर और उन्हें बटकर पेट पालते हैं। रामविलास ने इस कविता में भी इन्हीं आदमियों के उस पौरुष को व्यक्त किया है जिससे वे, पर्वत काटते हैं और कठिन जंगल में रास्ता बनाते हैं। इस कविता का अन्त भी वहीं होता है जहाँ से यह कविता आरम्भ होती है। केरल पर हरियाली का सागर लहराता है। जैसे कि धरती पर फिर से सावन छा गया हो। 'पीर पंजाल' एक-दूसरे तरह की कविता है। कवि ने इसमें जो छंद-अपनाया है उसकी चाल बहुत ही बढ़िया है। कवि ने पर्वत को धरती का मान-दण्ड कहकर कालिदास के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है। इस कविता में रुद्र के डमरू की ध्वनि गूँजती है। फिर अभिशप्त यक्ष की याद आती है। मेनका का वर्णन तप-भंग के सिलसिले में होता है। रामविलास ने कालिदास के समय के भारत को इस कविता में साकार कर दिया है। इसमें यथार्थ का चित्रण अवश्य नहीं है, किन्तु प्राकृतिक वर्णन साँझ के जगमगे

1. क्यों? वातावरण का चित्रण।

जल भरे झील और ताल के द्वारा जगमगा उठा है। यह कहना कि अब इस प्रकार की कविताओं का कोई मूल्य नहीं है, सरासर मूर्खता होगी। हिन्दी में ऐसी कविताओं की संख्या यदि बीस-पचीस भी हो जाये तो सुन्दर कविताओं के अभाव की पर्याप्त पूर्ति हो जाये।

‘बन्दिनी कोकिला’ में उस गायिका का वर्णन है, जो वर्तमान सामाजिक बन्धनों में बँधकर मुक्त कंठ से ताल-वृक्ष के नीचे नहीं गा सकती। इसमें भ्रू-भंगों से सागर की लहरों को शान्त करने की कल्पना बड़े ही गजब की है। गायिका की बरौनियाँ श्यामल धरती पर फैली हुई दिखाई गई हैं और उसके केश मेषों से उड़ते हुए चित्रित किये गये हैं। यह सौन्दर्य-बोध यह प्रकट करता है कि यह गायिका धरती और आकाश दोनों की है, जो बन्दिनी बनी हुई है। इस कविता में सामाजिक विडम्बना अपने कलात्मक रूप से पूरी तरह व्यक्त हुई है। इस कविता की सराहना जितनी भी की जाय कम है।

‘श्रेष्ठियों के देवता’ सेठों के देवताओं पर लिखी गई है जो अन्धकूप में पड़े हुये हैं और तालों में जकड़े हुए हैं। उनकी आकृतियाँ सुन्दर हैं, पर वे गरीब जुलाहों और हरिजन हलवाहों को किसी भी प्रकार से समुन्नत नहीं करते। इसलिए रामविलास ने उन देवताओं को अन्धकूप से बाहर आने के लिये ललकारा है और जन-मन में घुल जाने के लिये चुनौती दी है। इस कविता में भी विदग्धता है।

‘मूर्तियाँ’ में देहात के उस समय का चित्रण है, जबकि वहाँ के व्यक्ति देवी-देवताओं को पूजने के लिये मंदिर जाते हैं। लोगों से फूल पान पाते हैं। मंदिर खंडहर हो गया है। पूजा का रहस्य हृदयग्राही है। किन्तु उसमें जो दयनीयता है वह दर्शनीय है। इस कविता की ध्वनि यह है कि देवताओं को पूजते-पूजते न जाने कितने गाँव धूल में मिल गये हैं। इसमें ग्राम्य जीवन का जो चित्रण हुआ है, वह डलमऊ की गंगा में हुए चित्रण की तरह है। इस कविता में व्यंग्य भी बहुत है।¹ इतने असहाय देवताओं को वही लोग पूजते हैं जो खेतों को जोतते और बोते हैं और यह बात नहीं समझते कि वे क्या कर रहे हैं? इस कविता का अन्त भी आरम्भ जैसा है।

‘आजाद पताका’ राष्ट्र-गीत के समान ही सुन्दर है।² इसमें नीर-भरे-बादलों के नीचे वह नये पौधों-सी उगती और उड़ती हुई दिखाई देती है। यह पताका सागर की लहरों के समान लहराती है। इसे बिजली नहीं झुलसा पाती। यह जीवन की रस-धारा है। यह मुक्त हुये पंछी के समान है। इसे सौ-सौ जाल बिछाकर भी विदेशी उड़ने से नहीं रोक सके। ‘और भी ऊँचा उठे झंडा हमारा’ प्रखर वेग की

1. व्यंग्य नहीं रोमान्स और करुणा।
2. नहीं।

कविता है। इसमें करोड़ों काम-काजी बाहुओं पर झंडे को शताब्दियों से ऊपर उठ रहा, लहरा रहा, दिखाया गया है। भारतीय इतिहास की समस्त प्रमुख घटनाएँ सम्बन्धित होकर इस झंडे के साथ उभर आई हैं।

कवि महजूर के स्वर्गवास पर लिखी गई कविता में राष्ट्र-संघ की करतूतों को रेशम की कमंद के फेंकने के समान बताया गया है। यह बहुत अच्छी है।¹

‘दाराशिकोह’ इस संग्रह की सत्रहवीं कविता है। दारा कैद करके दिल्ली लाया जाता है। उसे हाथी पर सवार करके सारे नगर में घुमाया जाता है। उसका मस्तक मुकुटहीन है। उसके कंठ में पराजय का मलिन हार है। उसके पाँव में जंजीर है। उसका पिता शाहजहाँ बन्दी है। औरंगजेब दिल्ली का सम्राट है। इसी ऐतिहासिक घटना को लेकर कवि ने दारा के ऊपर यह कविता बड़ी सहानुभूति के साथ लिखी है। इस कविता में प्रबन्ध-काव्य के लक्षणों का निर्वाह हुआ है। किन्तु यह रचना अन्य दूसरी रचनाओं के समान नहीं है।

‘अर्चना’ इस संग्रह की सत्तावनवीं कविता है। यह निराला जी पर लिखी गई है। यह भी बड़ी अच्छी कविता है। इसमें कवि ने निराला को भारत के इस राम-राज्य का साक्षात् व्यंग्य का शर कहा है। निराला की रचना को कवि ने कसौटी पर अमर स्वर्ण-रेखा कहा है। यह कविता पहली कविता ‘कवि’ से भिन्न गुण और स्वभाववाली है।²

‘बाँदा में निराला-जन्म-दिवस-समारोह’, इस संग्रह की बासठवीं कविता है। बाँदा में आयोजित निराला-पर्व के अवसर पर यह कविता सन् 1954 ई0 में लिखी गई थी। वहाँ के नव-युवकों का प्रगाढ़ प्रेम देखकर इसकी प्रेरणा मिली थी। नव युवकों ने निराला के कई चित्र बनाकर प्रदर्शित किये थे और उनपर स्व-रचित रचनायें पढ़ी थीं। बाँदा की बंजर बुंदेली धरती पर जैसे नदी, सघन सावन में कगार छाप कर बहती है, उसी तरह यहाँ कवि का निर्भय बादल-राग गूँजे यह कामना रामविलास ने अपनी इस कविता के अन्त में प्रकट की है। यह एक बहुत साफ-सुथरी शैली में लिखी गई कविता है।³

अब देखना है यह है कि रामविलास की इन कविताओं का आज के हिन्दी साहित्य में क्या स्थान है। वैसे तो यह तमात कवितायें आज की नई कविताओं से नितान्त भिन्न स्वभाव में लिखी गई है और इनमें न तो वह शब्द-चयन है, और न वह लघु-लय है जो आम तौर से आज की कविताओं में देखने को मिलती हैं।

1. क्यों?
2. बड़ी अच्छी है, उस जैसी नहीं है, उससे भिन्न गुण वाली है, साधारण है—यह राय हुई, आलोचना नहीं।
3. तुलसी-निराला की कड़ी बाँदा में जुड़ी, बाबू।

कोई भी कविता केवल आधुनिकता या नवीनता या दोनों के परस्पर योग से भी, अच्छी कविता नहीं हो सकती, जबतक कि वह कविता जातीय जीवन से सम्बन्धित न हो और उसमें अपने चारों ओर के जगत् का हृदयग्राही भाव-स्वरूप व्यक्त न हो।¹ यही कारण है कि हजारों कवितायें प्रतिदिन पढ़ने पर भी बड़ी मुश्किल से ही कभी-कभी कोई हृदय को छूती है। रामविलास की कविताओं में केवल भावों का निरूपण ही नहीं किया गया, वरन् उनमें जो भी निरूपण है, वह भारतीय जीवन से प्राप्त हुआ है और जातीय स्वर लेकर, जनता की प्रगतिशील विचारधारा से संतुलित होकर व्यक्त हुआ है। उनमें केवल क्षणों की प्रक्रिया नहीं है। जिस कविता में केवल मनोविकारों को व्यक्त किया जाता है और जिसमें किसी विचार की मूर्ति नहीं खड़ी की जाती वह कविता पढ़ने में चाहे जितनी अच्छी लगे स्थायी नहीं हो सकती। रामविलास ने अपनी कविताओं में भावों और विचारों को एकसाथ मिलाकर व्यक्त किया है। यही कारण है कि इस संग्रह की अधिकांश कवितायें टिकाऊ हैं। इन कविताओं के छन्दों की विशेषता यह है कि वह भावों और विचारों को साथ ले कर बहे हैं और गूँजे हैं। ऐसा नहीं हुआ है कि छन्द कविता के मर्म को विसार कर आगे बढ़े हैं। इसके अतिरिक्त छन्दों का स्वरूप भी ऐसा है जो सहज शिल्प से नियोजित है। इन छन्दों में परायापन रत्ती भर भी नहीं है। जो भी मुक्त-छन्द इस संग्रह में आये हैं वे सब-के-सब परिचित और हिन्दी के अपनाये हुए हैं। इन छन्दों में कविता का प्रवाह मिलता है और यह प्रवाह कहीं भी, किसी स्थल पर गद्य के निकट नहीं पहुँचा है। तुकांत छन्द भी इसी प्रकार प्रयुक्त हुये हैं। तुकान्त छन्दों में कथ्य और शिल्प दोनों गँस कर उभरे हैं। जहाँ ओज आया है वहाँ छन्द ओजमय हो गये हैं। प्रकृति के चित्रण में भी छन्द प्रकृति की तरह ही रूप-रंग-मय हो गये हैं। इन छन्दों में शक्ति और संवेग दोनों ही भर गये हैं, किन्तु ऐसा नहीं हुआ है कि उन्होंने छन्दों के सौन्दर्य को तोड़ा हो। घनत्व भी पर्याप्त मात्रा में इन छन्दों में मिलता है। गम्भीरता भी आई है, लेकिन वह दुरूह होकर नहीं आई है। उसका स्पर्श अतल की गहराई की तरह होता है। ऐसा भी नहीं हुआ है कि कल्पना छन्दों को लेकर आकाश में उड़ गयी हो और कविता केवल उसकी परछाई हो कर रह गई हो।

यह कहना सर्वथा सार्थक होगा कि रामविलास उतने ही सजग और सफल कवि हैं, जितने सजग और सफल आलोचक हैं। यह बड़ी विडम्बना है कि वह अब कवितायें नहीं लिखते हैं।² उनसे आशा यह की जाती है कि वह अपना कवि-रूप

1. छन्द, भाषा, Imagery, व्यंग्य, Cantiastric poems.
2. लेकिन पढ़ता हूँ; लिखूँगा, डियर।

फिर प्रकट करेंगे और हिन्दी को अच्छी-से-अच्छी कवितायें देंगे।उनकी कविताओं की आजकल बहुत ही आवश्यकता है।

[प्रस्तुत संग्रह विनोद पुस्तक मंदिर, हास्पिटल रोड, आगरा से प्रकाशित हुआ है और इसका मूल्य दो रुपया है।]¹

P

2. यह सूचना अत्यन्त आवश्यक है, लेख में कविताओं की संख्या की तरह।

प्रतिक्रिया

चाबुक

“फूँकों से यह चिराग बुझाया न जायगा

हिन्दी का संघर्ष-रत साहित्यिक और उसका साहित्य बातचीत के नाम पर निरी बकवास न करके फिराक साहब अस्त्रियत को देखने और समझने का प्रयत्न करें।”

‘तरुण’ सन् 1942 के अंक में रघुपति सहाय, एम0 ए0 की हिन्दी के साहित्यिकों से पहली बातचीत प्रकाशित हुई है। इस बातचीत में आँखें बन्द कर हिन्दी की बुराई की गयी है और उसे उर्दू के मुकाबले इस हद तक नीचा दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि सहाय साहब की अक्ल पर सन्देह होने लगता है और उनसे यह कहने को जी होता है कि अब, अपनी तीन-चौथाई उम्र काट चुकने के बाद, बातचीत नहीं कर सकते—केवल बकवास कर सकते हैं। ऐसा मालूम होता है कि सहाय साहब ने अपने पढ़ने के जमाने से लेकर आजतक केवल बातचीत ही की है और भाग्य से उन्हें प्रतिदिन विश्वविद्यालय में भी बातचीत ही करनी पड़ती है। विश्वविद्यालय के काम के बाद भी उन्हें, घर आकर और कोई काम नहीं रहता, केवल बात ही करनी पड़ती है। यह हम जानते हैं, संसार के किसी भी विषय पर कमाल के साथ वह बात कर सकते हैं। विषय चाहे ब्रह्म का हो अथवा शराब पिये किसी बदमाश का। उनकी जबान पैनी और न रुकनेवाली है। चाहें तो उसे बेलगाम भी कह सकते हैं। किन्तु यह सोचना कि वह जो भी बात करेंगे, वह अक्ल की होगी नितान्त सही न होगा। फिर पुराना बातूनी और पुराना शराबी—दोनों ही, जब अधिक काल तक अपने व्यसन में पूर्णतया लिप्त रह चुकते हैं और उम्र धँसने पर पहुँचते हैं, तो निकम्मों के सिरताज बन जाते हैं। एक की जबान केवल उलटती-पलटती रहती है, तो दूसरे की टाँगें डगमगाती रहती हैं। एक जो कुछ कहता है बेसिर-पैर का होता है; दूसरा जो आगे बढ़ने की सोचता है, तो अपने ही स्थान पर गिरकर रह जाता है। सहाय साहब का भी यही हाल है। उनकी बात का कमाल इसमें नहीं है कि वह सही दिमाग से उतरती है, तर्कपूर्ण है, विश्लेषण और संश्लेषण को साथ लेकर चली है, अध्ययन के पहाड़ों पर नदी की तरह चलकर, नीचे के समतल मैदान में प्रशान्त हुई है और अभूतपूर्व स्वर्ण-अन्न की उपज के लिए भूमि को उर्वरा करती है। नहीं, नहीं, ऐसा बिलकुल नहीं है। उनकी बात का कमाल-जमाल इसमें है कि वह बिगड़े और बदहवास मस्तिष्कीय प्रतिक्रिया की देन है। इसे सहाय साहब

भले ही अमूल्य और हितकारी समझें, पर कोई दूसरा शख्स उसे ऐसा नहीं समझेगा। वह तो यही कहेगा कि अब सहाय साहब बात नहीं, केवल बकवास करते हैं। इसके सिवा उनसे और कोई उम्मेद करना भी भूल होगी।

बकवासी जब बकवास करता है, तब लोग उसे इसलिए सुनते हैं कि निरर्थक बातों में भी मजा आता है। बकवासी इसलिए बकवास बढ़ाये रहता है, क्योंकि वह समझता है कि लोग उसकी प्रशंसा करते हैं और कुछ भी वह कहता है, वैसा कोई नहीं कह सकता। मेरे पड़ोस का इक्का हाँकनेवाला अधेड़ चौरसिया भी बकवास का सिर ऊँचा किये रहता है। उसके मुँह से कुछ ऐसी औँधी-सौँधी बातें अकसर सुनने को मिल जाती हैं, जिन्हें सुनकर अचरज होता है और मन को यह कहकर समझाना पड़ता है कि दिमाग का पेचकस कहीं ढीला होगा। चौरसिया के विचार राजनीति पर होते हैं, समाज पर होते हैं और देवताओं पर होते हैं। यदि मैं असलियत न जानता होता और राजनीति, समाज और देवताओं से अनभिज्ञ होता, तो अवश्य ही बकवास का शिकार हो जाता। सहाय साहब की इस पहली अनोखी बकवास का असर भी हिन्दी के किसी प्रेमी पर न पड़ेगा। हाँ, उर्दू के हिमायतियों की समझ में यह आ जायगा कि वह अब गर्व से सीना उठाकर, अपने को गालिब, मीर, अनीस और दाग का जायज वारिस घोषित कर सकते हैं और पान की पीक निगलते तथा मुँह से मद्यपान की प्रतिभा प्रकट करते हुए, शान से उस ओर जा सकते हैं, जहाँ हिन्दी के महाकवि सूर, तुलसी और मीरा ने अपना साहित्यिक सौष्ठव स्थापित करके, इस युग के हिन्दी-साहित्यिकों को, सरस्वती की नवीनतम कलात्मक मूर्ति अवतरित करने की अमर इच्छा और साधना दी है।

सहाय साहब की बातचीत के बारे में यह उतनी ही उपयुक्तता के साथ कहा जा सकता है, जितना कि हैमलेट के बारे में कि "There is a method in his madness." मेरा अभिप्राय यह कहने से केवल इतना है कि सहाय साहब ने ऊपरी शिष्टता और विनम्रता की चाशनी देकर अपनी बातचीत को संयत करना चाहा है। सरसरी तौर से पढ़ जाने पर उनकी बातचीत अनियंत्रित अथवा असंयत नहीं प्रतीत होती, किन्तु बुद्धि का स्पर्श पाते ही यह भस्म हो जाती है और उसकी जगह पर सहाय साहब स्वयं बाल बिखराये बी-उर्दू के सामने मजनु की तरह सिर धुनते नजर आते हैं।

यह हिन्दी वालों का अहोभाग्य है कि सहाय साहब उन्हें ‘आदरणीय’ कहकर सम्बोधित कर सकते हैं। पर यह कह देना उपयुक्त होगा कि हिन्दीवाले न तो उनके इस बनावटी ‘आदरणीय’ के भूखे हैं, न उनको इस आदर पर कोई गर्व ही हो सकता है। हिन्दी के कवि और लेखक तपस्या और साधना के कायल हैं, व्यर्थ के गौरव के नहीं। यदि हिन्दी वालों में भी इस तरह के गौरव और गर्व को 436 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

प्राप्त करने की साध हुई होती, जैसा कि उर्दू वालों में शुरू से रही है, तो आज हिन्दी वालों की रचनाओं का प्रचार-क्षेत्र भी बाजार के कोठों तक ही सीमित होकर रह जाता। यह सही है कि गालिब, अनीस, जोश तथा अन्यान्य कवि उर्दू के चन्द हिमायतियों की जबान की लपालप को कायम व बरकरार रखने में पूरी मदद देते रहते हैं, पर इसका यह मतलब नहीं है कि गालिब वगैरह हिन्दुस्तान की अन्तर्वाणी बन गये हैं। मैंने हजारों आदमी देखे हैं, जो अहलकार-ओहदे से किसी-न-किसी प्रकार से सम्बन्धित हैं और मैं कह सकता हूँ कि मैंने उन्हीं की जुबान पर इन कवियों का नाम अधिक देखा है। यह सत्य कड़वा अवश्य है, पर निर्भीक है। उर्दू का कोई ऐसा हिमायती ही मिले, जिसका सम्बन्ध ऐसे ओहदेदारों से न हो। उर्दू राज-काज की भाषा है। खुशामद की चिकनाई इसके हरूफों और इसके उच्चारण में इस बुरी तरह से चढ़ गयी है कि जबान फिसलती है और सुनते वक्त यही लगता है, जैसे प्रयास ही नहीं करना पड़ रहा है। यदि इसी को सहाय साहब उर्दू की खूबी कहते हैं और इस पर गर्व करते हैं, तो मुझे अफसोस है। हिन्दी-साहित्य की भाषा विद्वानों, विचारकों, शिष्ट व्यक्तियों और सुधारकों की जीवन-तन्त्री से झंकृत होकर धर्म एवं सत्य, शील और कल्याण के वायुमण्डल में निःसृत हुई है और समस्त दिशाओं में गूँजी है। सहाय साहब को चाहे बीस नहीं चालीस बरस हिन्दू धर्म एवं दर्शन को ग्रहण करने के प्रयत्न में लग गये हों, पर आज तक वह यह नहीं समझ पाये कि हिन्दी भाषा उनके दिल की भाषा क्यों नहीं हो पायी? उनका दिल ओहदेदारों का दिल है। उसमें तड़प है, कसक है, मजनुई बेगानापन है; किन्तु संस्कार-पोषित हिन्दू की शिष्टता और संयम रत्ती भर भी नहीं है। यही कारण है कि सहाय साहब आज असमर्थ हैं कि वह कामायनी और संस्कृत भाषा की वाक्य-कुशलता को समझ सकें। यह उनका नहीं, उनके संस्कारों का दोष है। वह, लाख बार नहीं करोड़ बार यह दम भरें कि उन्हें भी हिन्दी के हिमायती होने का हक है, क्योंकि वह हिन्दू घर में जन्में हैं, उन्होंने हिन्दू इतिहास, हिन्दू जीवन, हिन्दू साहित्य और कला इत्यादि देखा है, फिर भी वह प्राचीन संस्कारों से अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते। यही तो हमारे दुःख का विषय है कि सहाय साहब हिन्दू हैं और अभी तक हिन्दू बने हैं— यही एक अचरज है। लेकिन हम जानते हैं कि हिन्दू घर में पैदा होकर भी कोई दिलो-दिमाग से नहीं हिन्दू हो जाता। बहुतेरे ब्राह्मणी के पेट से उत्पन्न पुजारी के पुत्र होकर भी हिन्दू नहीं विधर्मी होते हैं। यह दलील कि हिन्दू कुल में सहाय साहब पैदा हुए हैं, इसलिए हिन्दी के हिमायती और शुभचिन्तक भी हैं, बिलकुल टकही है। सहाय साहब इस जीवन में तो नहीं बदल सकते। भले ही उस जन्म में किसी हिन्दी-लेखक के घर में जन्म ग्रहण करके हिन्दी की वाक्य-रचना और वाक्य-सौन्दर्य का

परिचय वह पा सकें। इस अधेड़ उमर में यदि उनकी समझ में हिन्दी साहित्यिकों की रचनाओं की भाषा नहीं आती, तो बात ही क्या है? रानी केतकी की कहानी, इन्शाअल्ला खॉ की रचनाएँ एवं अमीर खुसरो का अध्ययन कर लेने से ही यदि कोई हिन्दी भाषा का पंडित हो जाता, तो अवश्य ही सहाय साहब भी हो जाते। न जाने किस प्रकार सहाय साहब यह कहते हैं कि “हिन्दी और उर्दू का साँचा ऐसा मिलता-जुलता है, दोनों में वाक्य-निर्माण के नियम, खूबसूरती और बदसूरती के लक्षण ऐसे मिलते-जुलते हैं कि कम-से-कम 90 हालतों में मुझसे यह कहना निरर्थक है कि मैं उर्दू का आदमी हूँ, उर्दू-कविता का सौन्दर्य समझ सकता हूँ और हिन्दी कविता में वाक्य, शैली और शब्द-प्रयोग का सौंदर्य नहीं समझ सकता। मुझे इस तरह बिरादरी से बाहर तो न कीजिए।” उनका यह कथन भ्रमपूर्ण और निराधार है। यह उन लोगों में प्रचारित अफवाह है, जो ओहदेदार हैं और हिन्दुस्तानी का चरखा चलाना चाहते हैं। यदि व्याकरण को सहाय साहब ने देखा होता और शब्दों की उत्पत्ति पर विचार किया होता, तो शायद वह ऐसा न कहते। उनके उपर्युक्त उदाहरण से तो यह बात ध्वनित होती है कि हिन्दी में भी उनकी टाँग अड़ी रहे। यदि सात-आठ सौ सफे लिखने के बाद भी सहाय साहब वैसे ही कोरे-के-कोरे हैं तब तो उनकी हालत और भी दयनीय है। इससे यही पुष्टि होती है कि वास्तव में इतने प्रयत्नों के बाद भी यदि सहाय साहब हिन्दी में न समा सके और हिन्दी को न समझ सके, तब तो वह अवश्य ही हिन्दी के लिए निर्मित ही नहीं हुए। वह उर्दू की सोहबत में ही रहे, उसकी आबोहवा में ही अपने तन को गुदगुदाते रहे।

यदि आज सूर, तुलसी, मीराँ और कबीर को यह बता दिया जाय कि आपके कायल सहाय साहब हैं, तो वे भी अपने को धन्य समझेंगे। यह सहाय साहब की बड़ी भारी कृतज्ञता है। सारा हिन्दी-संसार उनके इस भाव का ऋणी रहेगा। भाषा की परख के नाम पर हिन्दी (पचास साल से लेकर आज तक की) को सहाय साहब ने पूरी तरह अपनी कुरुचि का परिचय दिया है। वह कहते हैं कि भाषा में हिन्दीगीरी है, इसी से हिन्दी असफल है। पहले तो सहाय साहब बतावें कि आखिर कबीर की भाषा कितनी मँजी है, वाक्य कितने भरे-पूरे हैं, कितनी जँची-तुली शैली में है? कबीर ने जिस भाषा का प्रयोग किया है, उससे कहीं अच्छी संयत, प्रवाहमयी, रसमयी, पूर्ण भाषा का प्रयोग पचास साल से हिन्दी में हो रहा है। कबीर के युग की भाषा कबीर के युग की प्रचलित भाषा से कहीं पीछे थी। फिर भी कबीर महान् कवि हैं, क्योंकि उन्होंने ऊँची और अमर चीजें दी हैं। पचास साल की हिन्दी की भाषा अपनी शैली में उर्दू को मात करती है। उर्दू से शक्ति, साहस, वेग और अर्थ में हर तरह से वह कई गज आगे हैं। अच्छा होता यदि सहाय साहब हिन्दी की

पुस्तकें खरीद कर हिन्दी की भाषा की प्रगति पर अपनी राय जाहिर करते। यह मैं मानता हूँ कि साहित्य में भाषा भुलायी नहीं जा सकती, पर यह भी इसके मतलब नहीं हैं कि केवल भाषा-ही-भाषा उमड़ी रहे। इस बात को न समझ सकने की वजह से रीति-काल के कवियों में सच्चे साहित्य का समावेश न हो सका था। जिस लहजे, रवानी, ऊपरी, शोखी, नाजोअन्दाज, वजन और मुहाविरेवाली भाषा के सहाय साहब उपासक हैं, वह हिन्दी की निगाह में बहुत अच्छी नहीं समझी जाती।

सहाय साहब का यह कहना है कि वह विश्व की किसी भी भाषा को सुनकर उसके अच्छा या बुरा होने की तस्दीक कर सकते हैं, इसलिए हिन्दी भाषा की भी वह परख कर सकते हैं, उसको समझे बिना केवल उसकी ध्वनि सुनकर। मैं तो समझता हूँ कि यदि यह बात सत्य है, तो सहाय साहब को बहुत बड़ा संगीतज्ञ होना चाहिए था। उनके कान के परदे विशेषतया अधिक ग्रहण शक्तिवाले हैं। इसके लिए वह हम सबके बंधाई के पात्र हैं। किन्तु यह कहना गलत है कि हर भाषा की ध्वनि की परख, उसकी प्रगति और झंकार की परख अच्छे साहित्यिक को अवश्य होगी। परख तो कोई उसी समय कर सकता है, जबकि उस भाषा के इतिहास को कोई पहले से जानता हो और उस भाषा के स्वर और व्यंजनों से वह पूर्णतया भिन्न हो। केवल किसी अपरिचित भाषा के दो-चार बोल सुनकर उसकी परख कर लेना असंभव है। सहाय साहब का यह दावा बेजा और बेकार है। फिर सहाय साहब यह भी कहते हैं कि परख के लिए अच्छा साहित्यिक होना चाहिए। यह एक दूसरी अड़चन है। इस 'अच्छे साहित्यिक' की क्या परिभाषा है? यह सहाय साहब ने स्पष्ट नहीं किया है। उन्होंने यह मानकर ऊपर की दलील पेश की है कि वह स्वयं अच्छे साहित्यिक हैं। बहुत-से ऐसे सज्जन हैं, जो उन्हें अच्छा साहित्यिक नहीं समझते। वे केवल सहाय साहब को नौजवान विद्यार्थियों का गुरु समझते हैं। यदि अधिक आदर से कहा जाय, तो कहना होगा कि 'गुरु जी समझते हैं' इसी सिलसिले में सहाय साहब ने यह भी कहा है कि वह संस्कृत के श्लोकों पर, उनको बिला समझते हुए, सर धुनते हैं, क्योंकि उनकी ध्वनि उनके दिल की धड़कनों से मिल जाती है। उनका यह कहना भी वैसा ही है जिसे कि हृदय दर्जे का झूठ कहा जा सकता है। हाँ, अगर किसी को बिला वजह सर धुनने की आदत है, तो वह धुनेगा ही। सहाय साहब के उपर्युक्त कथन इतने अप्रासंगिक, अनुपयुक्त, जबरदस्ती टूँसे हुए और विश्लेषण-विहीन हैं कि हम कह सकते हैं कि सहाय साहब साहित्यिक नहीं हैं और चाहे वह जो कुछ हों।

“सफल उर्दू लेखकों की किताबें आज भी धड़ल्ले से बिक रही हैं। गालिब का दीवान, हाली की रचनाएँ, दाग तक की चुनी हुई गजलों का संग्रह, अकबर संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 439

की कविताएँ आज हर साल जितनी बिक रही हैं, मामूली किताबों को तो जाने दीजिए, अब से पचीस बरस पहले ही सफल से सफल हिन्दी रचना भी क्या उतनी बिक रही हैं? आधुनिक हिन्दी का सफल लेखक भी मुश्किल से 20-25 बरस जिन्दा रहता है।” यह कथन सहाय साहब का ही है। बिक्री से आप हिन्दी-उर्दू की ऊँचाई-निचाई का अन्दाजा करते हैं। न तो आपके पास हर साल छपनेवाली उर्दू की पुस्तकों की तादाद है और न आपके पास हिन्दी की छपनेवाली पुस्तकों की तादाद। न यह कोई इत्तला ही है कि कितनी पुस्तकें बिक गयीं और कितनी-कितनी बाकी रह गयी हैं। बिना आँकड़े दिये इस कथन की कोई सत्यता नहीं मानी जा सकती। यह महज एक गलत तरीका है। इसके अलावा सहाय जी का यह कहना कि हिन्दी की किताबें धड़ल्ले से नहीं बिकतीं, उनके अज्ञान का ही सूचक है। हिन्दी की पुस्तकें जब खूब छपती हैं, तब बिकती भी खूब हैं। बिना माँग के कोई चीज छापी ही न जायगी, इसलिए सहाय साहब यह न कहते तो अच्छा होता। उर्दू की पुस्तकें धड़ल्ले से बिकती हैं, यह भी गलत है। मैंने तो आज तक न देखा कि जहाँ मैं जाऊँ उर्दू की पुस्तकें नजर आयें। मेरे बहुत-से उर्दू के शैकीन मित्र हैं। पर उनके पास उन मशहूर कवियों के दीवान तक नहीं हैं। जिन कवियों का नाम बड़े गर्व से सहाय साहब ने अपने बातचीत में लिया है। यही नहीं, सहाय साहब ने तो जो ना-जानकारी यह कहकर दिखायी है कि—“अब से बीस बरस पहले तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० रामचरित्र उपाध्याय, श्री कमताप्रसाद गुरु, पं० नाथूराम शंकर शर्मा, पं० श्रीधर पाठक, श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री जयशंकर प्रसाद की प्रथम काल की रचनाएँ, श्री सुमित्रानन्दन पन्त की पहली रचनाएँ किस धूम से बिकती थीं। घर-घर इनकी चर्चा थी। लेकिन आज क्या वह मर न गयीं या केवल पुस्तकालयों की शोभा नहीं बढ़ा रही हैं?” शायद ही किसी ने आज तक दिखायी होगी। इन कवियों में से एकाध को जाने दीजिए, शेष को सब लोग, देहातों, गाँवों, घरों, स्कूलों में पढ़-पढ़कर अपना जीवन धन्य मानते हैं। शायद, सहाय साहब अपने एकान्तवास की राय ही प्रकट कर रहे हैं। भारतेन्दु के नाटक ही नहीं, कवित्त भी जगह-जगह दोहराये जाते हैं। जिगर और अनीस की पुनरावृत्ति नहीं होती। द्विवेदी जी इस समय भी साहित्य के गद्य-लेखक को अपनी प्रतिभा से जाग्रत करते हैं। मिश्र जी के लेख पढ़कर आज भी हिन्दी का गौरव बढ़ता है। पंडित श्रीधर पाठक की कविताएँ बच्चों की जबान पर हैं। गुप्त जी का 'जयद्रथ वध' खण्डकाव्यों का सिरमौर है ही। प्रसाद का 'आँसू' अब भी दिल को करुणार्द्र कर देता है और अरसे तक करता रहेगा। पन्त की पहली रचनाएँ आज भी बिक रही हैं। उनकी कविताओं के नये संस्करण निकले हैं और बिके 440 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

हैं। न जाने कहाँ से सहाय साहब को यह भासित हो गया कि गुप्त जी वगैरह इस युग में पढ़े ही नहीं जाते। बेहतर होता कि सहाय किसी देहात की लाइब्रेरी में जाकर उसकी पुस्तकों की सूची देख लेते और पुस्तकों के पढ़े जाने का पूरा-पूरा अन्दाजा लगा लेते। ऐसा करने पर उन्हें ज्ञात हो जायगा कि वह किस हद तक गलती कर रहे हैं? मालूम होता है कि खुद आँख उठाकर वह दुनिया को देखना नहीं चाहते। अपने कमरे में बन्द रहकर ही मनचाहा सोच-विचार लेना सहाय साहब खूब सीख गये हैं।

हिन्दी में लिखे जानेवाले आजकल के गीतों के बारे में भी सहाय साहब अपनी राय रखते हैं। उनकी यह राय भी वैसी ही है, जैसी अक्सर लोग सुनकर, बिना छानबीन किये, बना लिया करते हैं। इसलिए राय दी गयी है कि राय देनी चाहिए वरना सहाय साहब का लेख अधूरा रह जायगा और वह हिन्दी से पूरी तरह परिचित न कहे जायेंगे। सहाय साहब कहते हैं—“कभी कविता की ध्वनि भदी होती है, कभी मीठी होती है, तो सीधे-सादे साफ और स्पष्ट वाक्य उसमें नहीं होते, व्याकरण की गलतियाँ होती हैं, शब्द छूट जाते हैं, उनकी तरतीब गड़बड़ होती है, वाक्य टूटे-फूटे, टेढ़े-मेढ़े और अपूर्ण या बहके-बहके हुए होते हैं।” अच्छा होता यदि सहाय साहब यहाँ पर दो-एक उदाहरण पेश करते और सबूत देते। उन्होंने यही काफी समझा और आगे नहीं बढ़े। मैं तो यह पढ़कर दंग रह गया। आखिर मैं भी तो साहित्य के गीतों को पढ़ा ही करता हूँ। मुझे इन सब बेहदगियों का भास क्यों नहीं हुआ? या तो मैं अक्ल का अन्धा हूँ या सहाय साहब। पर विश्वास नहीं होता कि मैं अन्धा हूँ। मैं एक नहीं, सैकड़ों गीत उद्धृत कर सकता हूँ। पर सहाय साहब ऐसा नहीं कर सकते। यदि हरेक लेखक के दो-तीन गीत उन्होंने पेश भी कर दिये, तो इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि हिन्दी-साहित्य की गति-प्रगति सर्वथा हेय है और इन विशेषताओं की भूखी है। मालूम होता है कि उनकी यह धारणा निर्मूल और भ्रान्तिमूलक है। जिसे वह इतना तुच्छ और हीन समझते हैं, उसे हिन्दी का गर्व कहा जा सकता है। इतने सुन्दर-सुन्दर भावपूर्ण गीत लिखे जा चुके हैं, जिनकी टक्कर का शायद ही उर्दू में कोई गीत मिल सके। हफीज के गीत सूरदास के गीतों की या अन्य भक्त-कवियों के गीतों की केवल नकल मात्र हैं, जो एक गाँव से दूसरे गाँव एकतारा या मँजीरा बजाते हुए, दरवाजे-दरवाजे भीख माँगा करते हैं। सहाय साहब ने इन गीतों का कोई जिक्र नहीं किया। यहाँ पर वह एकदम खामोशी, जानबूझ कर या भूल से, साध गये हैं। इस चुप्पी के अर्थ यह भी हो सकते हैं कि उर्दू में इन गीतों की परम्परा नहीं रही, इसलिए उर्दू में संगीत भरे गीत नहीं मिलते। यह भी हो सकता है कि वह जल-भुनकर ईर्ष्या से यह कह पड़े हों। चाहे जो हो, सहाय साहब यदि गीतों के खरे महत्व को परखना चाहते हैं, तो प्रसाद के नाटकों

के गीतों को देखें, निराला के गीतों की ध्वनि गाकर समझें, पन्त की गीत-रचनाएँ पढ़ें और महादेवी के गायन कान खोलकर सुनें। उनका भ्रम टूट जायगा। गजल लिखकर गा लेना या कोकिल कण्ठों से गवा लेने में उर्दू चाहे जितनी बढ़ गयी हो, पर उर्दू में गीत-प्रणाली का पूरा-पूरा अभाव है। इसीसे सहाय साहब इस प्रथा को हिन्दी की मुसीबत समझ बैठते हैं। मैं यह मानता हूँ कि आजकल छोटे-छोटे कवि गीत रचते तो हैं, किन्तु वह भाषा की दृष्टि से पूरे नहीं उतरते। ठीक है, किन्तु परख करने के लिए यह आवश्यक एवं अनिवार्य है कि हिन्दी के प्रमुख कवियों के गीतों को लिया जाय और फिर हिन्दी-साहित्य की संगीत-प्रणाली पर कुछ कहा जाय। मुझे गर्व और हर्ष है कि यदि सहाय साहब इतना कष्ट उठायेंगे, तो तुरन्त ही उन्हें अपनी भूल ज्ञात हो जायगी। यदि साहित्यिक उच्छृङ्खलता कोई हो सकती है, तो वह सहाय साहब ने की है और इसके दोषी वे हैं।

अपने लेख में जिस चतुरता का सहाय साहब ने परिचय दिया है, वह उनकी निजी भी है और उनकी जाति की भी है। किस मिठास के साथ लेख शुरू करके उन्होंने हिन्दी का गला घोटने का प्रयत्न किया है, यह देखते ही बनता है। हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है। हिन्दी के महान् कवि सूर, तुलसी, कबीर आदि के सम्मुख वह माथा टेकते हैं। इस तरह के वाक्यों का प्रयोग स्थान-स्थान पर करके उन्होंने जो हिन्दी की सराहना की, वह उसी तरह है, जैसाकि किसी बलि के बकरे की हत्या के पेशतर उसको बढ़िया खाना दिया जाये। किन्तु सहाय साहब को मालूम होना चाहिए कि चतुरता विश्व में अपरिमित है और जब ईश्वर ने उन्हें दी थी, तब शायद कम ही बँटी थी। उसके बाद उसका वितरण कहीं अधिक मात्रा में हुआ है। हमारी भी आँखें हैं, हम भी दुनिया देख चुके हैं, ध्वनि परखते हैं, कान में केवल मुंशियाना तरीके से कलम नहीं खोंसते और उड़ती चिड़िया उसी तरह हम भी पहचानते हैं, जिस तरह अपने दरजे के विद्यार्थी की शकल देखकर ही सहाय साहब बहुत कुछ समझ लेने का दम भरते हैं। अपने लेख में सहाय साहब ने मुख्यतः हिन्दी-उर्दू की रगड़ लगायी है। हिन्दी कुछ नहीं, किन्तु इसपर भी उसका भविष्य उज्ज्वल है, यह व्यंग्य तो सुनिये। “होनहार बिरवान के होत चीकने पात” का ख्याल शायद वह भूल गये थे। उर्दू के चन्द महान् नाम गिनाकर, रोब-दाब से काम लेकर, उनकी तारीफ में बेमतलब की शब्दावली का प्रयोग सहाय साहब ने अपने लेख में किया है। हिन्दी को संस्कृत नवीन स्फूर्ति दे ही नहीं सकती। अरबी और फारसी आज भी उर्दू को नवीन स्फूर्ति दे सकती है। हिन्दी का स्रोत सूख गया है। उर्दू का स्रोत नयी जिन्दगी और नयी रोशनी से जगमगा रहा है। सहाय साहब ने यहाँ पर हिन्दी के ऊपर आरोप लगाकर बहुत छिपकर यह कहना चाहा है कि

हिन्दी में जो संस्कृत शब्दावली का प्रयोग हो रहा है, वह बिल्कुल बुरा है। उनकी यह आवाज चाहे जिस स्तर से उठी हो, हिन्दीवालों को उसे पहचानने में कोई दिक्कत नहीं होगी।

फिराक साहब का विचित्र हाल है। हिन्दी के साहित्यकारों को वह इतना बुद्धिहीन समझते हैं कि वह मामूली-से-मामूली रचना को भी उच्चकोटि की रचना समझने लगते हैं। यह कहाँ तक सही है, इसकी परख स्वयं पाठक कर लें। हिन्दीवाले तो इतने चुप रहते हैं कि उनकी आवाज तक नहीं सुनायी देती। दूर क्यों जायँ, स्वयं फिराक साहब को ही ले लें। बातें बनाने और बघारने का यदि कम्पटीशन किया जाय, तो यह सहज ही कहा जा सकता है कि फिराक साहब बाजी मार ले जायेंगे। हिन्दी वाले तो चुपचाप अपना काम करना जानते हैं, भड़भड़ाना नहीं। बड़प्पन का दम भरते हुए भी स्कूल, कॉलेज के विद्यार्थियों वाली व्यंग्य-प्रणाली का जिस तरह से सहाय साहब ने सहारा लिया है, वह देखते ही बनता है। सहाय साहब चाहे जितना बड़ा बनें, लेकिन उनकी शैली स्वयं पुकार-पुकार कर कह रही है कि मैं निर्बल हूँ, केवल नुमायशी और दिखावे की चीज हूँ, क्योंकि मेरा कोई आधार नहीं, विश्वास नहीं है।

(अभ्युदय, प्रयाग, 22 जून, 1942 से उद्धृत)

फिराक साहब का पत्र¹

‘तरुण’ में प्रकाशित अपने लेख तथा ‘अभ्युदय’ में प्रकाशित उस लेख की पृष्ठभूमि के विवरण के सम्बन्ध में फिराक साहब का एक संक्षिप्त-सा, पर सुन्दर पत्र हमें प्राप्त हुआ। आप लिखते हैं—‘15 जून का अभ्युदय आपका भेजा हुआ मिला। मेरे ‘तरुण’ में प्रकाशित लेख का ‘जवाब’ लिखनेवाले ने ‘अच्छा’ लिखा है।’

फिराक साहब का यह पत्र बहुत ही माकूल है। ‘तरुण’ में प्रकाशित उनका लेख लाजवाब था—मतलब यह कि अपना जवाब यह आप था। अधिक सही शब्दों में यह कि उसमें ऐसी कोई बात नहीं थी, जिसे जवाब देने योग्य समझा जाय। इस तरह के लेखों के सामने आने पर या तो उन्हें नजरन्दाज कर दिया जाता है या फिर उनकी निरर्थकता को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया जाता है। फिराक साहब जैसे जिम्मेदार पद को सुशोभित करनेवाले व्यक्ति के स्थान पर यदि किसी और ने इस तरह की बातें की होतीं, तो कोई ध्यान भी न देता। आशा है कि फिराक साहब व्यर्थ

1. इस टिप्पण के साथ यह लेख छपा था।

ही अपने को हिन्दी का पारखी सिद्ध करने के व्यर्थ प्रयत्नों में न उलझाकर उर्दू के क्षेत्र में ही अपनी उपयोगिता सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे।

नरोत्तम प्रसाद नागर

(अभ्युदय, प्रयाग, 22 जून, 1942 का अंक)

P

उपन्यास अंश

पतिया

जमुना नदी के किनारे लखनपुर गाँव में सिंहवाहिनी देवी का मेला हर साल लगता है। दस-पाँच कोस के इर्द-गिर्द के गाँव के लोग इस मेले में आते हैं, दो-तीन दिन तक ठहरते हैं और सौदा-पाती लेकर गठरी सिर पर धरे, पैदल या बैलगाड़ी में, अपने-अपने घर वापस चले जाते हैं। मेले में कपड़े, गहने और बिसातखाने की दुकानों की भरमार रहती है। बरतन, मिठाई, चूड़ियों वगैरह की दुकानें भी खूब सजती हैं। बिक्री भी खूब होती है।

मेला जमुना के कगार के ऊपर लगता है। पेड़ों की छाया काफी रहती है। पानी की तकलीफ नहीं होती। सिंहवाहिनी देवी मन्दिर बहुत अच्छा नहीं बना है—किसी कुशल कारीगर ने इसका निर्माण नहीं किया है। इधर-उधर के राजगीरों ने ईंट-चूना के मेल से इसे बना लिया है। देवी की शक्ति उपासकों को खींच ही लाती है। किसी प्रकार की बनावटी सुन्दरता की आवश्यकता नहीं पड़ती।

देवी बहुत ही सच्चा परचा देती हैं। सूनी कोखों को भरती हैं, रूठे जोड़ों को मिलाती हैं, शराबी पतियों को ठीक करती हैं, सौतिनों का झोंटा पकड़ कर खींचती हैं, क्रूर पतियों से पीछा छुड़ाती हैं, गरज यह कि सभी की इच्छा पूरी करती हैं। पतिया की माँ ने भी मानता मानी थी कि उसका सुहाग बना रहे, अपनी ससुराल का सुख वह देखे।

सवरे का समय था। पूरन, उसकी माँ और पतिया तीनों जमुना में डुबकी लगा, लोटों में जल भर, देवी के मन्दिर की ओर जा रहे थे। तीनों ने भक्तिभाव से जल चढ़ा दिया, और थोड़ी दूर हटकर वहीं बैठ गये।

पतिया को बड़ा अचरज हुआ जब उसने देवी पर बकरे चढ़ते देखे। ओसारे में खून ही खून। माँ ने उसमें अपनी उँगली भिगोकर उसकी माँग भरनी चाही। वह इसे सहन न कर सकी। माँ का हाथ झँझोड़ कर वह उठ खड़ी हुई। उसके मन में हो रहा था कि वह यहाँ से भाग कर कहीं दूर चली जाय।

माँ के हृदय में एक खटका-सा हुआ, पर उसने कहा कुछ नहीं। आसमान और धरती पर धूप पूरी तरह फैल गई थी। मेले में चहल-पहल अच्छी तरह जग उठी। दूकानदारों ने गोलक सँभाले और सौदा बेचने लगे। ग्राहक पूरे मेले में चक्कर काटने लगे। छोटे-छोटे बच्चे खुश होकर खिलौनेवालों की दुकानों के सामने जमा हो गये और तरह-तरह के रङ्गीन खिलौने को देखने लगे।

पूरन, पतिया और उसकी माँ भी मेला देखने चले। दर्शक इस तरफ से उस तरफ आ-जा रहे थे। इस समय कुछ खरीदना तो था नहीं, सिर्फ देkhना-ही-देखना था। इसी से वे जहाँ खड़े हो जाते, खड़े ही रह जाते। जहाँ बैठ जाते, बैठे ही रह जाते। पूरी निश्चिन्तता थी। जल्दी किसी बात की न थी। एक जगह बैठकर तीनों ने गुड़ की जलेबी लेकर खायी। पानी पिया। फिर मेले के उस तरफ वे तीनों चले, जहाँ चक्करदार, ऊपर-नीचे, जाने-आनेवाले झूलने गड़े हुए थे। पूरन सवार हुआ। उसकी माँ भी झूले में बैठ गयी। पर पतिया ने इन्कार कर दिया। वह खड़ी-खड़ी देखती रही।

पतिया को कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। रह-रहकर उसकी आँखों के सामने सिंहवाहिनी देवी का दृश्य घूम जाता था। चारों ओर खून ही खून! और माँ का उसे उसकी माँग में भरना—उसे यदि पहले से पता होता तो वह कभी मेले में न आती।

झूलों के पास से चलकर तीनों अपने डेरे की तरफ चले। पतिया ने घुटने न टेक दिये होते तो अभी और घूमते। डेरे पर पहुँच कर रोटी बनी। कुछ देर आराम करने के बाद साँझ को फिर मेला घूमने चले। इस वक्त तमाशों की धूम थी। कोई जादू करता था, कोई हाथ की सफाई दिखाता था। ताशवाले अपना खेल दिखा रहे थे। तीनों यह सब देखते-देखते आखिर उस जगह पहुँचे, जहाँ एक पंडाल के नीचे दो-तीन औरतों का बारी-बार से नाच हो रहा था। तबला, मंजीरा और सारंगी बज रही थी। आदमियों की भीड़ ठसाठस जमा थी। वाह-वाह का स्वर ऊँचा हो रहा था। यह सब देखकर पूरन की आँखों में चमक भर गयी। एक लट्ठे से टिककर नाच देखने में वह अपने को भूल गया। माँ बेचारी केवल साज की आवाज सुनती रही। पतिया के हृदय में भी, पहली बार, कौतुक ने घर किया। कुछ देर उसने नाच देखा, फिर उसकी आँखें टिक गयीं पूरन पर—लट्ठे से टिका जो अपनी सुध-बुध भूल गया था!

रात को मेला देखकर पतिया जब लौटी तो बहुत देर तक उसे नींद नहीं आयी। पूरन और उसकी माँ बातें करते-करते सो गए। पर पतिया के जी को चैन नहीं पड़ रही थी। करवटें बदलते-बदलते, रात के तीसरे पहर, उसकी आँखें झपकीं। पर उसका मन अब भी जैसे मेले में ही भटक रहा था। सपने में वह देख रही थी—लट्ठे से टिका पूरन, गुड़िया की तरह सजी-सजाई पतुरियों का नाच, लोगों का पैसे फेंकना और इनका, खीसें निपोरते हुए, झुककर उन पैसों को उठाना, फिर सिंहवाहिनी देवी—चारों ओर खून ही खून! और माँ का उसमें उँगली भिगो कर....5

एक चीख के साथ पतिया की आँखें खुल गयीं। आवाज सुनकर माँ ने पूछा,

“क्या है पतिया?”

“कुछ नहीं माँ,” पतिया ने कहा—“सपना देख रही थी।”

सोने का आदेश देकर माँ करवटें बदलने लगी। बोली कुछ नहीं। पतिया के हृदय में डर समा गया था। प्रयत्न करने पर भी वह उसे दूर नहीं कर सकी। अँधेरे में धरती पर पड़े-पड़े वह ऊब चली—इससे तो यह कहीं अच्छा था कि रात-भर मेले में ही घूमती रहती। बड़ी बेचैनी से वह सुबह होने की प्रतीक्षा करने लगी।

दूसरे दिन अँधेरे मुँह पतिया ने सबको जगा दिया। माँ बड़बड़ाती हुई उठ बैठी।

पतिया ने कहा : “मेला देखने के लिए यहाँ आई हो। चलो उठो, आज दिन भर घूमेंगे।”

पतिया की बात सुनकर माँ को बड़ा अचरज हुआ। उसकी समझ में न आया कि यह कैसी लड़की है। कहाँ तो मेले से दूर भागने को कहती थी, और कहाँ अब खुद ही उतावली हो रही है। माँ के हृदय में कुछ द्वारस बँधा।

मेले में उस समय तक अधिक भीड़ नहीं हुई थी। तीनों निर्द्वन्द्व होकर दुकान-दुकान फिरने लगे। पूरन ने कुछ पहनने के कपड़े खरीदे। माँ ने चूड़ियाँ, सेंदुर, कंधी और कुछ चीजें खरीदीं। पतिया से माँ ने कुछ खरीदने को कहा। उसने कहा :

“रहने दो, मुझे यह सब कुछ नहीं चाहिए।”

खिलौनों की दुकान के सामने पहुँचने पर माँ ने पतिया से फिर कहा :

“कुछ खिलौने ही खरीद ले। तू तो न जाने कैसी है?”

“कोई अच्छा खिलौना मिले तब तो खरीदूँ। मुझे राम-सीता की जोड़ी अच्छी नहीं लगती जो उसे खरीद लूँ, और न यह मुँछें ऐंठे सिपाही ही जो बन्दूक कंधे पर रखे है। मैं यह नहीं खरीदती।”

दुकानदार आगे बढ़कर बोला :

“तू इधर आ! देख, क्या खरीदेगी?”

पतिया जरा अन्दर बढ़कर खिलौनों को देखने और छँटने लगी। दस खिलौनों के बीच एक गुजरिया मुँह खोले चरखा कात रही थी। दीन-दुनिया से बेखबर सूत कातने में लगी थी—मानो अपनी तकदीर का तार निकाल रही हो।

संकेत पाकर दुकानदार ने गुजरिया उठाकर पतिया को दे दी। पतिया ने तिनक कर कहा :

“क्या एक ही खिलौना दोगे? मैं दूसरा एक और खरीदूँगी। जरा देख लेने दो। बताती हूँ।”

इधर-उधर आँखें घुमाने के बाद एक खिलौने पर उसकी नजर टिक गयी। वह बोली :

“दुकानदार, वह दो।”

दुकानदार ने समझा कि सूत कातती औरत खरीदी है तो दूसरा झण्डा लिये वीर जवाहर खरीदने को कहती है। इसी से हाथ में झंडा संभाले मिट्टी का वीर जवाहर उठा कर देने लगा।

यह देख पतिया गुर्गा उठी :

“यह नहीं। मैं उसे कहती हूँ जो तिरछी टोपी सिर पर लगाए सिगरेट पी रहा है। बड़ा अच्छा लगता है वह। इसे जरूर खरीदूँगी।”

पतिया की पसन्द पर माँ मन-ही-मन कुढ़ रही थी। पूरन भी खीझ-सा उठा था। पर उसने कुछ कहा नहीं। चुपचाप दोनों खिलौनों के दाम उसने दे दिये और तीनों मेले की दूसरी तरफ बढ़े।

कई रोज बाद पतिया के मुँह पर कुछ खुशी दिखायी पड़ी थी। पूरन और उसकी माँ ने समझा कि चलो, मेला आना सकारात्मक हुआ। पतिया को भी मेले में अब और लेना नहीं रह गया था। उसने उकता कर कहा :

“माँ, अब चलोगी न? पूरन भैया, चलो, अब घर लौट चलें। शाम ही तो है। दो-तीन घण्टे में घर पहुँच जायेंगे।”

माँ ने कहा :

“पूरन, तू कुछ खा-पी ले, और पतिया तू भी। तब फिर लौट चलें। कोई और काम तो है नहीं। तेरे दादा राह देखते होंगे।”

तीनों जिस राह हो कर मेले में आये थे, उसी से घर लौट गये। पूरन के सिर पर गठरी, माँ के सिर पर गठरी, और पतिया के दोनों हाथों में दो खिलौने थे।

मेले से घर पहुँच कर दूसरे ही दिन पतिया ने अपनी सहेलियों को अपने घर बुलाया। मँझली और बड़ी में से सिर्फ मँझली ही आयी। बड़ी अपने पति के यहाँ दो रोज पहले ही चली गई थी। पतिया से उसकी भेंट न हो सकी, इसका उसे रंज था, मँझली ने बताया।

दोपहर के वक्त घर की अँगनाई में पतिया अपने खिलौने को लेकर बैठी। मँझली खिलौनों को देख-देख कर खूब हँस रही थी।

“मुझे मेले में बहुत बुरा लग रहा था। वहाँ कुछ अच्छा नहीं था। और तुम्हारी सिंहवाहिनी देवी? ओसारे में खून ही खून!”

“तुझे न मेला अच्छा लगे, न ससुराल अच्छा लगे। न जाने कैसी है?”
मँझली ने कहा।

अच्छा क्यों नहीं लगता। ले, इसे देख, यह सूत कातती औरत कितनी भली है। अपने काम में लगी रहती है। न दुनिया की फिकर, न किसी की। और जरा इसे तो देख, कैसा छैलचिकनिया खड़ा है। तुझे पसन्द है न?” पतिया ने पूछा।

“मुझे क्यों न पसन्द आयेगा। मेरे ‘वह’ ठीक ऐसे ही हैं जैसे ये खड़ा है!”
ठिठोली से मँझली ने कहा और पतिया का मुँख देखने लगी।

बात कुछ भेद-भरी थी। सुनकर पतिया कुछ सोच में पड़ गयी। फिर बोली :—

“तेरे न सही, पर मेरे तो हैं। इसी से खरीद लाई हूँ कि तुझे भी दिखा दूँ।
बड़े सुन्दर हैं न!”

“पर इसके साथ उस औरत का क्या मेल? तूने भी बेमेल सौदा खरीदा?” मँझली ने कहा।

“मेल-बेमेल मैं नहीं जानती। एक ही दूकान से तो मैं इन्हें लाई हूँ। तू बड़ी सयानी निकली। जानती है, मैं इन दोनों का क्या करूँगी? देख, इस औरत को तो उस आले में और इस मर्दुवे को चूल्हे के ऊपर वाले ताख पर रख दूँगी। इसके मुँह पर खूब धुआँ लगेगा। बड़ा छैलचिकनिया बना है!”

“बड़ी नाराज है तू इससे। तेरा इसने क्या बिगाड़ा है? बेचारा चुपचाप खड़ा अपनी मूँछें मरोड़ रहा है। अगर हाथ-पाँव हिलाता होता, इसमें कुछ जान होती तो तेरी चमड़ी उधेड़कर रख देता, और तुझे गरम तबे पर बिठाकर मछली की तरह भूनता। समझी, बहुत बातें न किया कर!”

“बड़ा आया चमड़ी उधेड़नेवाला। अभी पटक दूँ तो चूर-चूर हो जाये!”
पतिया ने कहा।

मँझली कुछ कहने जा रही थी कि पतिया के बाप ने तमाखू माँगी। पतिया चिलम भरने चली गयी। उसके जाने के बाद माँ आ गयी। पतिया की माँ और मँझली में बातें होने लगीं।

“माई, तुम सब मेले हो आयीं। मुझे अपने साथ न लिवा ले गयीं—क्यों?”

“हाँ बिटिया, हम मेले हो आयीं। तू चली नहीं। मेला बड़ा अच्छा था।”

“पतिया तो कहती है, मेला बड़ा खराब था।”

“अरे, वह तो निरी पागल है। उसकी भली चलाई। उसे दुनिया में कुछ अच्छा भी लगता है।”

“पागल नहीं है, बातें तो ऐसी गढ़ती है, जैसे चालीस से कम की न हो!”

“उसकी खरीददारी नहीं देखी! दूकानदार तक हँसता था। सारे मेले में इन्हीं दो खिलौनों को पसन्द करके उसने मोल लिया।”

“माई, मैं तो समझी थी कि पतिया ने इस मर्दुवे को तुम्हारे मन से खरीदा है, और औरत अपने मन से। तभी तो इसे पटक कर चूर-चूर कर देने को कहती थी।”

“मैं तो बाहर खड़ी रही। दूकान के भीतर तक नहीं गयी। उसी ने दोनों खरीदे हैं।”

“अच्छा...!”

इतने में पतिया भी आ गयी। माँ ने कहा :

“क्यों, तू इसे पटक देना चाहती है क्या?”

“हाँ..नहीं।”

“माँ से डरती है, इसी से हाँ-नहीं दोनों कहती है।”

“मेरी बिटिया के कुछ अक्कल नहीं है। बड़ी सीधी है।” माँ ने कहा।

“नहीं माई, समझ तो इसमें बहुत है। सूत कातती औरत इसे बहुत पसंद है। सो उसे सम्हाल कर रखोगी आले में, और यह जो मर्दुवा है न, उसे चूल्हे के ऊपर, धुआँदानी में रखने को कहती है।”

“यही तो इसमें पागलपन है,” माँ ने कहा, “दोनों खिलौनों को एक ताख पर सजा कर रखना चाहिये। लेकिन यह है कि....”

“मैं तो रख दूँगी। पर यह औरत वहाँ रहना चाहती है?”

“तुझे क्या मालूम? रख कर देख। यह वहाँ से टस-से-मस न होगी।”

“वह नहीं रहने कहती। कहती है, मुझे मेले भेज दो। मैं यहाँ न रहूँगी।”

“मैं बहरी तो हूँ नहीं। मुझे तो कुछ सुनाई नहीं देता। बिटिया, देखती है न पतिया की बातें।” मँझली की ओर मुँह करते हुए माँ ने कहा।

“यह देखो माँ, मैंने तो दोनों को एक जगह रख दिया था, लेकिन यह दौड़ कर मेरे पास चली आयी।”

“चली कहाँ आयी—तू ही तो इसे उठा लायी है!”

“क्या करती? मुझसे गिड़गिड़ाने लगी। मैं उठा लायी।”

“माई इससे पूछो तो भला कि वह बेचारा वहाँ अकेला क्या करेगा?”

मँझली ने कहा।

“वह जब तक जी में आवेगा, वहीं रहेगा और जब मन न लगेगा, तब चम्पत हो जायगा।” पतिया ने जवाब दिया।

“और यह औरत क्या करेगी? वह अकेले अपने करम को रोया करेगी?” माँ ने चिढ़कर कहा।

“नहीं माँ, बैठे-बैठे खूब सूत काता करेगी और....”

पतिया की यह बात सुनकर मँझली हँस पड़ी। पतिया को यह बहुत बुरा लगा। फिर एकाएक छैलचिकनिया को मँझली के मुँह के आगे कर कहने लगी :

“ले, इसे तू अपने घर ले जा। तेरी हँसी की यह खूब कद्र करेगा!”

पतिया की बातें सुन माँ का हृदय धक-धक कर रहा था।

P

यात्रा-वृत्तांत-अंश

बस्ती खिले गुलाबों की¹

गत 11 मार्च को पालम एयरपोर्ट से लगभग 9-15 बजे, सबेरे मैं अपने अन्य साथियों के साथ, एरोप्लेन से, सोवियत संघ की राजधानी मास्को के लिए उड़ा। पहली हवाई-यात्रा थी इसलिए एक हल्की-सी परेशानी और घबराहट महसूस कर रहा था कि ऐसा न हो कि कोई दुर्घटना हो जाय और मैं फिर अपनी भारत भूमि को न लौट सकूँ। लेकिन वर्षों की मनोकामना पूरी हो रही थी, इसलिए मेरे अन्दर उमंग और उत्साह उछाल ले रहा था और उस उछाल में शंका की एक हल्की-सी छाया झलमला जाती थी। हवाई जहाज एक बड़ी लम्बी-सी मछली की तरह था जिसके पेट के भीतर हम और दूसरे यात्री बैठ गये थे। इस पेट में एक तरफ तीन आराम कुर्सियों की पंक्तियाँ, आगे-पीछे, लम्बान में लगी थीं। बीच में एक काफी चौड़ी गैलरी थी, जिसमें लोग आ-जा सकते थे और जिसमें यान की परचारिकाएँ ट्राली में खाने-पीने का सामान रखकर ले आतीं और वितरण करने के बाद वापस चली जाती थीं। इस गैलरी की दूसरी बगल में आराम कुर्सियों की वैसी ही आगे-पीछे दो-दो की पंक्तियाँ थीं। हम लोगों के बक्से वहाँ पहले ही पहुँचाकर एक प्रकोष्ठ में अलग आगे पीछे रख दिए गये थे। हम लोगों में से लगभग हर एक के पास अपना-अपना ब्रीफकेस व किसी-किसी के पास एक-एक हैण्डबैग भी था। यान के अन्दर का वातावरण शान्त और प्रिय था। न कोई हल्ला था, न कोई हलचल थी, लोग अपनी-अपनी जगह आराम से बैठे थे। यात्रियों में औरतें भी थीं, बच्चे भी थे और पुरुष भी थे। दोनों तरफ की कुर्सियों के ऊपर, यान की छत से कुछ नीचे, सामान रखने के लिए टाँडे बनी थीं और ठीक कुर्सियों के ऊपर, यान की छत में पेंच लगे हुए थे जिन्हें घुमा देने से सीटों पर ठण्डी हवा आने लगती थी और बन्द कर देने से रुक जाती थी। हर बगलवाली सीट के पास ही दोनों तरफ गोलाकार शीशे की पारदर्शी खिड़कियाँ लगी थीं, जिनसे यात्रीगण बाहर का दृश्य बराबर देखते रह सकते थे। हर खिड़की के पास ही एक हल्के नीले रंग का छोटा पर्दा लगा था जिसे खिसका देने पर खिड़की का शीशा उसी रंग से रँगा हुआ दिखायी देने लगता था। हर एक कुर्सी में एक-एक बेल्ट लगी हुई थी जिसे, उड़ने से पूर्व और उतरने के पहले, यात्री को अपनी कमर से बाँध लेना पड़ता था। उड़ने से पहले यान-परचारिका एक ट्रे में लेमन-ड्राप्स और टॉफी लाती थी और हर-एक यात्री को देती

1. सन् 1974 की रूस-यात्रा का वृत्तांत

थी जिसे उसे खाना पड़ता था, ताकि उड़ने और उतरने के बीच कोई मानसिक कष्ट न हो या कि मिचली वगैरह न आये।

यान उड़ने को हुआ तो उसका शरीर चालू हुए इंजन की धकधकाहट से हल्का-सा थरथराने लगा और हल्की-सी आवाज यान के अन्दर पहुँचने लगी और हम सब यात्रियों को वह आवाज सुनायी देने लगी, लेकिन वह ऐसी ना थी कि उसके सुनते रहने से कोई कष्ट हो या कान सुन्न हो जाएँ। मेरे साथ के किसी यात्री ने आवाज से बचने के लिए कान में न तो अपनी उँगली लगायी न रुई की कोई ठेपी। यान जहाँ खड़ा था वहीं वह कुछ देर तक धड़धड़ाता रहा और फिर उसके बाद जमीन पर उसके पहिये सरकने लगे और वह बड़ी मछली, धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगी जैसे हवा के सागर में भीतर घुसने लगी। वहाँ से इस तरह चलकर और थोड़ी दूर आकर वह मछली एक जगह फिर रुक गई और अब अधिक वेग से थरथराने लगी। यान का इंजन वेग से चालू किया गया और वह अपनी पूरी ताकत से जोर पकड़ रहा था। कुछ मिनटों के बाद यान वहाँ से आगे चला और अब उसकी गति तेज से तेज होती गयी। कुछ दूर जाकर उसके पहिए जमीन से ऊपर उठे और वह, गन्तव्य मार्ग की ओर हवा में सरसराता हुआ ऊपर उठता चला गया। मैं खिड़की के पास बैठा अचरज से भरा था। इसलिए बराबर खिड़की के बाहर का दृश्य देखता ही रहा। दिल्ली नीचे दूर होती जा रही थी, बड़ी से छोटी होती जा रही थी और फिर थोड़ी देर में यान की ऊँचाई पा लेने पर गायब भी हो गयी।

मुझे अपना गाँव याद आया, अपने पुरजन व परिजन याद आये। मेरा बाँदा मुझे याद आया। लड़कपन में लढ़ी पर की हुई यात्राएँ याद आयीं। इक्का, रिकशा, ताँगा और मोटर की मेरी छोटी-बड़ी यात्राएँ और रेल की लम्बी यात्राएँ भी दिमाग में कौंध गयीं। यह सब शायद इसलिए हुआ, क्योंकि इन्हीं सवारियों से मेरा जीवन जुड़ा हुआ था और मैं इन्हें छोड़कर एक बड़े वेगवान वायुयान पर चढ़ा दूर देश की यात्रा पर जा रहा था, जहाँ मेरा कोई स्वजन नहीं था, मेरा कोई मित्र नहीं था और हो सकता है कि जहाँ मैं अकेला महसूस करता। इसके बावजूद भी जब यान बादलों की परत भेदकर उनसे ऊपर उठ गया और धरती का धरातल पूर्णतया लोप हो गया और यान के दोनों तरफ ऊपर और नीचे भी आकाश और हवा ही रह गयी, तो मुझे यह दृश्य देखने में आनन्द आने लगा मैंने देखा लगातार बराबर तरह-तरह की आकृतियों के बादल फैले-बिखरे, बैठे, खड़े इकट्ठा हैं और उनका सिलसिला अनन्त और अछोर है। उन बादलों की आकृतियाँ बहुत कुछ कभी-कभी क्या ज्यादातर ही बूढ़े आदमियों की व जवानों की व औरतों-बच्चों की लगती थीं वे कहीं सभा में बैठे सामूहिक संलाप में संलग्न मिले तो कहीं, लेटे और पसरे, एक 458 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

दूसरे से आलिंगित और आलिप्त मिले। कोई पगड़ी बाँधे तो कोई शरीर पर लम्बा चोगा पादरियों जैसी पहने था। औरतें, तरह-तरह के केशविन्यास किए हुए, मुलायम, स्निग्ध बादलों के ही खुले और अधखुले वस्त्र पहने थीं। कहीं-कहीं तो ऐसा भी लगा कि दूध के समुद्र में आर-पार मलाई जम गयी है और कहीं-कहीं ऐसा भी लगा कि धुनी हुई मुलायम रुई के बड़े-बड़े ढेर ज्यामितिक ढंग से, आप-ही आप इकट्ठा हो गये हैं। मेरे कवि मन को यह सब बहुत भला लगा और मैं बराबर इससे प्रभावित होता रहा। मेरी कल्पना काम करती रही और मैं बादलों के देश में निःसंकोच बिहार करता रहा। मुझे यह भूल गया कि मैं यान में हूँ और यान से बाहर नहीं हूँ। मैं यह महसूस करता रहा कि मैं उनके पास पहुँच गया हूँ और मैं उन्हीं के देश का सौन्दर्य अपनी इन्द्रियों से आत्मसात कर रहा हूँ। मुझे कालिदास याद आये, निराला और पन्त याद आये। शेली भी याद आये, उनकी अमर रचनाएँ याद आयीं। लेकिन मुझे ऐसा लगा कि जैसे इन कवियों ने भी ऐसे दृश्य नहीं देखे, जैसे दृश्य मैंने देखे हैं। मुझे आज तक कोई ऐसी कविता नहीं मिली जिसमें कवि स्वयं बादलों के परिवार का सदस्य होकर उन्हीं के बीच जी रहा हो। मेरी अनुभूतियाँ नितान्त भिन्न थीं। मैं बादलों का कुटुम्बी हो गया था, बादलों की हर एक भंगिमा को देख रहा था और वह क्या कर रहे हैं या कि उनका मनोजगत कैसा है? यह सब जान रहा था और इस सबसे मुझे बड़ा आत्म-संतोष और सुख मिल रहा था। ऐसी थी यह बादलों के साथ जी रही जिन्दगी कि मैं कविता लिखना भूल ही गया और अब यह इच्छा हुई कि मैं बादलों की कविता लिखूँ।

यान को कहीं रुकना नहीं था। सीधे मास्को पहुँचना था। बीच-बीच में, कभी-कहीं, नीचे होकर जब वह उड़ता था तब जमीन दिखायी दे जाती थी और कई बार तो ऐसा लगा कि जमीन में हरे-हरे खेत बिछे हैं और मकान तो ऐसे दिखे कि जैसे किसी ने जमीन पर पटियाँ रख दी हैं और नदियाँ पतली, बहुत पतली, नालियों के लकीरों सी लगीं। रास्ते कमरबन्द की तरह पतले दिखे। मुझे मार्ग में कहीं कोई जानवर या आदमी नीचे चलता हुआ नहीं दिखायी दे सका।

यान में हमें यान परिचारिका ने पहले मिनरल वाटर व शर्बत दिया, जिसे हम लोगों ने बड़े चाव और रुचि से पिया।

फिर दोपहर का भोजन, ट्राली में भरकर वह लायी और उसने हर एक को दिया। हम लोगों ने अपने आगे सीट की पीठ में लगी छोटी-छोटी मेजों को अपनी तरफ खोला और उन्हीं पर अपने भोजन की ट्रेज रखीं। मैं निरामिष भोजी था। इसलिए मैंने मांस नहीं लिया। मुझे खाने में गोल डबल रोटी, ब्राउन ब्रेड के कतरे, मक्खन और पनीर, खीरा और हरी पतली सब्जी की डन्डल, नमक व मिर्च

के छोटे पैकेट्स शर्बत का छोटा गिलास, मिनरल वाटर की बोतल और पैकेटबन्द छुरी-काँटे मिले। मैंने मजे से खाया और खाते-खाते बाहर के दृश्य भी देखता रहा। मेरी बगल में नवभारत टाइम्स के न्यूज एडिटर श्री हरिदत्त शर्मा बैठे थे। वे भी निरामिष भोजी थे। उन्होंने भी यही किया। उनके बगल में श्री गुलाब रब्बानी ताबां बैठे थे। वे मांसाहारी थे उन्होंने अपना भोजन स्वाद से किया। हम लोगों के साथ दिल्ली की कु0 शान्ता गांधी व मद्रास के श्री चोखलिंगम व केरल के उपन्यासकार शंकर पिल्लई व हिन्दी के लेखक और कवि श्री उपेन्द्रनाथ अशक व कलकत्ते के श्री चिन्मोहन सेहानबीस व कु0 चारु सक्सेना थीं। उन लोगों ने भी अपनी-अपनी पसन्द का अपना-अपना भोजन किया। मैं नहीं जानता कि इन लोगों के मन में क्या हो रहा था।

यान की गति तेज थी। दूरी छोटी होती जा रही थी। मास्को नजदीक आने वाला था। दोपहर के तीन या साढ़े तीन बजे के लगभग हमारा यान मास्को पर उतरा। अब एयर-पोर्ट पर पाँच बजे शाम तक हम लोगों के कागज-पत्र की जाँच परख होती रही और मैं पिछले दृश्य को भूलकर मास्को के एयरपोर्ट पर सोवियत संघ के बारे में सोचने लगा। मुझे उसका इतिहास याद आया। उसकी अक्टूबर क्रांति याद आयी। मुझे महान लेनिन याद आये और उनकी प्राणलेवा संकट की घड़ियाँ याद आयीं जब वहीं के निवासी जार के खिलाफ, स्थान-स्थान पर लड़ाई लड़ रहे थे और पुरानी भूदासता व सामंतवाद को धूलधूसरित करके समाजवाद की स्थापना के लिए प्राण दे रहे थे। मैं अन्दर से रोमांचित हो गया था और उस दिन वहाँ पहुँच कर अपने को बड़ा धन्य समझने लगा था। मुझे उस देश के दर्शन मिलेंगे, जिसे देखने की लालसा दिन-पर-दिन तीव्र होती जा रही थी। यह दिन मेरे लिये बड़े गौरव का दिन था। गौरव का दिन इसलिए था कि सोवियत संघ की वजह से आज दुनिया में मनुष्य स्वाधीन होकर अपने विकास की ओर प्रयाण करने के लिए तत्पर है।

वहाँ से हम, कार द्वारा, रुसिया होटल ले जाये गये। यहीं हमें ठहराया गया। मैं उसके कमरा नं0 2254 में ठहरा। कमरे में टेलीविजन सेट, रेडियो लगा था। वह साफ-सुथरा व सुसज्जित था। साथ में बाथरूम था। जहाँ ठण्डे व गर्म पानी का प्रबन्ध था। हम लोगों ने चाय-काफी आदि पी, फिर रात का भोजन किया। इसके पहले हम लोग मास्को शहर शाम को देख आये थे। मास्को और लुलुम्बा विश्वविद्यालय बाहर से देखा, नगर की सड़कों पर इधर-उधर की कई जगह घूमे। नगर की सफाई व व्यवस्था देखकर मैं तो बहुत प्रभावित हुआ। सड़कों के इधर-उधर ही वृक्षावली लगी थी। वृक्षावलियों के बीच में आदमियों के चलने का पथ बना 460 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

था, बेंचें पड़ी थीं और कहीं कोई गन्दगी नहीं थी। जो लोग आते-जाते दिखे, वे संतुष्ट और प्रसन्न दिखे। नगर में कहीं कोई तनाव या उदासी नहीं दिखी। मुझे तो वहाँ की इमारतें तक सहृदय लगीं और ऐसा लगा जैसे बड़ी शान से कह रही हों कि हम दूसरे असमाजवादी देश के नगरों की ऊँची इमारतें नहीं हैं कि अपने यहाँ के आदमियों को निगल जाएँ, वह खो जाए और उनका व्यक्तित्व दूसरों के दबाव से दब जाए। वे यह भी कह रही थीं कि हम अपने नगरवासियों का स्वागत करती हैं। उन्हें सुख-सुविधा व आराम देती हैं और उन्हें अपनी छाया में लेकर उनके दुख-दर्द मेटती हैं और उन्हें राज कर्मण्य जीवन जीने के लिए अपने से बाहर खेतों, फैक्ट्रियों, मदरसों, अनुसंधान शालाओं, दुकानों और कामकाज के भिन्न स्थलों को भेजती हैं कि उन्हें युद्ध की विभीषिका फिर से न देखनी पड़े और वे संसार में रहकर शान्ति से समानता के आधार पर जीवनयापन कर सकें। मैं बड़ा खुश हुआ।

मास्को देखकर मैं प्रभावित हुआ और यह कविता लिखी “देखा मास्को/जनता का जीवंत नगर,/ सबके लिए खुला,/ दगादार के लिए-दुष्ट के लिए बुरा,/ सहज बन्धु के लिए सनेही,/ सुखकर सगा, भला।/ मानव,/ गले कहीं दुनिया में,/ यहाँ न गलता,/ शोषण चले कहीं/ दुनिया में,/ यहाँ न चलता,/ अच्छी, सच्ची, राजनीति है/ पूरी पक्की,/ जन-जन/ की हो रही इसी से/ खूब तरक्की।”

फिर 12 मई सवेरे का नाश्ता करके हम लोग मास्को के एयरपोर्ट पर आये। यहीं हम फिर 10 बजे दिन को ऐरोप्लोट पर चढ़े और लेनिनग्राद पहुँचने के लिए उड़े। धूप चमक रही थी। आसमान का नीलापन श्वेताम्बरी हो रहा था। एक घन्टे की यात्रा के बाद हम लोग लेनिनग्राद के एयरपोर्ट पर पहुँचे। एयरपोर्ट पर यहाँ मास्को से अधिक ठंडक थी। मुझे गरमकोट पहने रहने पर भी अन्दर तक ठंडक मालूम हुई। लेकिन वह भी सह्य थी। इसलिए मैंने परवाह नहीं की। हम लोग कारों द्वारा एस्टोरिया होटल पहुँचाये गये। कारें सरकार की होती हैं। रास्ते में काफी समय लगा। धूप वहाँ भी थी। सड़कें साफ-सुथरी, लम्बी-चौड़ी चमचमा रही थीं। दोनों तरफ लम्बे-लम्बे चले गए पेड़ों की पत्तियाँ, झीनी-झीनी छाया जमीन पर छोड़ रही थीं। बच्चे, औरतें व आदमी आते-जाते प्रसन्न मुद्रा में दिखे। यहाँ की इमारतें भी ऊँची और भव्य तथा कई मंजिलों की हैं, पत्थरों की बनी हैं। मैं एस्टोरिया होटल के कमरा नं० 512 में श्री हरिदत्त शर्मा के साथ ठहरा। शाम को 4 बजे से 6 बजे तक विंटर पैलेस देखा। यहाँ 1500 कमरे हैं, म्यूजियम देखा। रूसी लोग अपनी तमाम तरह की भौतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक उपलब्धियों की ऐसी देख-रेख करते हैं और उन्हें ऐसे सुरक्षित रखते हैं कि जैसे वे उन्हें प्राण से भी

अधिक प्यारी हैं। यही बात रह-रहकर मुझे मोह रही थी। और मैं उनके प्रति मन-ही-मन कृतज्ञता प्रकट कर रहा था। जो लोग यह कहते हैं कि रूसी लोग प्राचीन के प्रति अत्यन्त अनुदार हैं और वे प्राचीन सभ्यता की समस्त देन को विनष्ट कर देते हैं और वे निरंकुश और निर्मम हैं, उनकी यह बात मुझे सरासर गलत मालूम हुई। रूसी लोग इतिहास को और उसके प्रत्येक चरण के चिन्हों को अपने लिए सुरक्षित रखते हैं, ताकि वे आज भी यह कह सकें कि कैसे किन-किन परिस्थितियों से होकर आज वे समाजवाद को अपने यहाँ अवतीर्ण कर सके। मुझे याद है कि नाजी लोग या अमरीकी फौजी लोग या कि दूसरे असमाजवादी देशों के फौजी शासक जब जहाँ अपने पाँव रखते हैं तब वहाँ की सभ्यता और संस्कृति के समस्त इतिहास की उपलब्धियों को चकनाचूर कर देते हैं। इसलिये मुझे यह देखकर विश्वास हुआ कि वे जहाँ और जब भी गये होंगे या जायेंगे, उन्होंने वहाँ भी उसकी ऐतिहासिक उपलब्धियों को नष्ट न किया होगा और न वे करेंगे आगे भी।

सोवियत संघ की राजनीति समाजवादी राजनीति है, इसलिए वह सही अर्थों में मानववादी है और सच ही जनतांत्रिक स्वभाव की है।

इस विंटर पैलेस यानी शिशिर प्रासाद पर 26 अक्टूबर को क्रांतिकारियों का अधिकार हो गया था और साथ ही चोदनोवस्की को इसका कमाण्डैन्ट नियुक्त किया गया था जिसके तुरन्त ही बाद वह लेनिन से मिलने स्मोल्नी गये थे। यह प्रासाद मुझे प्रभावित कर सका और मैंने अपनी नोट बुक में उसे देखकर ही लिखा—Simply Grand। इसे भीतर-बाहर से देखता रहा और देखते-देखते उन दिनों का इतिहास सोचता रहा और इतिहास को सोचकर तब की गयी क्रान्ति का महत्व आँकता रहा। अब यह प्रासाद रूस की सारी जनता का प्रासाद है। इसे देखने देश-विदेश की जनता आती है और देख-देख कर दाँतों तले उँगली दबाकर चकित रह जाती है। शाम के छः बजे चुके थे। प्रासाद बन्द होने जा रहा था। इसलिये उसे देखकर फिर होटल वापस आया। मैंने देखा कि आठ बजे रात को भी सूरज पश्चिमी आसमान में काफी ऊँचे चमक रहा था। रात दस बजे सूरज सोया था। रात होटल में सोता रहा और जब तीन बजे सुबह उठा तब देखा कि सूरज का प्रकाश फैल चुका था।

दूसरे दिन, 13 मई को दस बजे दिन, होटल से बस से चला और PESKEREVSKOE & MEMORIAL देखने पहुँचा। यह 26 हेक्टेयर क्षेत्रफल में था। प्रवेश करते ही सामने दिखायी दी विशाल खड़ी हुई, प्रतीकात्मक माँ की मूर्ति। बताया गया कि यह 1942 के वीरों का समाधिस्थल है। यहाँ लगभग पाँच लाख आदमी दफन हुए थे। यहीं पर कवयित्री ओल्गा बेल्ग्रास भी दफन हुई हैं। मैंने देखा कि तमाम बच्चे आये थे और साथ में फूल मालाएँ भी लाये थे। वे

सब समाधियों पर मालाएँ चढ़ा रहे थे। समाधियों पर हँसिए-हथौड़े अंकित थे। यहाँ का वातावरण मर्मस्पर्शी था। करुणा से द्रवित प्रत्येक दर्शक शान्त भाव से वीरों को नमन कर रहा था। मैं भी सन् 42 के रक्त-पात और तब की गई नृशंस-बर्बरता को देखकर क्षण-प्रति-क्षण विचलित होता रहा और हत्या करनेवालों को कोसता रहा और मरनेवालों की याद कर-कर उनको अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता रहा। सोवियत सरकार ने इस स्थल को सुरक्षित करके आनेवाली पीढ़ियों को यह जता दिया है कि युद्ध कितना भयंकर और विनाशकारी होता है कि फिर से उसकी पुनरावृत्ति कोई न करे। टेलीविजन वाले वहाँ आए हुए थे, उन्होंने भी प्रसारण के लिये उस समय चित्र लिए।

साढ़े ग्यारह बजे दिन को हम लोग (स्मोल्नी) पहुँचे। यही वह स्थान है जहाँ सवा दो बजे चोदनोवस्की लेनिन से मिले थे। तब लेनिन कमरे में काम करते हुए नई आज्ञप्तियों के मसविदे लिख रहे थे। इसके बाद यहीं सोवियतों की दूसरी कांग्रेस की बैठक हुई और मजदूरों, सैनिकों तथा किसानों के नाम लेनिन ने एक अपील लिखी जो कांग्रेस ने स्वीकार की। उस अपील का एक अंश इस प्रकार है—

“मजदूरों, सैनिकों और किसानों के बहुमत की इच्छानुसार पैत्रोग्राद में हुए मजदूरों और नगर-सेना के विजयी विद्रोह का समर्थन पाकर कांग्रेस सत्ता अपने हाथ में लेती है.....अस्थायी सरकार का तख्ता उलट दिया गया है.....सैनिकों, मजदूरों और कर्मचारियों क्रान्ति और जनवादी शांति का भाग्य तुम्हारे हाथों में हैं—क्रान्ति जिन्दाबाद।” लेनिन ने युद्ध को मानव जाति के विरुद्ध सबसे बड़ा अपराध घोषित किया था। यहीं लेनिन ने भूमि सम्बन्धी वह आज्ञप्ति निकाली थी, जिसके अनुसार सारी भूमि की स्वामिनी जनता मानी गयी और यहीं लेनिन के नेतृत्व में दूसरी कांग्रेस ने सरकार बना दी और जनता ने कम्युनिस्ट पार्टी को देश का शासन सौंपा। पहले यहाँ संभ्रांत और प्रतिष्ठित कुटुम्बों की औरतों के पढ़ने के लिए कालेज था। यह 1808 में बनी इमारत है। यहीं ब्रोत्स्की चित्रकार की सन् 1927 में बनायी हुई लेनिन की आदमकद, रंगीन तस्वीर देखने को मिली। तस्वीर में लेनिन खड़े हैं, अपनी सहज-साधारण गरिमा के साथ और उनके पीछे बह रही है एक नदी। दीवार पर पूरा संविधान सुनहरे अक्षरों में लिखा है। इस तस्वीर को देखते-देखते यही सोचता रहा कि कितना महान था लेनिन, जो अपनी जनता के लिए ही रात-दिन जीता-जागता, सोचता-विचारता और क्रान्ति की निश्छल अगुवाई करता था। काश, ऐसे नेता हमें भी हमारे देश में मिलते—हमारा देश धन्य होता।

फिर मैं वहाँ से लेनिन का एक दूसरा घर देखने लगा। वह भी लेनिन का म्यूजियम बना दिया गया है। यहाँ लेनिन का रेकार्डेड भाषण, उन्हीं की आवाज में

सुना गया। मैं उसे समझ तो नहीं सका, लेकिन स्वरो के आरोह और अवरोह और व्यंजनों के प्रवाह से मुझे यह लगा कि उनके भाषण में उतार-चढ़ाव नाम-मात्र को था और वह कोई दो-टूक बात कर रहे थे, इस म्यूजियम को देखकर बहुत-सी और बातें मालूम हुई कि लेनिन यहाँ कैसे रहे और किसके साथ व कब तक रहे?

वहाँ से होटल आया। खाना खाया, फिर सवा पाँच बजे फ्रेंडशिप पैलेस देखने के लिए गया। यहाँ इन्डो-सोवियत कल्चरल सोसाइटी का स्वामित्व है। लेनिनग्राद की म्यूनिसिपैलिटी ने, दूसरे महायुद्ध से नष्ट हो जाने पर, इसका पुनरुद्धार कराया था और इसे उक्त सोसाइटी को सौंप दिया था। इसमें, नष्ट होने के पहले, सोने का तमाम काम दीवारों पर अंकित था। यहीं कई लोगों से बातचीत हुई। चाय-पानी हुआ। यहीं मिलें :—(एक) वित्तर बालिन, प्राध्यापक भारतीय भाषा विज्ञान, लेनिनग्राद विश्वविद्यालय (दो) रूदोल्फ वी0 वाराबनोब, 1920×11 लेनिनग्राद फोन्टैन्का-21, (तीन) पेट्तचेंको वाई0 ओरियन्टल फैकल्टी, लेनिनग्राद विश्वविद्यालय, लेनिनग्राद। साहित्य पर और कला पर बातें होती रहीं। यहीं पेट्तचेंको महोदय ने मुझे एक किताब दिखाई। उसमें लेनिन के ऊपर लिखी मेरी कविता का रूसी अनुवाद छपा था। अपना नाम तो मैंने पढ़ लिया, लेकिन कविता नहीं पढ़ सका। तब उन्होंने उसे पढ़ा और अर्थ बताया, निश्चय ही वह मेरी थी। यह बड़ी सुखद बात हुई। मैं प्रसन्न हुआ कि इस दूर विदेश में भी मेरी कविता को सराहा गया और मेरे आने पर पेट्तचेंको महोदय ने मुझे पढ़कर सुनाया। काव्य में ऐसी रुचि बहुत कम लोगों में होती है। लेनिनग्राद में काव्य-कला और साहित्य और संस्कृति के प्रति निश्चय ही अत्यधिक अभिरुचि मिली। यहाँ भी टेलीविजन के लोग साथ आये थे और अपना काम कर रहे थे। हम लोगों की तस्वीरें खिंचती रहीं। यहीं प्रसिद्ध रूसी लेखक टालस्टाय के परिवार की एक महिला ने आकर हिन्दी में मेरा अभिवादन किया और अपना परिचय दिया और मेरी कविता में अपनी रुचि का प्रदर्शन किया। वे हिन्दी बोल रही थीं। अच्छी-खासी तन्दरुस्त महिला हैं। रंग गेहुँआँ है। देखने में यूरोपियन नहीं लगतीं। स्वभाव से शालीन और मर्यादित। मुझे इनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं इन्हें देखकर इसमें टालस्टाय की मूर्ति देखता रहा।

फिर रात आयी और होटल में सोया...। चौदह मई को साढ़े दस बजे दिन होटल से दास्तोवस्की स्ट्रीट गये। यहाँ उनका घर था। यह रूस के महान उपन्यासकारों में हैं, किराये के मकान में रहते थे। लेनिनग्राद में ही कई घरों में किराये पर रहे थे, यह घर उन्हीं में से एक था। इसी घर में उनके नाम का म्यूजियम दो भागों में हैं। एक भाग में उनका साहित्य संग्रहीत है, दूसरे भाग में उनके कालेज और बचपन के दिन बीते थे। वे 13 अक्टूबर, 1821 को पैदा हुए थे। इनकी

माँ, मास्को के एक व्यापारी की पुत्री थीं, जिनका देहावसान 1837 में हुआ। इनके पिता ने इन्हें पेत्रोग्राद के इन्जीनियरिंग कालेज में पढ़ाया। लेकिन दास्तोवस्की को, उनकी प्रतिभा ने, इन्जीनियरी से हटाकर उपन्यासकार बनाया और ने मानवमन की अतल गहराइयों के सूक्ष्म चित्रण के विश्वविख्यात उपन्यासकार हो गये। इनके उपन्यासों में अपराधी वृत्तियों के नर-नारियों के मनोजगत का बड़ा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है। इनके उपन्यासों के पात्रों से तब के आदमियों के जीवनवृत्त का आकलन मिलता है और यह मालूम होता है कि उस समय के गये-गुजरे लोग, अपने समाज में, कैसे जीवन-यापन करते थे और किस बुरी तरह से संतस्त और उपेक्षित रहते थे और इसपर भी किन-किन तरीकों से जिन्दगी जीते और अपनी आयु अन्धकार को समर्पित करते थे। इसी म्यूजियम में उनकी पुस्तकों की पाण्डुलिपियाँ देखीं। छपी हुई उनकी पुस्तकें देखीं। तब के छपे हुए अखबारों में उनके बारे में टिप्पणियाँ देखीं। उनके चित्र भी देखे। उनके उपन्यास के पात्रों के, तब के बनाये गये, चित्र भी देखे। इन्हें देखकर कुरूपता और विरूपता का एहसास हुआ और साथ-ही-साथ यह भी एहसास हुआ कि दास्तोवस्की स्वयं इनको चित्रित करने के लिए कितना कुछ नहीं, इनके साथ मिल-मिलकर वैसा ही भोगते रहे होंगे। शायद कोई दूसरा यह काम नहीं कर सकता था, अगर दास्तोवस्की न होते तो ऐसे उपन्यासों के लिखे जाने की संभावना कम ही होती और अगर होती भी तो उनके बहुत बाद होती। यहाँ एक सम्मति पुस्तिका रखी हुई थी। इसमें आये-गये लोग अपनी प्रतिक्रिया अंकित कर जाते थे। मैंने भी इसमें हिन्दी में ही यह नोट किया— “मानव-मन की गहराईयों में उतरनेवाले इस महान उपन्यासकार के इस म्यूजियम को देखकर मुझे प्रसन्नता हुई।” मुझे विश्वास है कि मेरे न रहने पर भी ये शब्द कालान्तर तक वहाँ उस देश के हृदय पृष्ठ पर अंकित रहेंगे।

इसके बाद सोवियत संघ के लेखक-संघ की लेनिनग्राद शाखा में गया। वहाँ उस शाखा के मन्त्री जी० होनोपोव, कवि वी० तोरोपीजन से भेंट और वार्ता हुई। मन्त्री महोदय ने बताया कि सोवियत संघ में यह शाखा अद्वितीय है। साहित्य की सभी विधाओं के लेखक, कवि और नाटककार इसके सदस्य हैं। इसका प्रत्येक लेखक कोई विषय चुने या लिखे वह स्वतन्त्र है। किसी पर कोई दबाव या जोर-जबर नहीं है। संघ का कर्तव्य है कि वह लेखकों को अपना सुझाव दे सकते हैं। पर वे उन्हें कोई आदेश नहीं दे सकते। इस शाखा के कई भाग हैं, कवियों, उपन्यासकारों व नाटककारों इत्यादि से सम्बन्धित। यहाँ लेखक आते हैं। अपनी समस्याओं पर विचार-विनिमय करते हैं। कोई भी लेखक अपनी कृति को ले जाकर शाखा के अपने विभाग के लेखकों से उसपर विचार-विनिमय कर सकता है। वहाँ

संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल / 465

के लोग उन कृतियों की आलोचना-प्रत्यालोचना भी करते हैं, कभी-कभी कोई लेखक इससे बुरा भी मान जाता है। हाँ, एक बात और मन्त्री महोदय ने बताई कि छपने से पहले किसी भी उपन्यास को वहाँ के चार सम्पादक देखते हैं और तब वह छपने को भेजा जाता है। नई कविताएँ और नये उपन्यास पहले मासिक पत्रिकाओं में छपते हैं और फिर पुस्तक के रूप में। लेखकों को पहले ही कुछ धन मिल जाता है। संकट की घड़ियों में शाखा लेखकों को आर्थिक सहायता भी देती है, दवा-दारू की व्यवस्था भी करती है। सैनीटोरियम भेजने में मदद करती है। जरूरत पड़ने पर अर्थहीन लेखक को मासिक वेतन भी देती है और यह भी व्यवस्था करती है कि वह देश को देखे और देखकर लिखे, शाखा देश के दूसरे स्थानों के लेखकों से मिलने-मिलाने के अवसर भी प्रदान करती है और सम्पर्क सूत्र भी स्थापित करती है। इसमें लेखकों का क्लब भी है, इस शाखा में लेखकों को कमरे भी दिए जाते हैं कि वे वहाँ बैठकर अपना लेखन-कार्य कर सकें। उनके खाने इत्यादि का प्रबन्ध भी होता है।

इसके बाद कवि महोदय ने हमें बताया कि जब घर में लिखना संभव नहीं होता, तब वे यहाँ आकर लिखने का कार्य करते हैं। इन्होंने मन्त्री महोदय की बातों का समर्थन किया और बताया कि आरोरा (Aurora) नामक मासिक पत्रिका भी निकाली जाती है। उनकी रचनाएँ भी छपी जाती हैं। प्रसिद्ध लेखकों की रचनाएँ भी छपती हैं। नये रचनाकार अपनी रचनाएँ दूसरी पत्रिका में भी छपा सकते हैं, कोई रोक-टोक नहीं है। यह पत्रिका नये रचनाकारों की मदद करती है। यहाँ से एक वार्षिक पुस्तक भी प्रकाशित होती है, जिसका नाम ‘यंग लेनिनग्राद’ होता है। पेशेवर लेखकों को भी यहाँ पर सुविधाएँ उपलब्ध हैं। किसानों, मजदूरों, कालेजों, नगरों और गाँवों के नये-पुराने सभी लेखकों को यह अपनी सहायता दिया करती है। इस संघ को यह श्रेय प्राप्त है कि कई प्रतिभाशाली नये लेखकों को सामने ला सका है— वे विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित हैं और बौद्धिक व्यक्तित्व रखते हैं। कवि महोदय ने साहित्य के विषय में बताया कि वह एक तो नागरिकता प्रधान होता है और दूसरे काव्यमय होता है, जिसमें परम्परा को अपनाया जाकर अच्छी कविताएँ लिखी जाती हैं। उनकी शाखा की सबसे कम उम्र की महिला कवयित्री अलेक्सीव हैं। पाठक उनकी कविताओं को बड़ी रुचि से पढ़ते हैं और उनका बड़ा मान-सम्मान है।

इस महानगर लेनिनग्राद को देखकर मैंने लिखा :- ‘देखा/ लेनिनग्राद, / अदेखा सूरज देखा, / सहस्रार से/ खिले नगर का/ अचरज देखा।/ देखा/ मानववाद, / अदेखा उत्सव देखा, / जनता से प्रतिबद्ध काव्य का/ सौष्ठव देखा।’

466 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

मास्को राजनीतिक चेतना का महानगर है। लेनिनग्राद सांस्कृतिक चेतना का कलात्मक महानगर है। दोनों अपने-अपने ढंग के महत्वपूर्ण महानगर हैं, फिर रात को होटल आया और वहाँ से इरीवान जाने के लिए अर्धरात्रि के बाद लेनिनग्राद से हवाई-अड्डे पर पहुँचा। बड़ा सुन्दर हवाई-अड्डा है। रात को ही हवाई जहाज से उड़े। दूसरे दिन सवेरे छः बजे के लगभग इरीवान के हवाई-अड्डे पर उतरे। वहाँ से 'ANI' होटल गये। वहाँ के फ्लैट नं0-7 के कमरा नं0 618 में मैं और श्री हरिदत्त शर्मा एक साथ ठहरे। इस होटल का नामकरण वहाँ के प्रसिद्ध साहित्यकार सदरुद्दीन ऐनी के नाम पर हुआ जान पड़ता है।

दोपहर को मारटिरास सारियान (Martiros Sarian) म्यूजियम देखने गया। यह इसी नाम के प्रसिद्ध चित्रकार की यादगार में बनाया गया, इन्हीं के चित्रों का संग्रहालय है। चित्रों को देखता रहा। चित्रों में व्यक्त चित्रकार के दिल और दिमाग से निकले रंग-रूप में अंकित वहाँ के परिवेश और इसमें जीने वाले आदमियों को अपने इंद्रियबोध से पकड़ता रहा। मैं तन्मय और तल्लीन रहा। कलाकार अदृश्य से जैसे बोलता रहा और मैं उसे सुनता रहा। मुझे चित्रों की भाव भंगिमायें समझ में आने लगीं। उनका मौन भी सार्थक वाणी बन गया। मैं उस वाणी से विभोर होता रहा। अपने से विसुध मैं उन्हीं में खोया रहा। रंगों का सूक्ष्म तरल प्रवाह प्रकृति के देह की चित्रमयता निरूपित करने में पूर्णतया सक्षम हुआ था। मानव शरीर की आकृतियों से पौरुष और कर्मठता साकार हुई थी। जहाँ कला अमूर्तन का आभास देती थी वहाँ भी वह कलाकार के अन्तर्मन के गहरे मानवीय बोध को ही व्यक्त करती थी। मैंने उन चित्रों में न आदमी खोया हुआ पाया, न उसका भीतरी और बाहरी परिवेश कला सफल हो गई थी, आदमी की सेवा में लगकर। उदास आदमी भी आदमी लगा—वह न झील में डूबा कुरूप बादल का टुकड़ा लगा, न कील से लटकता टंगा, मैला-कुचैला कपड़ा। उदास प्रकृति भी प्रकृति लगी—वह मरे हुए कुत्ते की लाश नहीं लगी। आज की अमूर्त कला से भिन्न इस चित्रकार की अमूर्त कला थी। आज तो अमूर्त कला विसंगतियों को उरेहती है और जो नहीं है—जो नहीं हो सकता—उसको रूपायित करती है। इसीलिए किसी की समझ में नहीं आती। कोई भी कला जब मानवीय सम्पर्क से वंचित हो जाती है अन्यथा उसके परिवेश से पलायन कर जाती है और तांत्रिकों की अथवा अघोरियों की वृत्तियों का विदूषण पा लेती है तो वह कला नहीं रह जाती, वास्तव में अनाप-सनाप हो जाती है। मैं इस प्रसिद्ध कलाकार की सराहना करता रहा और उसकी मानवीयता से अभिभूत होता रहा। इनका जन्म 28-2-1880 में हुआ था।

यह म्यूजियम तिमंजिला है। इसमें सारियान की 150 तस्वीरें और ग्राफिक्स हमेशा देखी जा सकती हैं। पेरिस में सन् '37 में उनके चित्रों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी हुई थी। वह आरमीनिया की विज्ञान अकादमी के सम्माननीय सदस्य सन् 1956 से रहे। सन् 1960 में उन्हें सोवियत संघ का जन-कलाकार होने का पुरस्कार मिला।

म्यूजियम से लौटकर होटल आया। लंच लिया, उसके बाद इरीवान से बस द्वारा हम लोग 70 किलोमीटर का रास्ता तय करके वहाँ पहुँचे जहाँ झील थी। इसे सागर भी कहा जाता है। यह विशाल है। इसके एक तरफ रेलवे स्टेशन है। स्टेशन कुछ ऊँचाई पर है। वहाँ के लोगों ने हम लोगों को अपने स्नेह से भाव-विभोर किया। पानी बरसा, बादलों की फुहार को हम लोगों ने अपने ऊपर लिया। उन्हीं लोगों ने हमें स्वादिष्ट भोजन खिलाया। पेय भी पिलाया। उनके आतिथ्य-सत्कार की याद आज भी ताजा है। झील के दूसरी तरफ ऊँची पहाड़ी का सिलसिला चला गया है। जल में उठती लहरियाँ अनंत काल की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म संवेद्य चेतना का नाद-नृत्य कर रही थीं। मैं काल के अन्तर्मन में डूबा अपनी धरती का सौन्दर्य निहार रहा था। आकाश के आक्रोश में भी वह धीरज नहीं छोड़ती और अपने कर्मठ पुत्रों को आश्रय और अवलम्ब दिये रहती है। मैं खड़ा तो तट पर रहा बड़ी देर तक, परन्तु खड़े-खड़े में ही जल के बल्कल वसन पहनकर नाच-नाच उठता रहा। देर हो रही थी। फिर हम लोग वापस चल दिये। मैंने दिन को विदा दी। उसने हमें विदा दी। हम फिर उसी रास्ते से अपने होटल आये। रात होटल में बिताई। मैं उस झील के सपने देखता रहा। उसकी मछलियों की कहानी सुनता रहा।

दूसरे दिन 16/5 को सुबह होटल से बाहर निकल आस-पास की सड़कों में टहला-घूमा। दुकानें देखता रहा। दुकानों में भरा माल-मत्ता देखता रहा। आते-जाते लोगों की चाल-चलन देखता रहा। जिसे देखता उसी के मन में बैठने का प्रयास करता और कुछ-न-कुछ गुपचुप जान लेने का उपक्रम करता। मैं भाषा की सामर्थ्य छोड़कर, भाषा से परे पहुँच कर, केवल भाव-भंगिमाओं से हाव-भाव से, नाक-नक्शे से, गति-गमन और शरीर संतुलन से उस नगर के निवासियों की चित्तवृत्तियों को जानता-पहचानता रहा और यह निष्कर्ष निकाल सका कि यहाँ के लोग-बाग तन और मन से खुशहाल हैं और दीन-हीन मनोदशाओं के शिकार नहीं हैं। उन लोगों को देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई और मैं आश्वस्त हुआ कि मनुष्य यहाँ भी अपनी गरिमा को पा रहा है।

साढ़े दस बजे दिन इरीवान स्थित बच्चों की चित्र गैलरी देखने गया। चार साल पहले गैलरी में प्रदर्शनी दिखाने का काम शुरू हुआ था। तब से अब तक 468 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

साठ प्रदर्शनियों का आयोजन हो चुका है। इस प्रदर्शनी में जिसे हम देखने गये थे, केवल एक स्कूल के बच्चों के बनाये हुए चित्र दिखाये गये थे। अब यह प्रदर्शनी बराबर हुआ करेगी। विदेश के स्कूलों के बच्चों के चित्र भी यहाँ मँगाये जायेंगे और दिखाये जायेंगे। यहाँ से भी रूसी बच्चों के बनाये चित्र प्रदर्शनी हेतु विदेश भेजे जायेंगे, वहाँ वे बच्चों के चित्रों की प्रदर्शनियों में दिखाये जायेंगे। इस एक ठोस प्रयास से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ। मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि सोवियत भूमि में बच्चों की कलात्मक प्रतिभा को बड़े उत्साह और लगन के साथ विकसित किया जा रहा है। सोवियत सरकार समाजवादी चेतना के अंकुरों को अपनी ममता से इस काबिल बना रही है कि भविष्य में सिरमौर बनें और उनकी कला से मानव समाज का कल्याण हो। अन्य देशों में बच्चों की कलात्मक अभिरुचि के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। तभी तो विरले ही प्रसिद्ध होने का अवसर पाते हैं। साधारणतया तो वहाँ कला का भी पूर्णरूपेण शोषण किया जाता है और बचपन में ही प्रतिभाओं को कुंठित कर दिया जाता है।

मैंने एक चित्र में एक पेड़ बना देखा। पेड़ में एक लाल फल देखा। उस एक फल को ही तोड़ रहा था एक आदमी जो घोड़े पर सवार था और घोड़ा था कि जमीन से उठा उड़ा जा रहा था। मैं इस चित्र को देखकर स्तम्भित रह गया। उस चित्र का अर्थ लगाने लगा। उससे बालक-चित्रकार की चेतना के अन्दर पैठने लगा। निश्चय ही बच्चा अपने परिवेश से पूरी तरह जुड़ा हुआ है। दृश्य में घोड़ा है। वह पूरी ताकत से जमीन से उठा उछाल की स्थिति में है। बालक ने इस स्थिति में कभी-न-कभी घोड़े को देखा ही होगा। तभी तो वह इस चित्र में आ गया। घोड़ा है तो घुड़सवार होना ही चाहिए, जो घोड़े को अपनी सफलता के लिए इस्तेमाल करे। चुनान्चे घोड़े पर सवार है एक सवार। प्रकृति उदार होती है। पर अपने फल सहज ही नहीं देती। आदमी को कठिन प्रयास करना पड़ता है कि वह फल पा सके। पेड़ ऊँचा है। आदमी उस पर चढ़ सकता था। परन्तु नहीं उस बालक चित्रकार ने आदमी को पेड़ पर नहीं चढ़ाया क्योंकि उसे सविशेष प्रयास करने का एक जीवंत चित्र खींचना था और ऐसे ही प्रयास का चित्रण उसने घोड़े पर सवार को चढ़ा कर और घोड़े को उछाल कर फल की ओर गया दिखा कर किया। इस कलात्मक विम्बविधान से एक साधारण से दृश्य में जान पड़ गयी और देखने वाला मुग्ध हुए बिना न रह सका।

समाजवादी चेतना का यह प्रारम्भिक प्रदर्शन मात्र था। ऐसी चेतना ही तो आगे चलकर बड़े-बड़े असम्भव कार्यों को सम्भव करती है और साहसिक इतनी होती है कि ज्ञान की खोज में अंतरिक्ष में सदेह प्रवेश करती है और संसार को चकित कर देती है।

एक चित्र में हाथी दिखाया गया। बच्चों को हाथी विशेष प्यारा है। हाथी देखने में सबसे बड़ा होता है और स्थूल काया से सूँड़ लटकाये हुये चलते-चलते में सब कुछ लपेट लेने की मुद्रा में अजूबा भी लगता है। धूल उड़ाता है तो अपने और दूसरों को धूल-धूसरित कर देता है। जब सूँड़ में पानी भर-भर कर फुहारें मारता है तो रिमझिम बरसात कर देता है। जब बड़े-से-बड़े बोज़ को पीठ पर लाद कर चलता है तो आँखें देखती ही रह जाती हैं। तब वह पहाड़ ही लगता है। शायद इसी सब को व्यक्त करने के लिए बालक चित्रकार ने हाथी का चित्रांकन किया था। घोड़े कई चित्रों में दिखे। स्वाभाविक है ऐसा अश्व प्रदर्शन। घोड़े तो सहज में ही दुनिया में हर जगह दिख जाते हैं, फिर सरकस में हाथी और घोड़े तो अपना अपना कमाल दिखाते ही रहते हैं और बच्चों को सरकस देखना भी बहुत अच्छा लगता है। सम्भवतः इसीलिये तो बालकों को समाजवादी चेतना में पशुओं को बिम्बित होने का प्रश्रय मिला।

एक दूसरा चित्र, देखते ही, अपनी क्रूरता से क्षुब्ध कर देता था। एक घोड़ा था। घोड़े की दुम के बालों से आदमी के सिर के बाल बँधे थे। घोड़ा गति की मुद्रा में था। आदमी जमीन में घसिटा रहा था। बालक तो स्वभावतः कोमल और दयालु होते हैं। ऐसी निर्दयता उनमें नहीं होती। फिर भी उस बालक चित्रकार में ऐसी प्रवृत्ति के दर्शन हुये। ऐसा क्यों हुआ? मैं सोचता रहा। समाजवादी देश में तो बालकों के प्रति आदमी भी बहुत स्नेह दिखाते हैं और उन्हें अपनी ममता भरपूर देते हैं तो फिर क्यों ऐसा हुआ कि बालक अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति में आदमी के प्रति एकदम अनुदार और बर्बर हो गया? बालक के लिए घोड़ा आदमी से अधिक महत्व का हो गया, क्यों? शायद बालक आदमी को, उसके किसी जघन्य अपराध के लिये दंडित कर रहा है। यह समाजवादी समाज के बालक का नैसर्गिक दंड विधान मालूम पड़ता है। हो सकता है कि बालक ने यह सोचा हो कि उसके देश में आदमी के प्रति वही ऐसा क्रूर बर्ताव कर सकता है जो व्यक्ति मदांध होकर अपनी आदमियत खोकर पाशविक वृत्ति का हो गया हो।

एक दूसरे चित्र में दूल्हा-दुलहिन का चित्रांकन किया गया था। दूल्हा श्वेत शरीर का काला कपड़ा पहने था। दुलहिन लाल ओठों वाली हरे वस्त्र पहने थी। आकर्षक रंग-योजना थी। एक अन्य चित्र में शेर और जेबरा भी देखने को मिले। नदी, नाव, मछली, जाल, तालाब इत्यादि भी बच्चों को प्रिय लगे थे। वैसे चीता काला नहीं होता। परन्तु उसे काला बनाकर उसकी आँखों, उसके दाँतों और मुँह को उभारा गया था। उस पशु की बर्बरता साकार हो गयी थी।

एक ऐसा भी चित्र था जिसमें सिर तो स्त्री का और शेष शरीर पक्षी का था। शायद बच्चे के मन में यह आया रहा हो कि चिड़िया भी रहे और स्त्री भी रहे। तो 470 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

स्त्री के एवज में उसका सिर आ गया। बच्चा माँ-बहन की मुखाकृति से ही तो अधिक प्रभावित होते हैं। चिड़िया का उड़ना बच्चों को बहुत भाता है। इसलिये माँ हो या बहन वह शेष अंगों से चिड़िया बना दी गई कि उसके ऐसे चित्र से उसकी भावनायें दोनों के प्रति व्यक्त हो सकें। न वह माँ-बहन को छोड़ सकता है न पक्षी को। सिर छोटा और आँखें छोटी और मुँह भी छोटा ही होता है। वह बोलता भी है तो समझ में नहीं आता। माँ-बहन का बोलना प्यार की अभिव्यक्ति करता है। फिर आज के युग में अन्तरिक्ष यान की यात्रायें हो रही हैं। बालक के मन में ऐसे यान का आकार अभी बन नहीं पाया, इसलिये उसने यान के बजाय स्त्री को पक्षी बना कर उसे अन्तरिक्ष की उड़ान करा दी।

एक गाड़ी में लाल रंग का घोड़ा जुता है। गाड़ी में बैठा एक लड़का जो गिटार बजा रहा है। गिटार को खड़ा किये है, सम्भाले है एक कुत्ता। यह सब साधारणतया नहीं होता। बाल मन ने ऐसा चित्रांकन करके अपनी मनोभावना को प्रकट कर दिया है। बच्चे को कुत्ता प्रिय है। उसे संगीत-समारोह में उसकी सहायता करता है। समाजवादी समाज का बालक संगीत को अपने पूरे परिवेश से जोड़ता है और दूसरों के लिये भी प्रभावशाली बनाता है।

एक बालक ने अपने चित्र में उल्लू बनाया था। साधारणतया आस-पास उल्लू कम दिखाई देते हैं। फिर भी इस बालक चित्रकार ने उसे कहीं-न-कहीं देखा ही होगा, तभी तो वह उसे चित्रांकित कर सका। मैं इस चित्र प्रदर्शनी को देखकर अपने देश के बच्चों के बारे में सोचता रहा। काश, उनकी रचनात्मक प्रतिभा को ऐसे ही विकसित करने का साधन उपलब्ध होते तो वह अपने परिवेश और देश से जुड़ सकते और उनकी भावनायें संस्कारित हो सकतीं। ऐसा नहीं हो पा रहा अपने देश में। तभी तो हमारे देश के बच्चे उच्छृंखल और उजड़ते जा रहे हैं। केवल स्कूल में जा कर ही वह कभी भी अब सुधर नहीं सकते। उनको ज्ञान तो किताबों से मिल सकता है परन्तु पुस्तकें उनकी चित्तवृत्तियों को दृष्टि और दिशा दे कर माता-पिता के गुणों से संपृक्त नहीं कर सकतीं। आवश्यकता है इस ओर तुरन्त ध्यान देने की।

P

साक्षात्कार

मेरी रचना प्रकृति के समकक्ष एक दूसरी सृष्टि है

(केदारनाथ अग्रवाल से अशोक त्रिपाठी की बातचीत)

अशोक : बाबू जी! सबसे पहले मैं आपसे अभियान गीतों के बारे में पूछना चाहता हूँ। प्रगतिशील चेतना की कविताएं तो आप काफी पहले से लिख रहे हैं— किन्तु प्रारंभ में आपने कुछ मार्च सांग या अभियान गीत भी लिखे जिनमें कुछ-कुछ नारेबाजी भी है। इधर आप इस तरह की कविताएं नहीं लिखते हैं, ऐसा होने के पीछे क्या कोई ऐतिहासिक दबाव था; या आजकल कला के प्रति आपका आग्रह अधिक बढ़ गया है?

केदारनाथ अग्रवाल : उस समय पूरी आजादी देश को मिली नहीं थी। आजादी का अभियान चल ही रहा था। आजादी के सिलसिले में उद्बोधन की आवश्यकता थी, ताकि आदमी की मानसिकता जागरूक हो और वह देश के प्रति जागरूक हो, इसलिए हम भी लिखने लगे। नारेबाजी का जहाँ तक सवाल है—समझता हूँ, नारेबाजी के बिना ऐसे समय में आदमी की जड़ता टूटती नहीं है। नारेबाजी है क्या? नारेबाजी का एक रूप यह है—फाँसी पर लटक जाओ! उससे सारे देश की जड़ता टूटती है। साहित्य में, जो फाँसी पर नहीं लटकना चाहता वह नारा देगा। लेकिन ऐसी कविताएं हर वक्त नहीं लिखी जा सकतीं न लिखना चाहिए। जरूरत हो तभी लिखनी चाहिए। अगर आज हम वैसी कविताएं लिखें—तो वह कोरा नारा होगा।

अशोक : आज के माहौल में क्या उसकी जरूरत नहीं है?

केदार : नारा हम क्या देंगे! जनता बंटी हुई है। सारी पार्टियाँ बिखरी हैं। उस तरह की रुझान किसी में नहीं है। जैसे चीन का आक्रमण हुआ—तो चीन के आक्रमण में मैंने कतिवाएं लिखीं—और लोगों ने भी लिखीं। संकलन निकला। आज दूसरे तमाम विवाद के बिंदु है—सांप्रदायिकता, शोषण, धर्मांधता, साम्राज्यवाद आदि, इनके विरुद्ध कविताएं लिखनी चाहिए। तब हमारे पास इतने विवाद के बिंदु नहीं थे।

अशोक : कविताएं आपके दिमाग में 'भक्' (यह शब्द केदार जी का ही है) से आती है या आप पहले सोचते हैं—फिर लिखते हैं?

केदार : नहीं! सारी कविताएं ऐसी नहीं हैं। हम मनुष्य और प्रकृति को जोड़कर देखते हैं। मनुष्य के जीवन का विश्लेषण करते हैं और यहाँ से प्रकृति को

भी देखते हैं। प्रकृति का सौंदर्य अगर हमारे जीवन से जुड़ जाए और हम उसकी बात कहें तो कविता ज्यादा अच्छी लगेगी। तो यह जो कविता है—आज अभी आंखों से पर्वतीय निर्जन के धुंध भरे घेरे में.....

अशोक : कैद खड़े पेड़ों के मौन पड़े डेरे में.....

केदार : ये (चित्र) किसका है? ये उन्हीं आदमियों का चित्रण हैं। इसमें मार्क्सवाद का जीवन दर्शन बोलता है कि समाज में ऐसे ज्यादा लोग हैं, फिर भी जीते हैं फिर भी सुंदर हैं। और—'पातहीन डालों के आखिरी किनारों पर'—इसकी इंपोर्टेंस यह है कि उनके जीवन में कहीं एक छोटी घटना होती है जो इन खिले हुए फूलों के समान आकर्षक है। वे उस ओर ध्यान दिलाती है, जिसके पास मार्क्सवादी दर्शन नहीं है वह ऐसी कविता नहीं लिख सकेगा। मेरी अपनी, ऐसी धारणा है।

अशोक : ऐसी रचनाएं भक् से आती हैं या....

केदार : नहीं! इस दृष्टिकोण से समाज को देखो, सौंदर्य को, प्रकृति, को देखो पुरुष को देखो—तो वो (प्रक्रिया) चलती रहती है और अचानक निकल पड़ती है, इसीलिए भक् से होता है।

अशोक : आपकी कविताओं में मांसल प्रेम और पारिवारिक जीवन का जिम्मेदारी भरा प्रेम-जिसमें पति-पत्नी, पास-पड़ोस, दुनिया-जहान की बातें रहती हैं, दोनों मिलते हैं। पत्नी या प्रिया का मांसल सौंदर्य भी आपने खुलकर चित्रित किया है तथा उसका धरैतिन रूप भी कुछ-कुछ इस कहावत को चरितार्थ करनेवाला चित्रित किया है कि—बिन घरनी घर भूत का डेरा। इस तरह प्रेम का जो संपूर्ण रूप है, उसे आपने कैसे अर्जित किया?

केदार : जहाँ तक मांसलता का सवाल है तो मुझे पुरानी कविता से मध्यकालीन, कविता से कुछ संस्कार स्त्री-सौंदर्य के मिले और मैं उसकी ओर आकर्षित होता था। लेकिन देखा हुआ दूर से देखा हुआ, दूसरों को देखकर प्रभावित होनेवाला सौंदर्य, जीवन का सौंदर्य नहीं था। मेरी पहले की कविताओं में यही सौंदर्य मिलता है। बाद को जब मैं जीवन जीने लगा, समाज को समझने लगा, औरतों की हालत देखने लगा कि वे कितनी संव्रस्त हैं, मैंन डॉमिनेटेड सोसाइटी में वे कितनी प्रताड़ित होती हैं तो मैंने लिखा—

लिपट गई जो धूल पांव से
यह गोरी है इसी गांव की
जिसे किसी ने नहीं उठाया
इस कुठांव से।

यहां नारी धूल के रूप में इसलिए आई कि लोग औरतों को 'चरण की धूलि' कहते ही हैं। इसलिए मुझको ऐसा लिखना पड़ा। इसी तरह और कविताएं जीवन से जोड़कर लिखीं—मैंने अपनी भी मानसिकता सुधारी और सोचा कि जो मेरी कविता पढ़ें वे ऐसे ही सोचने लगें। स्त्री और पुरुष दोनों एक-दूसरे के सहभागी बनें।

अशोक : आपने अपनी पत्नी को लेकर जो कविताएं लिखी हैं, विशेष रूप से उनके सौंदर्य को लेकर उनको जब उन्होंने पढ़ा होगा तो उनकी उनपर क्या प्रतिक्रिया हुई?

केदार : ये कविताएं वो पढ़ती थीं तो उन्हें अच्छी लगती थीं। उससे ये अच्छाई हुई कि वो और स्नेह से जुड़ीं। हमारी किताबें, उनके पास 'हे मेरी तुम', 'जमुन जल तुम' और 'गुलमेंहदी' रखी रहती थीं, वो पढ़ती थीं और बहुत प्रसन्न होती थीं। उनपर अच्छा प्रभाव पड़ता था, इन कविताओं का। इससे यह हुआ कि हम और अच्छे लगने लगे उनको।

अशोक : हिन्दी कविता में एक समय ऐसा भी था, आज भी है, कुंठा, निराशा, संत्रास का। आपकी कविताओं में उसके ठीक विपरीत स्थिति मिलती है—आस्था, उल्लास, संघर्ष करने की प्रेरणा का स्वर मिलता है। आपने लिखा है—'जहां दूसरे झरे हैं हम वहां अब भी हरे के हरे हैं?' यह आस्था आपको कहां से मिली?

केदार : यह एकाकीपन, उदासपन इसलिए है, क्योंकि आप जुड़ते नहीं, न प्रकृति से जुड़ते हैं, न पड़ोसी से जुड़ते हैं, न नगर से जुड़ते हैं, न गांव से जुड़ते हैं, न लोगों से जुड़ते हैं, न विचारों से जुड़ते हैं—केवल अपने में सिमटकर के खाते-पीते रहना चाहते हैं। सुविधा से जीना चाहते हैं। उससे जरा-सी तकलीफ हुई तो व्यक्तिगत रूप से कुंठित हो जाते हैं, संतुष्ट हो जाते हैं, वह एक मानवीय सामाजिक जीवन नहीं है। व्यक्तिवादी जीवन है। ये लोग नई कविता में यह करते थे। मैं नहीं कर सका। क्योंकि मार्क्सवादी जीवन दर्शन मेरे पास था, मैं आदमी से पहले ही जुड़ गया था। व्यक्तिवादी चेतना मेरे पास नहीं थी। मैं तो सामाजिक चेतना का, राजनैतिक चेतना का कवि होकर जीता हूँ।

अशोक : आपके बारे में यह कहा गया कि आप छायावाद और प्रगतिवाद के सेतु हैं? इस कथन के बारे में आपकी क्या राय है?

केदार : यह महादेवी ने कहा था। सेतु का जो सवाल है, यह तो अपने-अपने दृष्टिकोण से लोग लेते हैं। हमने कोई सेतु बनाने की कोशिश नहीं की। जैसा हमारा जीवन बनता जाता था, जैसी हम कविताएं लिखते जाते थे। वे काल्पनिक और घर में बैठकर लिखी जानेवाली कविताएं थीं। हम तो जीवन से जुड़े हुए थे, इसलिए हम वैसी कविताएं नहीं लिख सकते थे।

अशोक : क्या साहित्य में राजनीति का मार्गदर्शन करने की क्षमता होती है? वह मशाल का काम कर सकता है?

केदार : मशाल नहीं है साहित्य। वह मानसिकता बदलता है, धीरे-धीरे बदलता है।

अशोक : कुछ चिंतकों की मान्यता है कि राजनीतिक आंदोलन तेज हो तो रचनाकार को आंदोलन से प्रेरणा लेनी चाहिए। लेकिन जब राजनीतिक आंदोलन कुंद हो तो क्या करना चाहिए रचनाकार को? उसे जनता से प्रेरणा लेना चाहिए या नहीं?

केदार : उन्हें जनता से प्रेरणा लेनी चाहिए। यही होना चाहिए बजाए इसके कि व्यक्तिवादी हो जाए अपनी निजता को चित्रित करने लगे। बल्कि होना यह चाहिए कि उनकी निजता में अपनी निजता खो दें और एक मानवीय चेतना का प्रसार और विकास करें।

अशोक : आपकी पत्नी जब मृत्युशय्या पर पड़ी थीं मद्रास में तो आपने अपने एक पत्र में लिखा था कि मैं महाकाल को, कविताओं का घेरा डालकर रोक रहा हूँ, ताकि मेरी पत्नी का जीवन जय पाए। तो कविता के प्रति इतनी गहन आस्था आपको कैसे मिली?

केदार : मैं महाकाल को कविता से इसलिए चैलेंज देता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं चला जाऊँगा, तब भी मेरी रचना, जो प्रकृति से समकक्ष एक दूसरी सृष्टि है, जो मैंने अपनी अर्जित-चेतना से की है, वह बनी रहेगी। मैं जानता हूँ कि मेरी पत्नी मर जाएगी, उनकी देह चली जाएगी, लेकिन यदि मैं उन्हें अपनी चेतना में बनाए रहूँ, अपनी कविता में जिलाए रहूँ तो हम और वो बराबर जनजीवन की चेतना में विकसित बने रहेंगे। जब भी लोग मेरी कविता पढ़ेंगे, तो हमको और उनको जीवित समझेंगे।

अशोक : आप नए से नए रचनाकारों को पढ़ते हैं। आपको उनके अंदर किस प्रकार की संभावना के संकेत मिलते हैं?

केदार : आदमी कैसा हो, कैसे जिए उसकी समस्याएं वे नहीं पकड़ पाते। कहीं कोई गाकर अपनी तृप्ति कर लेता है, कहीं अखाड़ेबाजी कर लेता है; बड़बोलापन प्रकट कर देता है। लेकिन जो एक मानसिकता होती है, तब चीजों का समाहार करके, एक सही दृष्टिकोण और दिशा में चलनेवाले साहित्य में, वह आजकल के रचनाकारों की रचनाओं में नहीं है। ये अच्छी चीज नहीं दे सकते, जो टिकाऊ हो सके उसमें सौंदर्य भी हो, आस्था भी हो, और यह सब मानव के प्रति हो। चाहे आपका बैरी ही हो, मानव तो वह भी है। वह अपने को सही समझता है, आप अपने को सही समझते हैं। टकराहट है, द्वंद्व की स्थिति बनी है। अब इसमें कौन आदमी अच्छा है, इसको समझने के लिए आपके पास एक दार्शनिक जीवनदृष्टि होनी चाहिए, उससे परखिए। जो आदमी बदमाश है, बुरा है, वह हिम्मती भी है। आप भी हिम्मती हैं, उसकी बुराई कीजिए और जो अच्छा है, उसकी प्रशंसा कीजिए। उस तरफ लोग जाते नहीं। इसलिए आवश्यकता है कि ये जो समन्वयवाद की प्रक्रिया है, इसे समझिए कि—समन्वय आप करते हैं, यथास्थिति बनाए रखने के लिए ही तो न? इसलिए कि नेतागिरी तो नहीं चलेगी। इसमें लोग पड़े रह जाते हैं, कुछ यशलिप्सा, कुछ पैसा मिलने की उम्मीद और कुछ सहूलियतों में चले जाते हैं। ज्यादातर युवक जो हैं, वह अभी अनुभवहीन हैं, लेकिन अच्छाई यह है कि लिखने में लगे हुए हैं। लिखें—दस-बीस साल में जब अनुभव प्राप्त कर लेंगे, तब अच्छा लिखेंगे। आज तो स्थिति यह है कि पुराने साहित्य को नकार दो। हम तो अपना नया लिखेंगे। हमारे पास भाषा है, हम अपनी, गद्य की तरह की भाषा लिखेंगे, गद्य की कविता लिखेंगे। कौन मना करता है—लिखिए। लेकिन ऐसी कविता टिक नहीं सकती। कविता बतकही नहीं है, बड़बोलापन नहीं है, समझे आप। नए लोग पढ़ते नहीं हैं। यह होना चाहिए। कविता में, सोचा-विचारा हुआ विवेकशील व्यक्तित्व, आपने जो चित्र बनाया है, वह बोले। और वह व्यक्तित्व ऐसा हो जो सबके लिए हितकारी हो। स्वतंत्रता जो आपको मिली है, वह व्यक्तिवादी स्वतंत्रता नहीं है, बल्कि अगर आप अपने विचार को व्यक्त करते हैं, कविता लिखते हैं, तो ऐसा लिखिए कि उससे दूसरे का हित तो हो।

अशोक : यथार्थवादी रचनाओं का इधर कुछ दिनों से बहुत जोर है। तो आप बताएं कि यथार्थ को रचना में कैसे व्यक्त करें?

केदार : यथार्थ तो हमेशा रहा है, लेकिन उसपर लेखन नहीं हुआ। असली यथार्थवाद तो प्रेमचंद ही लाए हैं—संबंधों का, सत्ता का, सांपत्तिक संबंधों का

यथार्थ। जान के, जनजान के, ये मानसिकता है उनकी। यह बहुत आवश्यक है। यथार्थवाद भी अगर दिशाहीन यथार्थवाद हैं...आप कोठे पर जाइए, कोठे का वर्णन ही करते रह जाइए। रंडी की सूत देखी आपने, उस पर मोहे हैं। एक आदमी पागल-सा बना घूम रहा है।...लेकिन आप देखिए कि क्यों है ऐसा, यह इसलिए है कि समाज में जो शादियाँ होती हैं, यों ठीक नहीं होतीं, जबर्दस्ती किसी पर थोप दी जाती है, फिर स्त्रियाँ भी जो आती हैं, वो भी प्रेम में अपने को जोड़ती नहीं है, न पुरुष जोड़ता है। इसका नतीजा यह होता है कि आदमी उच्छृंखल हो जाता है और फिर वह वहां जाने लगता है। ये जरूरी है, उसको एनालाइज करना चाहिए।

अशोक : कविता में इसको कैसे व्यक्त करें?

केदार : कविता में इसको व्यक्त करने के लिए इसका नकाब उतारिए। नेता जी मोटर से आते हैं, धूल उड़ाकर चले जाते हैं। और गांव में कुछ न हुआ, मीटिंग की, बस खत्म। काहे चले गए धूल उड़ाकर? वह यथार्थवादी चित्रण है। ये ऐसे ढंग से चित्रित करें जो इंपैक्ट डाले। आपके दिल को अच्छा लगे और आप याद करें कि ऐ! साले का आना तो बेकार गया।

अशोक : उर्दू और हिंदी के विवाद पर आप क्या कहना चाहेंगे?

केदार : सारा झगड़ा यह है कि वो (उर्दूवाले) समझते हैं कि अगर लिपि चली गई, इधर से (दाहिने से बाएं ओर) लिखना चला गया था जीम, जबर ये सब चले गए, तो उनकी सभ्यता नष्ट हो जाएगी, वे मुसलमान न रह जाएंगे, उनका धर्म चला जाएगा। ये उनके मन में भावना है। बहुत से उर्दू लेखक हैं संस्कृत पढ़ते हैं, संस्कृत बोलते हैं, विद्वानों की तरह बात करते हैं। ये देखिए आप कि शब्द हैं—चाहे उर्दू के हों, चाहे हिंदी के, चाहे इंग्लिश के हों शब्द क्या है, वाक्य क्या है वे आपके चिंतन की चेतना की बात को कहते हैं। वे न हों तो आप अपने को व्यक्त नहीं कर सकते। अंग्रेजी से हिंदी में उलथा करते हो, हिंदी से उर्दू में करते हो, उर्दू से हिंदी में करते हो, ये तो चालू है ही, तो इसमें क्या हर्ज है कि एक लिपि कर दीजिए। इससे सहूलियत हो जाएगी। ये होना चाहिए। मेरी अपनी यही धारणा है भाई।

अशोक : बाबू जी पहले आप देश-विदेश में घटनेवाली घटनाओं से प्रेरित होकर उनपर अपनी प्रतिक्रिया जताने वाली कविताएं लिखते थे, आज लगभग आप ऐसा नहीं कर रहे हैं? देश में—विदेश में तमाम उथल-पुथल करनेवाली घटनाएं हो रही हैं, क्या ये सब आपको छूती नहीं हैं? विशेष रूप से पंजाब की घटनाएं।

केदार : देखिए ये सब होता रहेगा। यथास्थिति बनाए रखने के चक्कर में यही होगा। हर एक स्वायत्तता चाहेगा। हमारा एक प्रांत बन जाए। वे क्या है? ये दिखाता है कि जो लोग इस तरह की डिमांड कर रहे हैं उनकी चिंतन पद्धति क्या है? वे यथा-स्थितिवाद को बनाए रखना चाहते हैं। यही तो है कि पंजाब उनको दे दिया जाए। पंजाब में वे विकास करें, पंजाबी उन्नति कर जाएं और दूसरे प्रांतवाले चाहे पिछड़े ही रहें। ये संकुचित भावना है, शोषणवाली भावना को प्रश्रय देती है।

अशोक : इसको लेकर आप रचनाएं क्यों नहीं लिखते?

केदार : क्या लिखें इस पर? साहित्यकार इसमें कुछ नहीं कर सकता। ये तो ऐसा है कि वन्स आई हैव कम टू नो व्हेयर यू आर, रियलिटी ये है। इस रियलिटी को तो हम पहले ही कह चुके हैं तो हम इसमें बार-बार क्या लिखें? अब तो हम ऐसी कविता लिखना चाहते हैं जिसको लोग पढ़ेंगे-समझेंगे तो मौत से मुकाबला कर सकेंगे। जैसे हम शिथिल हो गए हैं, पर मौत से लड़ रहे हैं। मौत से लड़ने का यही तो एक तरीका है और कोई तोप-तलवार तो है नहीं। मौत क्या है? जिनसे आप जुड़े हुए हैं जिन-जिन चीजों से, समस्याओं से, उनके समाधानों से देश-विदेश से, उन सबसे टूटना ही मौत है। इनसे कटते चले जाते हैं, यही मौत है। अगर इनको आप जोड़े रखिए तो मौत जल्दी नहीं आएगी।

अशोक : आपको सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार मिला, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान ने पुरस्कृत किया, भोपाल में 'महत्व' कार्यक्रम हुआ, बांदा में परिमल प्रकाशन ने सम्मानित किया, अभी आपको साहित्य अकादमी पुरस्कार भी मिला। इन सम्मानों और पुरस्कारों को आप किस रूप में देखते हैं?

केदार : देखिए ! सम्मानों या पुरस्कारों के लिए मैंने कभी न सोचा, न लिखा, क्योंकि मैंने जो जीवन-दर्शन पा लिया है, उससे मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूँ कि अगर इस जीवन-दर्शन से हम आगे का जीवन नहीं बना पाते तो हम मर गए और हमारे लिए इन पुरस्कारों का कोई मूल्य नहीं रहेगा। लेकिन इससे एक फायदा जरूर हुआ कि हमको अभी तक लोग जो उपेक्षित किए रहे अब उपेक्षा न करेंगे। बस इतना फायदा हमको मिल सकता था कि लोग पढ़ेंगे और हमारी मानसिकता को शायद ग्रहण करेंगे। हमारी कविता में तो उससे (पुरस्कारों से) कोई लाभ हुआ नहीं, और जहां तक आर्थिक प्रश्न है, मिल गया तो काम देवे करैगा। हम ऐसे हैं नहीं कि पैसा मिल गया तो हम बिक जाए। हम बिकनेवाले तो हैं नहीं। वो पुरस्कार देते हैं, किन कवियों को देते हैं, कैसे देते हैं, वही जानें, दे दिया,

चलो ले लिया। न देंगे, न लेंगे। हमको क्या, हम अपनी कविता लिखबैं करेंगे।

अशोक : आप क्या सोचते हैं कि रचना का क्या कर्म होना चाहिए?

केदार : 'कला केवल कला के लिए हो' यह नहीं होना चाहिए। रचना जीवन से उद्भूत हो और जीवन में समाहित हो, दोनों हो। अच्छी कविता, जो आदमी नहीं है, उससे अच्छा आदमी बन जाए, यह करती है। कविता तभी अच्छा आदमी बनाएगी जब कवि स्वयं भी अच्छा आदमी हो और कविता भी अच्छी हो, उसमें आदमी की बात हो। सही दृष्टि दे, सही दिशा दे, कविता का यह मुख्य धर्म है। व्यंग्य ही व्यंग्य लिखकर तो नहीं जी सकता आदमी? केवल मारकाट, आक्रोश व्यक्त करके ही तो नहीं जी सकता! न कविता ही खड़ी रह सकती है। नारेबाजी ही तो हमेशा नहीं हो सकती। हमारे जो मूल्य हैं, आदर्श हैं, उनको अपनाइए और कविता लिखिए, चरित्र निर्माण कीजिए।

अशोक : आज की आलोचना आपको कैसी लगती है?

केदार : जैसी सारे देश की राजनीति है। वह भटकती रहती है इधर से उधर जाती रहती है, साहित्य में आलोचना ऐसी ही है। वहां भी खेमेबाजी है। वहां भी दलबंदी है और वहां भी एक-दूसरे के खिलाफ और यश पुरस्कार देने की व्यवस्था रहती है तनाव रहता है। अब जैसे मेरी कविता है—किसी की आलोचना करनी हो तो वह केवल यह न करे कि हां! अच्छा लिखता है। सुन लिया दस आदमियों से कि अच्छा लिखता है और आपने भी कह दिया कि बड़ा अच्छा कवि है। कवि की प्रत्येक रचना आलोचक को पढ़नी चाहिए और उसको पढ़कर निष्कर्ष निकालना चाहिए कि दिशा और दृष्टि कहां जा रही है, ये देखना चाहिए। लेकिन ये नहीं होता। एकाध समर्थ आलोचक कर रहे हैं ऐसा, वरना तो सब दांव-पेंच में—राजनीति के चक्कर में पड़े हैं। अपने को स्थापित करते हैं, अपने को महान घोषित करते हैं, ये हर जगह है। कविता में भी है। आलोचना में है। जीवन में है, तो वहां भी है।

अशोक : इसे कैसे दूर किया जाए?

केदार : उसको दूर करने का तो यही साधन है कि आपकी सही समझ विकसित हो, ईमानदार और निश्चल होकर आप समर्पित हों आदमी के प्रति। आदमी उन्नति करेगा तो आप उन्नति करेंगे ही। आपकी आदमीयत को निखारे वह।

अशोक : आलोचना का प्रतिमान?

केदार : यही कि दिखाएं कि कहां तक वह (रचना) आदमीयत को व्यक्त करती है?

अशोक : तो आलोचना रचना में आदमीयत की खोज करे और जो रचना आदमीयत को ज्यादा उजागर करे, वह रचना अच्छी रचना है, जो नहीं करे, वह खराब रचना है।

केदार : हां! वो प्रगतिशील नहीं कही जाएगी, जनवादी भी नहीं कही जाएगी। वह रूढ़िवादी है—पतनशील है। आलोचना भी यही करेगी तो वह भी होगी। आलोचना तो बाद की चीज है। आलोचना आपको दिखा सकती है कि आपने यह गलती की है, या सही किया है। ऐसे आलोचक कहां पैदा हुए कि जिन्होंने आपको दृष्टि दी हो। वह तो जीवन-दर्शन से प्राप्त होती है, उसे आप जीवन के व्यवहार से संघर्ष करके प्राप्त करते हैं। आलोचक कविता की दिशा और दृष्टि नहीं दे सकता। जैसे भी तो कविता लिखता है, उसे आप दिशा और दृष्टि दें भी तो वह उसे स्वीकार करे या न करे (यह उसी पर निर्भर है)। आलोचना कविता का गुरु नहीं बन सकती; कविता की एक झलक दे सकती है, सही या गलत की। कविता लिखना, कहानी लिखना चाहिए—अच्छे आदमी बनाने के लिए। अगर आप प्रतिबद्ध हैं, तो स्वाभाविक है कि आप आदमीयत की कद्र करेंगे—जीवन दर्शन पढ़ेंगे। नया-पुराना साहित्य पढ़ेंगे, आज के जीवन को देखेंगे—उसे एनालाइज करेंगे, उसका विश्लेषण करेंगे, संश्लेषण करेंगे और फिर शब्दों का प्रयोग रचना प्रक्रिया में करेंगे।

P

आत्मपरकता और वस्तुपरकता का द्वन्द्व ही रचना-धर्म है

(केदारनाथ अग्रवाल से कमलाप्रसाद की बातचीत)

(केदारनाथ अग्रवाल हिन्दी की प्रगतिशील कविता के जन्मदाता कवि हैं। उनकी कविता में उस आन्दोलन का जन्म, शैशव, यौवन और प्रौढ़ता सभी स्थितियों के प्रमाण-विकास की प्रक्रिया में मिलते हैं। रचना-प्रक्रिया में गुणात्मक विकास होता रहा है न केवल कथ्य के क्षेत्र में, वरन् आवयविक संरचना में भी। कुछ समीक्षकों ने उन्हें रूपवादी इसलिए कहा कि वे रूप के भीतर ठोस कथ्य को नहीं पकड़ पाये। उनकी निगाह कविता के रूप के इर्द-गिर्द मँडराती रही। हकीकत यह है कि केदार जी की कविता के रूप की समझ अकेले हो नहीं सकती। रूप के भीतर धँसते ही भीतर का कथ्य पूरे बौद्धिक आवेग के साथ उमड़ पड़ता है।

एक बार केदार जी सागर गये थे। उन्होंने अपनी चुनी हुई कविताएँ कई-कई चरणों में सुनार्यीं। लोगों के आग्रह पर उन्होंने सधा हुआ वक्तव्य दिया। इस अवसर पर कमलाप्रसाद से उनकी लम्बी बातचीत हुई, एक तरह से साक्षात्कार की तरह। जिसमें कवि ने ईमानदारी से अपने समय के साक्ष्य की पृष्ठभूमि में काव्य और समीक्षा के सम्बन्धों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला।)

कमलाप्रसाद : केदार जी, आप तो हिन्दी प्रगतिशील कविता से उस समय से ही जुड़े रहे हैं, जब से यह आन्दोलन के रूप में शुरू हुई। लगभग चालीस वर्ष हो गये, इस आन्दोलन के। मैं यह समझना चाहूँगा कि आप कविता के माध्यम से आन्दोलन से जुड़े या विचारधारा के माध्यम से। कौन-सी चीज है, जो आपको इस ओर ले आयी?

केदारजी : कविता से तो मैं बहुत पहले से जुड़ा हुआ था, पिता जी की वजह से। लेकिन जब सन् 34-35 में निराला जी के सम्पर्क में आया और मुझे हवा में राजनीति का एहसास हुआ, रामविलास शर्मा तो मेरे दोस्त थे ही-तो इन लोगों की वजह से मैं प्रगतिशील आन्दोलन से जुड़ गया। अगर ये न होते, तो शायद मैं उस ओर न जाता, मेरी सम्बद्धता वहाँ न होती। इसलिए कि मेरा स्वभाव है कि जब तक कि कोई आदमी मुझे ठीक से न मिले, तब तक मैं उससे नहीं मिलता। तो बात यह है कि मैं इन्हीं दो-तीन लोगों की वजह से, कहीं निराला की वजह से, कहीं पी० सी० गुप्त की वजह से और कहीं रामविलास शर्मा की वजह से और दूसरे 'हंस' की वजह से आन्दोलन से सम्बद्ध होता गया। इसके पहले कविताएँ लिख 484 / संचयिता : केदारनाथ अग्रवाल

रहा था, लिखता जाता था, मैं किसी को जानता नहीं था, तो उनका क्या होता? 'हंस' ने सबसे पहले मुझे सहयोग दिया। जो कुछ भी लिखूँ-रद्दी या अच्छा, उसमें छप जाता। बी० ए० में मैं इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में हिन्दी-साहित्य परिषद् का सेक्रेटरी बना। एक बार इसकी ओर से कहानी-प्रतियोगिता हुई। प्रेमचन्द उसमें मुख्य अतिथि थे। पहली बार निकट से उन्हें देखा। उनके भाषण का भी प्रभाव पड़ा। पी० सी० गुप्त अच्छे सदस्य मित्र थे; कम बोलने और अच्छा लिखने वाले, रामविलास जी तो जरा तेज-तर्रक आदमी थे। मैं इन सबसे जुड़ा और आन्दोलन का अंग बनता गया।

कमलाप्रसाद : रामविलास शर्मा और पी० सी० गुप्त का जो आपने नाम लिया, तो यह तो सभी को मालूम है कि ये प्रगतिशील-आन्दोलन के बहुत से बड़े कार्यकर्ता रहे हैं। लेकिन निराला के बारे में जो आपने कहा, तो निराला जी की राजनीतिक स्थिति के बारे में कुछ कहेंगे आप?

केदारजी : भाई निराला कोई मार्क्सवादी तो थे नहीं। वे किसानों से हमदर्दी रखते थे और यही सिखाते थे। इन्हीं बातों को या और भी—वे बहुत अच्छी तरह कविताओं में व्यक्त करते थे। वे कविता को बहुत गम्भीरता से लेते थे। उनकी कविताएँ बहुत अच्छी होती थीं। उनकी मानसिकता कविता में कलात्मक होकर आती थी। यही कारण है कि निराला मुझे बेहद पसन्द थे। रामविलास शर्मा जी निराला को पढ़ते थे, वे उनके समर्थक थे। मैथिलीशरण भी थे, उस जमाने में और दूसरे तमाम लोग इलाहाबाद में लिख रहे थे। लेकिन मुझे कोई प्रभावित नहीं कर सका। एक बात बता दूँ कि मैं प्रगतिशील-आन्दोलन से जुड़ा और जुड़ तो जरूर गया, लेकिन उसमें सक्रिय नहीं था। उसकी गतिविधियों में बहुत पार्टिसिपेट नहीं कर पाता था; क्योंकि मैं बाँदा आता-जाता रहता था। मेरे चाचा जी बहुत ही कठोर अनुशासन रखते थे।

क० प्र० : रूढ़िवादी थे?

केदारजी : नहीं, रूढ़िवादी तो नहीं थे, पर वे कहते थे कि पहले कचहरी का काम करो, पहले अपना कर्तव्य करो, कविता तो शौक है, कभी-कभी कर लो। यह नहीं कि उसके पीछे निरन्तर दौड़ते रहो।

क० प्र० : आपने आरम्भ में कुछ ब्रजभाषा की कविताएँ लिखीं और फिर आपने कहा है कि रामकृष्ण सिलीमुख आदि के प्रभाव से छायावादी किस्म की कविताएँ लिखीं, तो जो यह प्रगतिशीलता की ओर आपका झुकाव हुआ, तो इस दृष्टि से आप अपनी सबसे पहली प्रगतिशील कविता किसको कहेंगे-क्या याद है ऐसा कुछ?

केदारजी : सबसे पहली प्रगतिशील रचना का मुझे स्मरण नहीं है....सन्' 38 से स्पष्ट रूप से मुझे राजनीतिक चेतना का एहसास होने लगा था और मेरी मानसिकता, कवि वाली मानसिकता-उस तरफ अपने-आप जाने लगी थी। मैं आदमी पर लिखूँ, किसान या औरत पर लिखूँ—चाहे जिस विषय पर लिखूँ—उसी मानसिकता से लिखता था। मुझे, प्रगतिशीलता-विरोधी जितने लोग थे, सब बेईमान दिखते थे। कुछ मेरी नैतिक धारणा ऐसी बनी कि इस व्यवस्था में लगे सभी आदमी, सब-के-सब बेईमान थे। इसी जाँच-पड़ताल में गरीबों के प्रति मेरी हमदर्दी बढ़ती गयी। एक बात कहूँ कि मैं कुलीन घराने में जन्मा जरूर, लेकिन मुझे मेरी बतसिया कहारिन अपने घर उठा ले जाती थी। उसके यहाँ मैं बासी भात और मट्टा खाकर वहीं सो जाता था। अपने घर के पकवान मुझे अच्छे नहीं लगते थे, मैं घर के पकवान ले जाता था, तो उस मोहल्ले के बच्चों को बाँट देता था। वे लोग बेर तोड़ लाते थे और सूखी-सूखी रोटियाँ। तो ये चीजें मैं प्रेम से खाता था।

क० प्र० : मूल संवेदनाएँ आरम्भ से ही उस ओर रही हैं—स्वाभाविक ढंग से?

केदारजी : हाँ, क्योंकि देहात का वातावरण था। वहाँ चाहे जितने पैसे वाले हों, साधारण जिन्दगी से सम्पर्क होता ही है। स्वभाव यदि इस तरह हुआ, तो आभिजात्य से तुरन्त मुक्ति मिल जाती है।

क० प्र० : कविता के ऊपर, मुझे ऐसा लगता है कि बहुत सारे प्रभाव पड़ते हैं और इन्हीं वास्तविक प्रभावों के कारण कवि विकास करता है। राजनीति का भी प्रभाव पड़ता है, बदलती हुई राजनीति का। इसी के साथ आदमी का अनुभव बढ़ता जाता है। लेकिन एक और प्रभाव सबसे महत्वपूर्ण होता है—समीक्षा का। तो आप जब कवि के रूप में सामने आये, तो वह समीक्षक, जिसने सबसे पहले आपकी कविता की समीक्षा की? क्या आपके ऊपर पढ़ने वाले तमाम प्रभावों के अन्तर्गत यह एहसास है कि किसी समीक्षक का भी आपके ऊपर असर पड़ा?

केदारजी : कविता के विषय में मेरी बातचीत रामविलास शर्मा से होती थी। जब मैं लखनऊ जाता, तो अपनी कविताएँ उन्हें सुनाता। वे कीट्स, शैली, मिल्टन के बारे में बातें करते थे, शेक्सपीयर के बारे में भी, वे अपनी थीसिस लिख रहे थे—उनसे डिस्कशन होता था। मैं इतना पढ़ा तो था नहीं—इसलिए ज्यादातर उनकी बातें सुनता रहता था। उनकी बातें सुनकर और फिर उन्हें पढ़कर मैंने जाना कि अच्छी कविता क्या होती है। संसार में जो अच्छी कविताएँ लिखी गयीं, उनके क्या

गुण हैं? साथ में निराला जी तो थे ही—उनकी पकड़ देखी। मैं देखता रहता था कि कैसे लिखते हैं? इस तरह मैंने ज्यादा सीखा, बजाय समीक्षा के। मेरे जमाने में ऐसा कोई समीक्षक नहीं मिला, जो मेरे बारे में लिखे और मैं उसकी बात मान लूँ। मैं तो पूरी तरह से जमीन और जिन्दगी से जुड़ा हुआ था। मेरा दृष्टिकोण मानववादी था। इतना जानता था कि आदमी को बेईमान नहीं होना चाहिए, किसी को छलना नहीं चाहिए। जैसे-जैसे राजनीतिक चेतना बढ़ी, व्यवस्था के दोष गहराई से समझ में आते गये और कविता के बारे में यह मालूम हुआ कि क्या होना चाहिए, क्या नहीं—तो रोजमर्रा की बातों को भी कलात्मक ढंग से लिखना शुरू किया। मैंने जाना कि कविता के साथ भी खूब मेहनत करनी चाहिए—तभी वे टिकाऊ हो सकती हैं। पहले मैं मैथिली शैली में इतिवृत्तात्मक कतिवाएँ लिखता था, पर जैसे-जैसे धीरे-धीरे कला के संस्कार मिलते गये, वह शैली छूटती गयी। कविता के साथ जहाँ तक मेरे दार्शनिक या विचारधारा का सम्बन्ध है, मैं सक्रिय रूप से उसकी राजनीति में भाग तो लेता नहीं था, पर व्यवस्था को देखकर जो मुझे गुस्सा आता, तो मैं उसे उसी विचारधारा से समझता था। यह तो जानता ही था कि ये सब बातें सीधे तरीके से व्यक्त करने से कुछ नहीं होगा। मैं अपने आब्जेक्ट तक पहुँचने के लिए, अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए निरन्तर मानसिक संघर्ष करता था। मैं कवियों से कहता हूँ कि कविता में इसी तरह की कोशिश कीजिए—चाहे लक्ष्य तक पहुँच पाएँ या न पहुँच पाएँ, लेकिन डायरेक्शन आपका वही होना चाहिए। जैसे मैं खेत देखता हूँ, किसानों की फसल खड़ी है, तो सोचता हूँ कि अगर ये बातें इस कलात्मक ढंग से व्यक्त करूँ कि इनका प्रभाव पड़े। कलात्मक अभिरुचि का अर्थ यह नहीं कि मैं कलावादी हूँ। मैं कलावादी हो ही नहीं सकता, क्योंकि मेरा प्रधान क्षेत्र जिन्दगी और जमीन है। प्रश्न केवल प्रभावशील बनाने का है।

क० प्र० : रामविलास शर्मा या निराला ने कभी आपकी कविताएँ पढ़कर आपके सामने उनका विश्लेषण किया, आपके सामने कभी ऐसा हुआ क्या?

केदारजी : नहीं, ऐसा कभी नहीं हुआ। निराला जी ने एक बार जरूर कहा था कि केदार अगर दो घण्टे रोज कविता को दो, तो कमाल हो जाय। बैण्डन होटल में चाय की चुस्की लेते हुए उन्होंने कहा था कि तुम अच्छी कविता लिखोगे। जहाँ तक रामविलास जी का सम्बन्ध है, वे हमें क्रिटिसाइज ज्यादा करते थे। सामने हों या पत्रों में, कविता के बारे में वे हमेशा यही कहते थे कि अभी अच्छी कविता नहीं लिखी। और अच्छी लिखो।

क० प्र० : मैं मानता हूँ कि कविता के विकास में रचना और आलोचना का द्वन्द्व लगातार रचनाकार के दिमाग में चलता रहता है। नकारात्मक ढंग से बिना कविता को समझे भी यदि लोग समीक्षा लिखते हैं, तो भी कवि उद्वेलित होता है। यह द्वन्द्व रचनाकार के विकास में प्रभाव डालता है। आपकी कविताओं को भली-भाँति समझते हुए या बिना समझे पक्ष-विपक्ष में ऐसी कौन-सी पहली समीक्षा देखने को मिली, जिसमें आपकी कविताओं पर बातचीत हो। कुछ याद है आपको?

केदारजी : मुश्किल यह है कि मैं बाँदा में था। वहाँ कोई कविता की अच्छी पत्रिका आती नहीं थी। 'नया साहित्य' छपा, तो वही आ जाता था या कहीं हमने लिखा तो उस पत्रिका का अंक आ जाता था। मैं बाद में इलाहाबाद में भी नहीं रह सका, इसलिए यहाँ जो भी होता रहा, मुझे जानकारी नहीं मिल पाती थी। मेरा पत्र-व्यवहार रामविलास से होता था या अमृतराय से। अमृतराय मेरे खूब समर्थक थे, जो लिखता छापते जाते। त्रिलोचन शास्त्री, जब हुए, तो उन्होंने भी प्रोत्साहित किया। एक बार हमने सुना कि हमारी कविता में औरत को पुरुषों के साथ संघर्ष के लिए निकलने की भावना को लेकर, उस समय कुछ लोगों ने काफी विरोध किया। 'देशदूत' के सम्पादक ने तो लिखा कि यह आदमी बहुत खराब लिखता है। हम 'देशदूत' की राजनीति जानते थे, इसलिए और प्रभाव नहीं पड़ा। इससे ज्यादा किसी समीक्षा से हम अवगत नहीं हुए। हमको तो एक दिशा पहले ही मिल चुकी थी—निराला की काव्य-साधना। और हमारी कविता की दिशा का इसी से विकास हुआ। हमारी कविता को एनालाइज कोई नहीं करता था। रामविलास जी कीट्स के प्रशंसक थे, मैंने पढ़ा, तो मैं भी प्रशंसक हो गया।

धीरे-धीरे मैं मार्क्सवादी साहित्य को गहराई से पढ़ता रहा और मेरी मानसिकता विकसित होने लगी। भावुकता कम हुई। शब्दों में सत्य को पकड़ता रहता, विवेकपूर्ण तर्क करता। यकीन मानिये कि अभी तक जितने लोगों ने लिखा है, किसी ने भी यह नहीं बताया कि कविता की जान क्या है? कविता का गठन, थोड़े शब्दों का चुनाव—उनके पीछे छिपा सत्य—किसी ने उद्घाटित नहीं किया। जैसे कोई मजदूर पर कविता लिखे, तो समीक्षक कहेगा जनवादी कवि है, अच्छा कवि है, मार्क्सवादी है। प्रेम कविता पर समीक्षक ने कहा कि यह मार्क्सवादी नहीं है—प्रेम कविताएँ लिखता है। आप बताइये कि इस तरह की समीक्षा का क्या हो? कैसा उसका प्रभाव पड़ेगा? मैं तो सत्य पकड़ने के लिए संघर्ष करता था, जब यह सोचता था कि उसको व्यक्त कर पाने में समर्थ हूँ, तो उसे लिखता। जैसा आपने

कहा कि रचना के स्तर पर आलोचना भी अपने-आप होती रहती है। यह ठीक है। मैं खुद अपनी आलोचना लगातार करता रहा हूँ। मेरा विचार है कि यदि कोई ऐसा नहीं करता तो वह पिटी-पिटाई कविता लिखेगा। वह नासमझी कि इतिवृत्तात्मक कविता लिखेगा। वह युग से नहीं जुड़ सकता। कविता में एक रोमान्स होता है, शुरू से अब तक मेरा कविता से चला। मैं उसी में डूबा रहता था। कविता दिनों तक मन में घूमती रहती, पंख फैलाये उड़ती रहती, कवि भी उसी में उड़ने लगता है। हरिण की तरह वह भी कविता के साथ मेहनत करता है, जीवन-दर्शन उसके पास है, तो वह विकास करता है। आलोचक को डटकर आलोचना करनी चाहिए—कवि को खुद आत्मालोचन करना चाहिए। महीनों के मानसिक आलोड़न-विलोड़न से कविता बनती है। उसे बार-बार बनाना पड़ता है, जब तक पूरा सत्य पकड़ में न आ जाये।

क० प्र० : आपकी बातचीत से लगा कि कवि के लिए आलोचना दो स्तरों पर काम करती है। एक तो आलोचक क्या लिख रहे हैं उसके बारे में और दूसरी बात यह है कि कवि स्वयं अपने विकास के सन्दर्भ में-दूसरे-दूसरे कवि और आलोचकों को पढ़कर जो आत्मालोचन करता है। आत्मालोचन का महत्त्व बहुत है। आपने नाम लिया नेरूदा, कीट्स, लेनिन, निराला, रामविलास शर्मा, आदि का। आपने इन सबको पढ़ा और अपनी कविता की पड़ताल की। तय हुआ कि आपके विकास की ज्यादातर प्रक्रिया आत्मालोचन की रही है। बाहरी जगत् से आनेवाली आपकी कविताओं की समीक्षा का आप पर प्रभाव कम पड़ा है।

केदारजी : कम क्या, बिल्कुल नहीं पड़ा है। मुझे जितना निराला प्रभावित करते हैं, उनको पढ़ने के बाद जितना प्रभाव ग्रहण करता हूँ—उतना दूसरों से नहीं। एक-एक कविता को तौलता हूँ उस वजन में। दूसरों की कविताओं में भी कृतित्व ही देखता हूँ। इसलिए मेरा ध्यान कृतित्व-प्रेमी है—आलोचना-प्रेमी नहीं। मेरी कोई प्रशंसा करे, तो मैं खुश नहीं होता। मैंने पहले ही कहा न कि मरने के पहले जितनी चेतना अपने इस छोटे-से शरीर में विकसित कर सकें, करना चाहता हूँ।

क० प्र० : हिन्दी में रचना और आलोचना का समानान्तर विकास नहीं हो पा रहा है। छायावाद हो या प्रगतिवाद, रचनाकारों को हमेशा समीक्षकों से शिकायत रही है। बहुत-से कवियों को शिकायत रही है कि समीक्षकों ने उनके साथ न्याय नहीं किया। यही शिकायत समीक्षकों से, क्या आपको भी है?

केदार जी : मुझे ऐसी खास शिकायत नहीं रही। हाँ, यह जरूर कहता हूँ कि हमारे पुराने जमाने के जो समीक्षक थे, उनकी तेज-तराक समझ नहीं थी। वे

कविता की बारीक समझ नहीं रखते थे, जिससे वह समझते कि क्या है कविता में, क्या नहीं है और क्या होना चाहिए? समीक्षा की एक रटन्त परम्परा चली आ रही है, उसी से वे हर रचना पर बात करते रहे। भाषा पर कुछ बातचीत कर ली, बस। मैं उन्हें कहता हूँ कि वे चाहे जैसा लिखें, खूब लिखें। उनकी प्रशंसा से मेरी कविता में कोई सुधार नहीं होगा। इसीलिए तो मैं कृति-प्रेमी हूँ न। जानता हूँ कि मैं अच्छा तभी लिख सकूँगा, जब मैं उसमें कृतित्व के सारे लक्षणों को देख लूँगा। मैं अपनी रचना-प्रक्रिया के अनुसार अपनी समर्थ शब्दावली में लिखूँगा। नासमझी की बोल-बातों से मैं पराजित नहीं होता। मैं जनसत्य के अलावा किसी से पराजित नहीं होता—आलोचक से पराजित होने का प्रश्न ही नहीं।

क० प्र० : आपने कविता में रचना-कौशल पर काफी जोर दिया। इस स्थिति में शिल्पवादी प्रभावों से बचना भी काफी सतर्कता का काम है? आप कैसे बचा लेते हैं?

केदारजी : रचना में काव्य और शिल्प दोनों को अलग-अलग करके नहीं देख सकते। अज्ञेय वगैरह ने यह गलती की या जान-बूझकर उन्होंने यह किया। प्रगतिशील आन्दोलन को डाऊन करने के लिए यह बड़ा षड्यन्त्र चलता रहा है—कथ्य को शिल्प से, जीवन को राजनीति से, समाज को आदमी से अलग कर देने का व्यक्ति को अकेला ठूँठ की तरह खड़ा कर देने का। जो आदमी सतर्क है—वह इस खतरे को पहचान लेता है। प्रश्न यह जरूर है कि हम जो बात करना चाहते हैं, वह जितनी अच्छी तरह से कहेंगे, आप उसे उतनी ही अच्छी तरह से पसन्द करेंगे। पसन्द करने के बाद ही आपकी मानसिकता बदलेगी। मसलन गुलाब का फूल है, उसको लेकर हजार तरह से लोगों ने कहा, पुराने, नये सभी ने। सभी भाषाओं में, उमर खय्याम ने भी, बच्चन ने भी कहा। सब अपनी-अपनी तरह से। सवाल यह है कि शिल्प भी स्थायी नहीं होता और न कथ्य ही। सबका ऐतिहासिक विकास-क्रम है। इस ऐतिहासिक विकास-क्रम में खूबसूरती है, चतुरता है, बुद्धिमता है। यह कि हम ऐसी-ऐसी चीजें दें, जो अभी तक नहीं दी गयीं। साहित्य में जो अभी तक नहीं आयीं। शिल्प और कथ्य को इसीलिए साथ-साथ लेकर चलना जरूरी होता है।

क० प्र० : रचना-प्रक्रिया में कथ्य और शिल्प का भी द्वन्द्वात्मक रिश्ता होता है, यही बात शायद आप कह रहे हैं?

केदारजी : हाँ, कविता की रचना-प्रक्रिया में दोनों साथ-साथ चलते हैं जो काव्य मेरा है, वह भी रचे जाने के पूर्व मेरे सामने पूरी तरह स्पष्ट नहीं रहता। कविता लिखने के लिए जब भावातुर होता हूँ, तो कथ्य किसी-न-किसी आकार में सामने आता है, उस कथ्य और आकार में फिर-फिर सुधार होता है, संघर्ष होता है और इसी तरह विकास होता है। यह प्रक्रिया एक दिन में या दस दिन में, जितने समय में सम्पन्न होती है, एक मूड चलता रहता है। इस दौरान कथ्य भी अपना रुख बदलता रहता है, कभी-कभी तो रचे जाने पर बिल्कुल दूसरा हो जाती है। इसे यों कहें कि मान लीजिए, एक बच्चा है, भाषा उसके पास है, तुतलाकर माँ या मम कहता है। वह पानी या कुछ भी माँगता है। उसके पास शब्द का एक टुकड़ा होता है, जिसमें वह कहता है। औरों की नजरों में वह कह नहीं पाता। पर माँ उसे समझ लेती है। कविता की स्थिति यही होती है। जब हम कोई बात कहना चाहते हैं, राजनीति में या और जगह काम करनेवाले लोगों को मानसिकता बदलने के लिए-तो हमें चुनाव करना पड़ता है। नगर की बदमाशी, घूस या भ्रष्टाचार या नदी के बारे में, कविता लिखते हैं, तो उस काव्य का विश्लेषण चलता रहता है। जब हम पूरे आब्जेक्ट को पकड़कर तैयार हो जाते हैं मानसिक प्रक्रिया में, तो वह ऐसी चीज बन जाती है, जो लोगों को पसन्द आये। बच्चा बड़ा हुआ, तो रोने में फर्क आ गया। कवि प्रौढ़ हुआ, तो उसका कथ्य और शिल्प दोनों विकसित हुए। यह विश्लेषण आत्मालोचन और रचे जाने की द्वन्द्वात्मक क्रिया है। कविता की तीन पंक्तियाँ तैयार होती हैं, पर इसके पूर्व न जाने कितनी पंक्तियाँ बेकार सिद्ध हो जाती हैं।

क० प्र० : रूपवादी कहते हैं कि एक समय के बाद रूप-तत्व पुराने पड़ जाते हैं, इसलिए उनकी जगह नये रूप-तत्वों का चुनाव जरूरी होता है। इसे वे रचना के विकास के अर्थ में ही कहते हैं। आपकी क्या राय है?

केदारजी : इस बारे में मैं बहुत-कुछ कहना चाहता हूँ। मैं कह चुका हूँ कि मैं शिल्प को भी ऐतिहासिक विकास-क्रम में देखता हूँ, जहाँ बिल्कुल छोड़ देना असंगत है। अज्ञेय ने कहा कि उपमान मैले हो गये, झूठे हो गये, इसलिए बेकार हो गये। इस तरह प्रतिमानों को रिजेक्ट करने की बात गलत है। हम या हमारे बच्चे परम्परा के समाज से आ रहे हैं, उस तरह का साहित्य पढ़ रहे हैं, तो उन्हें वे ही उपमाएँ मिलती हैं, उन्हीं के संस्कार उनमें बन जाते हैं। संस्कार बन जाने पर उन उपमानों से उनका सम्बन्ध-तत्व भी जुड़ता है। ये उपमान हमारे लिए प्रभावशील भले न हों, पर वे जो उस वातावरण में हैं, जिनकी संख्या ज्यादा है, कैसे उनसे

छूट सकते हैं? उसकी जिन्दगी में जब रोमान्स पर अन्य सम्बन्ध उपस्थित होते हैं, तो वे इन उपमानों का प्रयोग करते हैं पूरे सम्बन्ध बोध के साथ। हाँ, यह ठीक है कि हमारा नाता बदले, समाज बदले, स्थितियाँ बदल जाएँ। हमारा विकास तेज हो और तब हम ऐसा नया रूप-तत्व गढ़ें, तो वह विकास हुआ। कथ्य के बदल जाने पर रूप-तत्व का बदलना ठीक है। एकान्त में कुछ निर्णय लेना उचित नहीं। ऐतिहासिक क्रम से आगे बढ़ने पर ही हमारा साहित्य आगे बढ़ेगा।

क० प्र० : यह तो सही है कि कथ्य में व्यापक परिवर्तन होने से ही लोगों के रागात्मक सम्बन्ध बदलते हैं। जैसे पहले सुख के सौन्दर्य के लिए चाँद की उपमा प्रचलित थी। उधर चाँद के बारे में प्रायः सभी की जानकारी बेहतर हो गयी। अर्थात् चाँद की परिस्थिति बदल गयी, संवेदनाएँ बदल गयीं, तो रूप-तत्व अपने-आप बदल जायगा। इस बदलाव की पहचान पाठकों में अनिवार्यतः हो जायगी।

केदारजी : परिस्थितियाँ कितनी बदलती हैं। पढ़े-लिखे और विद्वान् आदमी की जरूर बदल जाती है, उनमें भी पूरी तरह से नहीं। देखिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण के उपलब्ध होने के बावजूद हिन्दुस्तान के हजारों लोग अभी भी फालतू की बातों में मशगूल रहते हैं। अभी भी वे चन्द्रमा को खूबसूरत कहते हैं। इतनी बातें सुनकर बच्चों के रागात्मक सम्बन्ध उसी तरह बन जाते हैं। जवान आदमी तो जैसे बदलना ही नहीं चाहता। इस तरह रूढ़िवादी परम्परा से लोग चिपके रहते हैं। कला का काम यही तो है कि वह लोगों की वस्तुओं के साथ सम्बन्धों का पता लगाये और नये-नये उदित होते सम्बन्धों की ओर उन्हें संक्रमित करे। यह काम एक झटके से या कुछ लोगों के फैसलों से नहीं होता।

क० प्र० : एक-एक चीज से अलग-अलग रागात्मक सम्बन्ध बदलते हैं या कुछ खास सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से रागात्मक सम्बन्धों में परिवर्तन आता है?

केदारजी : रागात्मक सम्बन्धों के बदलने की पहचान जनता से होती है। कवि जबरदस्ती नये सम्बन्ध जोड़कर रचना नहीं बनाता। उसे देखना चाहिए कि क्या वे परिस्थितियाँ हैं, जिनसे जनता नये सम्बन्ध महसूस करती है और हमारे जोड़ को यह स्वीकार कर लेगी। किसी कवि या लेखक का यह ध्येय तो नहीं हो सकता कि वह रूपक या उपमाओं की प्रदर्शनी लगाना चाहता है। असली बात तो यही रहेगी कि हमें कुछ बातें कहनी हैं। अपनी मानसिकता को दूसरों तक पहुँचाना है। इस ध्येय के लिए कवि उपमा का जादू नहीं पैदा करता। वह जो करेगा, अपनी

बात के जरिये ही करेगा। यह पाठक को गूँगा बनाकर नहीं बैठाता। वह पुराने से नये सम्बन्धों की ओर सामाजिक परिस्थितियों के साथ चलता है।

क० प्र० : गोर्की ने जिन्दगी के तमाम अनुभवों को जहाँ और जिससे सीखा—अपने कथ्य के विकास के लिए उस सबको उन्होंने मेरे प्रिय विश्वविद्यालय कहा है। जिन्दगी के अनुभवों को ही उसने इन्स्टीट्यूशन या विश्वविद्यालय कहा है। इसी तरह हिन्दी के कवि के लिए, उसकी कविता के विकास के लिए क्या जीवन के सीधे संघर्षों, अनिवार्यताओं, व्यापक धरातल की हलचलों से जुड़ने की जरूरत नहीं होती, इसके अलावा कथ्य का विकास और कैसे सम्भव है?

केदारजी : देखिये और सोचिये कि अपनी हिन्दी के कवि, छायावाद से अब तक रचनाकार का कैसा विकास हुआ है? जितने कवि हुए, उनकी जिन्दगी के माध्यम अथवा प्राथमिकताएँ क्या हैं? जहाँ तक गोर्की का सवाल है, वह साहित्य के माध्यम से नहीं आया। वह जिन्दगी की कविता करता रहा है। वह सीधे व्यापक जीवन के संघर्षों से जुड़ा रहा, अवगत रहा। हमारे यहाँ जो साहित्य है या लिखा जा रहा है, उसमें इसका अभाव है; इसीलिए ज्यादातर मध्यवर्गीय स्थितियाँ ही मिलती हैं उसमें। उसमें जन-जीवन नहीं मिलेगा, उसकी कला नहीं मिलेगी या काम नहीं मिलेगा। जो जितना जन-जीवन से निकलकर आता है, वह उतना ही संवेदनशील होता है गोर्की की तरह। मेरी धारणा यह है कि हमारे यहाँ भी जितना सचेत और जागरूक, संवेदनशील वह रचनाकार होता है, जो जनता से आया है, उतना कोई और नहीं। जैसे बाबा नागार्जुन का उदाहरण है। उनकी कविताओं में यही बातें मिलती हैं, जो जन-आंदोलन में उभरती हैं। वही प्रतीक, उपमान और मुहावरे प्रयोग करते हैं। अपने बारे में कहता हूँ कि मैं जीवन के माध्यम से नहीं, साहित्य के माध्यम से आया हूँ। फिर मैंने जीवन का साहित्य पहचाना और जीवन की पहचान मार्क्सवाद ने करायी। मार्क्सवाद ने ही बताया कि जीवन क्या है, उसका उद्देश्य क्या है? इसीलिए मेरी और बाबा की कविता में अन्तर होगा, यह हो ही जायेगा।

क० प्र० : साहित्य के माध्यम से आने पर वह खतरा क्या नहीं बना रहता कि कवि साहित्य में प्राप्त संवेदनाओं, वर्ग-विशेषताओं को जीवन में खोजता है; वही संवेदनाएँ उसमें विकसित होती रहती हैं, वह जीवन को उन्हीं के माध्यम से परिभाषित करता है। विशेषकर साहित्य की उस परम्परा के होने से, जो यथार्थ से कटी हो। इस उल्टे विकास में कवि रूपवादी हो जाता है। क्या यही कारण है कि

लोगों ने आपके रूपवादी होने का आरोप लगाया है? जहाँ तक मैं सोचता हूँ कि मार्क्सवादी कला की गम्भीरताओं को न समझने वाले लोग, यह आरोप लगाते हैं।

केदारजी : मुझे रूपवादी कहने वाले दो तरह के लोग हैं। पहले वे, जो अपेक्षा करते हैं कि मैं सक्रिय रूप से उनके आन्दोलन का अंग बन जाऊँ और गरमा-गरम राजनीति की कविताएँ लिखूँ। दूसरे वे लोग हैं, जो नासमझ हैं या हमें गिराना चाहते हैं। जो मार्क्सवादी कला को पराजित करना चाहते हैं। हमारे गैर समझदार लोग मुझे भी अज्ञेय की श्रेणी में फेंक देना चाहते हैं, ताकि मैं तुरन्त मर जाऊँ। यह षड्यंत्र है। भाई, हमें कला को श्रेष्ठ बनाये रखने के लिए इन सभी खतरों में सावधान रहना चाहिए।

क० प्र० : क्या मार्क्सवादी भी आप पर रूपवादी होने का आरोप लगाते हैं?

केदारजी : जरूर लगाते हैं? सोचिये कि रूपवादी आरोप लगाने के कारण क्या हैं? मेरी कविताएँ देखिये शुरू से लेकर—मैंने 'नींद के बादल' कविता लिखी। 'युग की गंगा' लिखी। कली पर लिखा, बबूल पर लिखा। किसान की धरती पर लिखी। क्या मेरी कविताएँ बुनियादी रूप से जमीन से जुड़ी हुई नहीं हैं। हाँ मेरी प्रवृत्ति यह जरूर रही है कि मैंने कविता के विषय के रूप में जो कुछ उठाया, उसे स्थायित्व देना चाहा। वह कथ्य और रूप को अभिन्न बनाने की कोशिश है। इसे रूपवादी नहीं कह सकते। रूपवाद तो एक कोरा तथ्यहीन बाजीगरी है, जिसका मेरी कविता से कोई मतलब नहीं। मेरी कविता का कथ्य हमेशा ऊपर-ऊपर बोलता है। रूपवादी रचना में रचनाकार का निजी अहं प्रधान रहता है। वह भाषा को लेकर आन्दोलन खड़ा करता है। मार्क्सवादी होने के बाद मैं रूपवादी हो ही नहीं सकता। यह तो पूरा आन्तरिक आपरेशन है। आपरेशन हो जाने पर रूपवाद कहाँ? मेरी मान्यता यह जरूर है कि कविता में यथार्थ के धरातल में छुए बगैर नहीं लिखना चाहिए। कोई नहीं छूता तो मैं छुऊँगा। मेरी ललक यह नहीं रहती कि कोई क्या कहेगा? मैं तो सोचता हूँ कि कोई ठोस उपलब्धि हाथ लगनी चाहिए। इससे हिन्दी-साहित्य समृद्ध होगा। यह जान लीजिए कि मार्क्सवाद की स्वीकृति मेरे लिए केवल विचारधारा के स्तर पर नहीं है, वह संवेदनाओं में घुल गया है। आरोप लगानेवालों पर मुझे सन्देह होने लगता है, उनकी समझ पर।

क० प्र० : एक बात बताइये, दुनिया के मार्क्सवादी कवियों में नेरूदा का नाम महत्वपूर्ण है। लोर्का, ज्यूलियस फ्यूजिक भी हैं। ये सीधी राजनीति से जुड़े रहे हैं। इस जुड़े होने के कारण ही इनकी कविता में तेज है, एक आक्रामक शक्ति है

और व्यवस्था को बदल डालने के लिए तेजस्वी भाषा इनके पास है। क्या इतना तेज होने के लिए कविता की इतनी पैनी भाषा के लिए सीधी राजनीति से जुड़ना जरूरी है, रचनाकार के लिए?

केदारजी : इन लोगों में, जीवन के ज्यादा निकट रचनाएँ पाब्लो नेरूदा ने की हैं। पहले उन्होंने अस्तित्ववादी कविताएँ कीं। तब जीवन को पकड़ने की दृष्टि उनकी मजबूत नहीं थी। वे धीरे-धीरे जनता के सामने आये, फरार हुए और यथार्थ के बिल्कुल पास आ गये। तब उन्होंने घोर राजनीतिक कविताएँ लिखी। विकास-क्रम में उनकी कविताओं में साफ अन्तर नजर आता है। शुरू की कविताएँ रोमान्स की भी थीं। जाहिर है कि वे भी सीधे जनता से नहीं, साहित्य से आये। उस समय जीवन के प्रति उनके स्पन्दन रोमाण्टिक होते थे। उनको इतना जटिल बनाकर लिखते थे कि वह आर्टिफिशियल हो जाता था। बाद में नेरूदा ने सीधी राजनीति पर ही सारी कविताएँ नहीं लिखीं। 'शब्दों' जैसे विषयों पर भी लिखा है। पार्टीवाले लोग उनकी केवल सीधी राजनीतिक चेतना की कविताओं को उछालते हैं। अनुवाद होते हैं, जनयुग में छपे हैं। उनकी सभी तरह की कविताएँ आयें, तो बात समझ में आये। मेरी कविताओं के गुण भी समझ में आयें। जरूरी नहीं कि कोई मार्क्सवादी अन्य तमाम विषयों पर न लिखे। यहाँ कोई ब्रह्मवाक्य नहीं होता। परिस्थितियों के अनुसार कविताएँ लिखी जाती हैं। कोई अन्तिम बात केवल मनवाने के लिए मत कहिये। मार्क्सवाद से जुड़ने पर देखिये कि वह कवि किस गहराई में जाता है? मायाकोव्सकी के साथ क्या हुआ—ठीक मेरी तरह। जैसे-जैसे उनकी समझ विकसित हुई, राजनीति से जुड़ते गये और तेज कविताएँ लिखीं। परिस्थितियों की जैसी माँग थी, वैसी रचनाएँ लिखीं। उनकी बहुत अच्छी कविताएँ वे भी हैं, जो सीधे राजनीति से नहीं जुड़तीं। यह तय है कि कविता राजनीति के प्रभाव ले सकती है, लेना चाहिए, लेगी ही। पर कविता राजनीति नहीं हो सकती। कविता का प्रभाव राजनीति के रूप में नहीं जुड़ता, वह कविता के रूप में ही पड़ता है। जैसे नदी हम जो बनाते हैं, वह दूसरी होती है नदी होकर भी, उसी तरह राजनीति जो हम बनायेंगे, वह दूसरी होगी, राजनीति होकर भी। राजनीति का काम है बाहरी व्यवस्था बदलना—आर्थिक, सामाजिक। कविता का काम है—सांस्कृतिक परिष्कार, पाठकों की मानसिकता बदलना। ठीक है कि दोनों में विरोध नहीं, पर दोनों के क्षेत्र तथा रूप (Form) अलग-अलग हैं। कविता की प्रशंसा अकेले कथ्य से नहीं की जाती, उसकी रचना से भी होती है।

क० प्र० : इस बीच में जैसे मानसिंह राही, रमेश रंजक, कन्हैया जी की तरह के कवि हैं, जिन्होंने सीधी राजनीतिक कविताएँ लिखीं हैं—बाबा ने भी, इनका भी जीवनदर्शन मार्क्सवाद है और उनकी कविताएँ प्रत्यक्ष रूप से जनता के बड़े हिस्से में प्रभाव डालती हैं, व्यवस्था-परिवर्तन में लगे उत्साही कार्यकर्ताओं को शक्ति मिलती है—इस प्रकार की कविताओं के बारे में आपकी क्या राय है?

केदारजी : मेरी समझ में ये जरूरी कविताएँ हैं, लिखी जानी चाहिए। मैं कहता हूँ कि जैसे रहीम के दोहे, गिरधर की कुण्डलियाँ या और भी नीति की कविताएँ जरूरी हैं, टिक सकती हैं, तो ये कविताएँ भी जरूरी हैं। जीवन का हर कोना प्रकाशित होना चाहिए। अगर आप आन्दोलन से जुड़े हैं, तो आन्दोलन से प्राप्त अनुभव और आन्दोलन को तीव्र करने के लिए कविताएँ लिखनी चाहिए। इसकी अनिवार्यता को मैं अस्वीकार नहीं करता। मेरी राय में तो ये कविताएँ सीधी शेर की खोपड़ी में निशाने की तरह बैठनी चाहिए—अचूक। ऐसे कवियों में भी गम्भीर समझ चाहिए। केवल हल्ला मचाने से कुछ नहीं होगा। कितने कवि ऐसे हैं, जो केवल शोर पैदा करते हैं। राजनीति का हल्ला-बिना मारक प्रभाव के किस काम का? यदि इस तरह की कविताएँ समझदारी के साथ प्रवेश करें, तो वे स्वागत योग्य हैं। मैं नहीं लिखा पाता, तो इसका अर्थ यह नहीं कि मैं ऐसी कविताओं की जरूरत से इन्कार करता हूँ। यह तो मानसिकता बनने की बात है, जिसकी जैसी बने, वह उसी तरह की कविताएँ लिखे—इस दिशा में।

क० प्र० : जनता की भावनाओं को विकृत करने में आज के कवि-सम्मेलन भी काफी हद तक उत्तरदायी हैं। मेरे विचार से सच्ची जनवादी कविता या विकल्प सामने आना चाहिए। उससे साधारण जनता की मानसिकता का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है?

केदारजी : यह सही है कि जनता निराला, प्रसाद और मुक्तिबोध को समझ नहीं सकती। वह मुझे भी नहीं समझती। इनकी बातें तो जाने दीजिये, अच्छी कविताएँ बच्चन की भी नहीं समझते। ऐसे लोगों से कलात्मक कविता की प्रेषणीयता की आशा नहीं कर सकते। जहाँ तक उनकी मानसिकता को बदलकर समृद्ध करने की बात है, तो भाई मुख्य बात यह है कि वह काम पार्टी का है। योजनाबद्ध तरीके से पार्टी को यह काम करना चाहिए। जनता को एक करना, आन्दोलित करना—यह सब वहीं से होना है। दुर्भाग्य यह है कि वह काम पार्टी नहीं कर रही है। जब हम लिखते हैं, तो पार्टी के लोग कहते हैं कि यह आपने क्या लिख दिया, जो पल्ले

नहीं पड़ता। जनता के लिए लिखने की माँग तो ठीक है, पर उसे संयोजित कौन करे, पार्टी ही न। मैं तो पार्टी को ही दोष दूँगा। उस जमाने में जैसे-जैसे आन्दोलन सक्रिय होता था, हम लोग उसे कविताओं के जरिये तीव्र करते थे। आंचलिक भाषाओं बुन्देली वगैरह में भी लिखते थे। बम्बई-आन्दोलन में ऐसा ही हुआ। पर आपका आन्दोलन मर गया, तो हम मर गये। मास एजुकेशन के लिए ऐसी रचनाएँ आवश्यक हैं, पर जान लीजिये कि रूस की क्रान्ति मायाकोव्की के कारण नहीं हुई। कोई कवि या इण्टलेक्चुअल चाहे वह लोर्का, पाब्लो नेरूदा, नाजिम हिकमत जो भी हों, चाहे जो कहें—क्रान्ति की अगुआई या संयोजन वे नहीं करते। आप आशा कर सकते हैं कि कवि राजनीतिक नेता हो गये। वह प्राइममिनिस्टर होकर अच्छी कविताएँ लिखें ऐसी कि चारों ओर फैले दुश्मन परास्त हो जायें। भाई जी कर्म का फार्म बदल जाता है। गति मस्तिष्क की दूसरी ओर मुड़ जाती है।

क० प्र० : साहित्य का काम क्या वर्ग-संघर्ष नहीं होता? वर्ग-साहित्य के प्रति आपकी क्या राय है?

केदारजी : वर्गभेदी समाज जहाँ है, वहाँ वर्ग-साहित्य आयेगा। जन-साहित्य उसके लिए होगा—जिन्हें सुधारना है, संगठित करना है, अधिकार बताना है और शोषक वर्ग से संघर्ष की तैयारी करनी है। साहित्य उन्हें भी प्रभावित करता है, तो सामाजिक संघर्ष के काम में सीधे जुड़े हैं। इससे उनकी भी गलत मानसिकता नहीं बनेगी।

क० प्र० : परम्परा काव्य में कभी-कभी कवि और सामाजिक कथ्य के बजाय रूढ़ियाँ और पौराणिक मिथ लोकप्रियता के आधार होते हैं। मसलन तुलसी के बारे में राम का कथ्य जो विभिन्न परम्पराओं, आख्यानों से प्रचारित है—इतना लोकप्रिय है कि तुलसी की कविता भी उसी में समा गयी। मैं यह नहीं मानता कि वह समूची लोकप्रियता कवि की है, उसमें से अधिकांश रूढ़ियों का है।

केदारजी : सही बात है। बहुत-सी बातें अन्धविश्वास से जुड़ी हुई हैं। लोग सोचते हैं कि राम का नाम लो उद्धार हो गया। कविता भी बन गयी और लोकप्रियता भी हो गयी।

क० प्र० : इसी से एक बात पैदा होती है, वह यह कि रचना में व्यक्ति की भूमिका, जिसे आप रचनाकार की भूमिका कहेंगे, अपनी दृष्टि में कितनी महत्वपूर्ण है?

केदारजी : रचना करने वाले व्यक्तित्व की भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण होती है। रचनाकार ने यदि अपने व्यक्तित्व को समाज से प्रभावित होकर बनाया है, उसके

पास सही जीवन दृष्टिकोण है, उनका व्यक्तित्व संस्कारित (Cultivated) होगा। उसका विश्लेषण और संश्लेषण वस्तुपरक और प्रखर होगा। वह ऐसे रूपक बाँधेगा, जिससे वस्तुसंसार प्रभावित होगा। विश्लेषण-संश्लेषण की भूमिका व्यक्ति की ही है। व्यक्ति में वस्तुवत्ता और आत्मवत्ता दोनों का द्रन्द्र होता है। कभी-कभी रचना में बाहर की वस्तु बहुत प्रभावित करती है और आत्मवत्ता नीचे रहती है। वह ऊपर नहीं आ पाती। कभी यह होता है कि आपका व्यक्तित्व (आत्मपरकता से मतलब) इतना अधिक होता है कि उसमें वस्तुवत्ता नहीं रहती। हमें देखना यह है कि जो क्रियावान् हुआ है—उसमें मुख्य स्थिति कहाँ व्यक्त हुई हैं? हमने जो वस्तुवत्ता तैयार की है, वह कहाँ तक रूपायित हुई है। यह वस्तुवत्ता गलत है या ठीक, खराब है या उपयोगी, नैतिक है या अनैतिक, दूसरों के हित की है या नहीं, राष्ट्रीय है या अन्तर्राष्ट्रीय, जो कुछ है वह व्यक्त कैसे हुई है? वस्तुवत्ता की प्रासंगिकता की पड़ताल आत्मपरक चीज है, यदि वह ठीक नहीं हुई है तो मतलब हुआ कि आपकी मानसिकता ठीक नहीं है, आपके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का निर्माण अधूरा है। कविता का मुख्य लक्ष्य यही होता है कि तैयार वस्तुवत्ता की अभिव्यक्ति कैसी हो? कैसे हो? यह आत्मपरकता और वस्तुपरकता का द्रन्द्र ही रचना-धर्म है। यहीं व्यक्ति महत्वपूर्ण है। कह सकते हैं कि व्यक्ति एक नयी सृष्टि करता है। यह भारी काम है—एकदम दूसरी चीज बनाकर दे देना। उसका बनाने वाला माध्यम सक्रिय और चेतन माध्यम है। जड़ माध्यम नहीं है, इसमें खतरा वहाँ है, जहाँ व्यक्ति कथ्य पर हावी होना चाहता है। ऐसा व्यक्ति निरर्थक और बेकार हो जाता है।

क० प्र० : अपने युग की रचना और आलोचना के प्रत्यक्षदर्शी के नाते दोनों कर्मियों के लिए क्या दो-चार बातें कहना चाहेंगे?

केदारजी : मैं समझता हूँ कि ये दोनों कर्म गम्भीर अपेक्षाओं के हैं। दोनों के काम अलग-अलग हैं। रचनाकार जो है, वह नयी सृष्टि आपको देता है। वह आपके हाथों में अपनी सृष्टि सौंपते हुए आशा करता है कि आप उसे ठीक से पहचानें—लगभग उसी तरह। वह सोचता है कि जैसे उसने अनुभव किया है, प्रतीत किया है, वैसे ही दूसरा उससे ग्रहण करे। आलोचक को उसे एक पाठक की तरह एनालाइज करना चाहिए। और तब उसकी कमजोरियाँ देखनी चाहिए। रचनाकार जब रचनाकार होता है और एक महीने बाद भी कुछ समय बाद उसे पढ़ता है तो वह भी आलोचक हो जाता है रचना का। यहाँ रचनाकार और आलोचक एक

धरातल पर आ जाते हैं। रचनाकार भी अपनी अपनी रचना की आलोचना कर सकता है और आलोचक तो करेगा ही। शिकायत पेशेवर आलोचकों से होती है या विश्वविद्यालयीय आलोचकों से, जिनका काम ही होता है, कायदों के अनुसार आलोचना करना। वे आलोचक परिस्थितियों के परिवर्तन को न तो पहचानते हैं और न ही पचाते हैं; वे बने-बनाये कायदों से सर्टीफिकेट बाँटते हैं। ये मृत सिद्धान्तों के बल पर चलते हैं। कविता की आलोचना उस समय होती है, जब वह सुनायी जाती या जब वह छपती है। यदि रचना अच्छी है, तो आलोचक को उसे स्वीकार करना होगा। उसे लाभ यह है कि जिस तरह संघर्ष करके रचनाकार ने रचना बनायी है, उसे बिना संघर्ष के मिल जायेगी।

क० प्र० : लेकिन कविता को समझने के लिए अपनी आलोचना के फार्म में उसे उतना ही संघर्ष करना पड़ेगा या उससे ज्यादा?

केदारजी : आलोचक जीवन के संघर्ष, रचना के संघर्ष और आलोचना के संघर्ष से जूझेगा जरूर। वह रचना को, दूसरों को समझाने के लिए संघर्ष करेगा। आलोचक का काम रचना को खुद ही भर समझ लेना तो है नहीं। वह रचना को बोधगम्य बनाता है। वह तमाम आदमियों को रचना के सत्य से परिचित कराता है। उसका काम कैरियर रायटिंग से नहीं चल सकता। उसे निर्भय होकर कथ्य और शिल्प की बारीकियाँ पहचाननी होती हैं। उन्हें ही दूसरों को पहचान कराना होता है। वह पहचान सामाजिक और दार्शनिक दृष्टिकोण से होगी। रचनाकार कहाँ गलत है—यह बात उसकी समझ में तभी आयेगी। आलोचक में रचनात्मक संवेदना होनी चाहिए। यदि भूल के कारण रचनाकार प्रतिगामी विचारों की ओर झुक गया है, तो उसे समझाना चाहिए। स्वयं मार्क्स कवियों के साथ इस तरह की सहानुभूति रखने में हिमायती थे।

क० प्र० : हिन्दी में आप दो-चार आलोचक बता सकेंगे, जिनको आप रचना के सही पाठक कह सकें और जिन्होंने रचना के साथ ऐसा सम्बन्ध कायम किया हो, जिससे आलोचना के ठीक विकास में मदद मिली हो।

केदारजी : मेरे सम्बन्ध ज्यादातर रामविलास जी से ही थे। मैं उन्हें रचना और समीक्षा का विद्वान् समझता था। वे गलती भी करते थे, पर उनका लक्ष्य साफ था—जनता का हित। उनकी गलती इस तरह की थी कि जैसे किसान खेत की जुताई, निराई, खाद, पानी की गलती को हर बार ठीक करता है और खेती का काम करता है। उसके लक्ष्य में खोट नहीं होती। दूसरे अच्छे आलोचक नामवर

जी थे—उनके बारे में क्या कहूँ? वे भी उन चीजों से जुड़े, जिनसे नहीं जुड़ना चाहिए। उन्होंने श्रीकान्त वर्मा जैसे कवियों को उछाला और हम लोगों पर बातचीत नहीं की।

क० प्र० : एक अतिरिक्त प्रश्न-इधर 60 के बाद जो प्रगतिशील कविता लिखी जा रही है, नये-नये कवि उभरकर सामने आये हैं, उनकी कविताओं को देखते हुए भविष्य के बारे में कोई बात कहेंगे?

केदारजी : हम लोगों के बाद जो नये कवि आ रहे हैं, उनमें से कुछ जरूर प्रतिभाशाली हैं। पर ज्यादातर ऐसे हैं, जो अनुभव को विस्तार नहीं देते। एक भीड़ की मानसिकता होती जा रही है, नयापन कुछ नहीं। वे टिकाऊ नहीं हो सकते। उनकी बड़ी क्रान्तिकारी टाइप रचनाएँ बन जाती हैं। वैसे चिन्ता की बात नहीं है। अच्छे कवि भी आ रहे हैं। वे कविता को खत्म होने से न केवल बचा रहे हैं, वरन् उसे ताजगी दे रहे हैं। उनको पढ़कर खुशी होती है। नये बोध और नये प्रयोग से कविता भरी जा रही है। कविता का भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल है।